आरण्यक

(बंगला भाषा का उत्कृष्टतम उपन्यास)

लेखक

विभूतिभूषण वन्द्योपाध्याय

अनुवादक

श्री हंसकुमार तिवारी

भूमिका

डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी

साहित्य अकादेमी की ओर से

भारती-भण्डार, प्रयाग

परिचय

विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' बँगला और भारतीय साहित्य के उन नन्हे ग्रंथो मे है, जो महान् है। और इनमे ही क्यो, किसी भी साहित्य मे इसकी मर्यादा यही होगी। यह गद्य प्रगीत है, वन की गीति का काव्य। मानव-पुत्रों के वर्धमान कुल-परिवार को जगह देने के लिए अहल्या वनराजि का उच्छेद होता जा रहा है। इसी उच्छेद की पटभूमि पर लेखक ने सहानुभूति के साथ, तथा बरबस लोहा मनवा लेने वाली सचाई के साथ वन एव आदिम ग्राम के प्रतिवेश मे मानव का चित्र अंकित किया है। इस तरह 'आरण्यक' एक ऐसी कविता है, जिसका विषय प्रकृति भी है और मनुष्य भी, और जो दोनों की ही परम मनोहर छवि उपस्थित करती है। इस छवि का आधार ज्ञान एवं सह-सवेदन, दोनों है।

बँगला साहित्य मे विभूतिभूषण वद्योपाध्याय निचले बगाल की सदा दूवो-पूतो हरी-भरी एव सदा-बहुरंगी प्रकृति की गोद में फुदकने ग्राम-जीवन को अभिव्यक्ति देने वाले के रूप मे भली भाति प्रख्यात है। आजकल प्रकृति के प्रेमियो का कोई अभाव नही है। विशेष करके ऐसी अवस्था मे जब सभ्यता के क्रम-क्रम से अग्रसर हो रहे चरण हर कही प्रकृति माता के पुण्य प्रकोष्ठों पर चढते चले जा रहे है, जब वन्य परिवेश मे नग-जडे से पेड़-पौधो, जंगल-झाड़ों, खुले मैदानों, डूँगरों-पहाडो, सोतो-झरनों और नद-नदियो के साथ हमारे मार्मिक और घनिष्ठ सपर्क टूटते जा रहे है। प्रकृति के प्रति आकर्षण का अनुभव हम इसलिए करते है कि बडे-बडे नगरो के दमघोट वातावरण से हम छुटकारा पाना चाहते है, दम भर की राहत चाहते है।

पर विभूतिभूषण वद्योपाध्याय की रचनाओ मे केवल इतना ही नही है। कुछ और है। और वह कुछ-और ऐसा कुछ है जो हमारे मानस

की गहराइयों मे उतरकर हमे जगा देता है तथा अपने ही अन्तर मे प्रकृति की आत्मा की एक झिलमिल-झिलमिल-सी अनुभूति करा देता है। वह पेड़ों-पौधों के, फलों-फूलों के, जड़ी-बूटियों के तथा वन्य जीवन के प्रेमी तो हैं ही, उनके पारखी भी हैं। पर उनकी निरख-परख क़ैंची और ख़ुर्द-बीन वाले वनस्पति-शास्त्री की नहीं बल्कि उस व्यावहारिक मानव की है, जिसके लिए पत्तों और टहनियों में, फूलो और फलों मे, पेड़ो और पौधों मे भी कोई संदेश है, उनका अपना-अपना कोई व्यक्तित्व भी है, कोई नाम-धाम भी है। जंगल और जंगल के वृक्षों के लिए उनका उत्साह संक्रामक है तथा उनकी लिखी इस महान् पुस्तक को पढ़ने के बाद पाठक के प्राण इनकी असंभवानुकृति प्राकृतिक पृष्ठभूमि और परिवेश से उच्छल हो-हो उठते है।

कथा या वर्णन तो इस पुस्तक मे नाम-मात्र को ही है। कथानक के नाम पर एक अत्यन्त सुसंस्कृत बंगाली युवक स्नातक के अनुभव मात्र है। युवक किसी शिक्षणालय मे शिक्षक था। रोजी गँवाकर कलकत्ता जैसे बे-आसरा शहर में चारो ओर से निरस्त-परास्त होकर मारा-मारा फिर रहा था। सौभाग्य-संयोग से उसे छात्र-जीवन के एक ऐसे साथी से भेंट हो गई, जो उसकी साहित्यिक सूझ-बूझ का प्रशंसक था। इस भेंट के फल-स्वरूप उसे किसी ज़मीदार के कारिंदे का पद मिल गया। काम उस ज़मी-दार के एक जंगल को साफ करवाकर खेती और चराई के लिए किसानों के हाथों ज़मीन की बंदोबस्ती करने का था। कथानायक अपनी कहानी आप ही कहता है। इस काम के सिलसिले मे वह बंगाल की सीमा से सटे उत्तर बिहार की एक अहल्या वनभूमि के छोर पर आ रहता है। जंगल को काट या जलाकर नौतोड़ खेती करने या दूर-दूर के शहरों में भेजने को वन-जात पैदावारें निकालने या तराई के जंगलों में छाँह-तले उपज-उपज पटी अंबोह घास में ढोर चराने के लिए रैयतों को ज़मीन उठाने की प्रक्रिया मे उसे स्वयं ही जंगल के एक बड़े खित्ते को उजाड़ना पड़ जाता है। जिसे उसने प्यार करना सीखा था, उसे उजाड़ने का दायित्व उसी पर आ पड़ता है!

बड़े विशाल पैमाने पर हो रहे इस वनघात की कहानी के नलदेश में गहरी करुण विषाद-भावना की एक फल्गुधारा निरन्तर बहती रहती है। लेखक इस दु:खांत अनुभूति मे हमें भी अपना सहभागी बनाये चलता है। पर अपनी पुस्तक के इन २८७ पृष्ठों मे उसने एक अहल्या अरण्यानी की समस्त गरिमा, समस्त शोभा और कोमलता के, तथा साथ ही उसकी वीरानगी और आतंक-वितंक के अत्यन्त ही अद्भुत शब्दचित्र दिए हैं। वह दूर कलकत्ता मे रहने वाले बड़े जमीदार का प्रतिनिधि है, और इस हैसियत से उसके पास जमीन के भूखे लोगों के जो दल आते रहते हैं, वे नितान्त दरिद्र और नितान्त विनीत है। पर इस दयनीय दरिद्रता मे उन्होने एक ऐसे जीवन-दर्शन की उपलब्धि कर ली है, जो उन्हें ऊपर से हताश-हताश्वास लगने वाली आर्थिक स्थिति से भी अधिकाधिक सुख-संभावनाएँ निचोड़ लेने की योग्यता प्रदान करती है तथा इस तरह दरिद्रता और दुखभोग और असाध्य भुखमरी तक के डंक को निर्विष कर देती है। नये खेतिहरों के हाथ जमीन की बंदोबस्ती करने में उसकी सहायता करने के लिए जमीदार द्वारा भेजे गए कर्मचारी हों, या स्वयं वे भावी खेतिहर हों जिन्हें जमीन लेनी है, या फिर अपेक्षाकृत निम्नतर वर्गो के वे लोग ही क्यों न हों, जो वनभूमि के बड़े-बड़े टुकड़े काट-काट कर खेत बनाने अथवा गाँव बसाने के काम में लगी उस फूलती-फैलती बस्ती के लाव-लश्कर के अनिवार्य अंग बने, मतलब यह कि इतनी विविध भाँति के जो भी चरित्र उसके चौगिर्द आ जुडे, सबको उसने कुछ ऐसी अन्तर्दृष्टि के साथ चित्रित किया है कि दाद दिए बिना रहा नहीं जा सकता। चित्रण मे चरित्र की पैनी परख तो है ही, मनुष्य को मनुष्य के रूप मे प्यार करने की एक ऐसी भावना भी है जो निष्कपट और दृढविश्वासी है।

कहानी के दौरान में जिन विविध चरित्रों से हमारी खासी जान-पहचान हो जाती है, वे सब-के-सब जीवंत व्यक्तित्व है। शहरों से दूर होने के कारण उन सभी के अन्दर सामान्यतः एक ऐसी सादगी और ईमानदारी है, जो आदिम मानव मे ही पाई जाती है। देहातों में, जंगल के

किनारे या बीच जंगल मे रहने वाले भारतवासी नर-नारियों के छायापथ मे इन विविध चरित्रो मे से प्रत्येक चरित्र एक-एक नये सितारे की वृद्धि करता है। राजू पाडे एक सीधा-सादा वृद्ध ब्राह्मण है। उसके जीवन का एकमात्र आनन्द तुलसीदास की रामायण पढना है। घतुरिया लडका है, नाचने की कला का सच्चा कलाकार। विधवा कुना अपने दीन-हीन दयनीय परिवेश मे भी अद्भुत साहस और सेवाभाव का परिचय देती है। युगलप्रसाद एक सच्चा वनस्पति-शास्त्री है, जो सुन्दर फूलों और विलक्षण पौधो को प्यार करता है। बिहार के उस देहात के बगाली डाक्टर की यतीम लडकी अपने परिवेश के कारण लगभग किसान-कन्या ही बन चुकी है। गरीबी और परिस्थितियों के दबाव ने उसे खट-खट कर खप मरने के अभिशप्त जीवन मे बाँध रखा है। पूर्णतर जीवन की एक धुँधली-धुँधली-सी समझ तो उसे है, पर उसकी कोई आशा नहीं है। स्कूल-मास्टर गनौरी निवारी एक प्रारंभिक पाठशाला खोलने के चक्कर मे बस्ती-बस्ती भटकता रहता है। बिहारी देहात का कवि शुद्ध व्याकरण-सम्मत हिन्दी में कविता लिखता है, और इसके लिए स्थानीय हिन्दी-पत्रिका के संपादक की प्रशसा प्राप्त कर चुका है। उसके रग-ढंग कितने सीधे-सादे है! उसकी हृदयहारिणी पत्नी भी उस-जैसी ही सरल और सूधी है। गाँव का सूद-खोर महाजन धौस, धुप्पस और भभकी के बल पर काम चलाता है और बर्बर मालदारी की एक ऐसी जिन्दगी बिताता है, जिसमे कही कोई रस नहीं है, कही कोई आकर्षण नहीं है। यह चरित्र ही ऐसा है जो कभी किसी का भी प्यार नही पा सकता। मुनेश्वरसिंह पूरा सिपाही है। मटुकनाथ पडित दिन-रात इसी चिन्ता मे घुलता रहता है कि किसी तरह एक संस्कृत पाठशाला खुल जाय तो कुछेक लडके देववाणी मे दीक्षित किये जा सके। बूढे आदिवासी सरदार दोबरू पन्ना मे असली राजसी आन-बान और शान झलकती है। उसकी परपोती भानुमती का चित्रण लेखक ने ऐसी चरम सहानुभूति और भावभीनी पैठ के साथ किया है कि कोई भी पाठक इस आदिवासी युवती के चौगिर्द फैली रोमास-भावना से

प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। उसकी याद आते ही हर पाठक के दिल मे एक मीठी-मीठी सी टीस उठने लगेगी।—इन सभी चरित्रों का समुदाय मानो जीती-जागती छवियों की कोई चित्रशाला हो! ये सब भी सचाई की ठीक वैसी ही प्रतिकृतियाँ हैं, जैसी कि उन पेड-पौधो, फूल-पत्तियों, पहाडी झरनों, ऊँची-ऊँची उपजी अबोह घासों और नीले आसमानों के चित्र, जिनके बीच कि ये लोग रहते हैं।

भारतीय साहित्य मे परम्परा युगों पुरानी है। वेद-काल से अब तक भारतीय विश्व-दर्शन—व्हेल्तेनशाउउग—का क्रम कभी टूटा नहीं है। विभूतिभूषण के 'आरण्यक' का मेल ऋग्वेद के दसवें अध्याय में इरम्मद-पुत्र देवमुनि रचित उन ऋचाओ—१४६ वे सूक्त—से ख़ूब बैठता है, जो वनो की आत्मा—अरण्यानी—की विरुदावली के रूप मे निवेदित की गई है। यह सूक्त वेदकाल के उस आदिम ग्राम का चित्र उपस्थित करता है, जो किसी आदिकालीन जंगल के किनारे बसा है। इन ऋचाओं मे चिड़ियों की चहकारों, पेड़ों की छाँहों, पेड़ों पर पडती कुल्हाडियों की ठकाठक चोटों तथा वनदेश की रहस्यमयता और रोमास आदि जिन विषयों की चर्चा है, उन सब की गूंज विभूतिभूषण वद्योपाध्याय के 'आरण्यक' मे सुनाई पडती है। वेद के ऋषि ने अपना सूक्त इस प्रार्थना के साथ समाप्त किया है :

अंजनगंधिं सुरभिम् बह्वन्नाम् अकृषीवलाम्।
प्र अहम् मृगाणाम् मातरम् अरण्यानीं अशंसिषम्॥

(अजन सी गंधवाली, सौरभ से भरी, बिना जोते-बोये ही प्रचुर अन्न देनेवाली, और वन्य जंतुओं की माता अरण्यानी की मै प्रशंसा करता हूँ।)

भारतीय मानव ने अपने को जिस परिवेश मे पाया, उस—आदि-कालीन भारतीय वनो के परिवेश-प्रतिवेश—से उसे प्यार हो गया। वेदों में इसकी प्रचुर चर्चा है। अथर्ववेद का पृथ्वीसूक्त वनभूमि और कृषिभूमि की अपनी पैदावारो के द्वारा सभी का भरण करने वाली विश्वं-

भरा पृथ्वी के प्रति प्रेम की व्यंजनाओं से ओतप्रोत है । महाभारत के बहु-लाश की पृष्ठभूमि वन-प्रदेश ही है । रामायण का भी यही हाल है । यह उन पुराचीन दिनो के वीर पुरुप तथा शाश्वत अहल्या वनभूमि, दोनो का ही एक महान् महाकाव्य है । बाणभट्ट के उस अत्युच्च आभिजात्य-पूर्ण मस्कृत रोमास 'हर्पचरित' मे सातवे अध्याय के अन्त की ओर भारतीय साहित्य का यह महान् शब्द-चित्रकार केन्द्रीय भारत के विन्ध्याचल पहाडो की जंगली बस्ती का परम प्रोज्ज्वल वर्णन उपस्थित करता है । सातवी शती के उस उत्तर-भारतीय संस्कृत लेखक की रचना के इस मनोहर प्रकरण के अनुशीलन के बाद बीसवी शती के बंगाल के आधुनिक लेखक की कृति 'आरण्यक' को पढ़ने मे और भी अधिक रस मिलता है तथा उसका समझना और भी सरलतर हो उठता है ।

धरती माता का सान्निध्य ही मानव का प्राकृतिक परिवेश है । इसी परिवेश मे मानव का अध्ययन करने मे आनन्द पाने वालों को भारतीय साहित्य मे प्रकृति के स्थान का विषय बहुत ही रोचक प्रतीत होगा । जान पड़ता है कि भारतीय मानव ने सदा ही अपने आपको विश्व के अन्य भागों के वासियो की अपेक्षा प्रकृति के निकटतर माना है । प्रारम्भिक दिनों की भारतीय कला मे तथा युगो-युगो के भारतीय साहित्य में इसका निदर्शन प्रचुर परिमाण मे मिलता है । भारत के व्यतिरेक मे उसके पडोसी चीन ने बहुत प्रारम्भिक काल में ही प्रकृति के प्रति एक निर्लेप-भावना-सी विकसित कर ली थी । तभी से प्रकृति के मबध मे चीन की दृष्टिभगी आभिजात्य रीतिग्रस्तता से कृत्रिम रही है । साथ ही, यह भी मानना पड़ेगा कि यह दृष्टिभंगी अत्यन्त ही सुसंस्कृत रही है । बहुत-कुछ वैमी ही, जैसी सुसंस्कृतता कि आधुनिक मानव की विशिष्टता मानी जाती है । अन्तर्मुखीनता के विकास तथा नगरो मे सिमटे मानव के आवासो के वन से विच्छिन्न हो उठने के कारण यह दृष्टिभंगी आजकल के नर-नारी के लिए नितात प्रसम हो चली है । विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय का 'आरण्यक' इन दोनों ही प्रवृत्तियों के समन्वय का प्रतीक है । वह प्रकृति की परि-

सीमा मे सर्वात्मना जमे है । सच पूछिए तो लगभग उसके अग ही बन गये है । पर साथ ही, वह अपने आपको प्रकृति से निर्लिप्त कर लेने मे भी समर्थ है, तटस्थ होकर उसकी रमणीकता, उसके ऐश्वर्य तथा उसके सर्वाच्छन्नकारी पहलुओ पर मनन करने मे तथा फिर भी उससे अप्रभावित रह सकने में समर्थ हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृति के प्रति उनकी दृष्टिभंगी मानव की सर्वग्रासी आवश्यकताओं के आगे प्रकृति और उसके अंगभूत जंगलों के पराभूत किये जाने पर गहन विषाद की दृष्टिभंगी है । जहाँ कभी आदिकालीन जंगल का ही एकछत्र राज्य था, वहाँ मानव की फूलती-फैलती बस्तियो की स्थापना करके धरती का मुखड़ा ही बदल डालने वाले अपने श्रमकृत्यों की उस लीलास्थली से विदा होते समय वह मन-ही-मन इन चिन्तनों में पड जाते है :

"नाढ़ा बैहार पार हो गया, तो पालकी से गर्दन निकाल कर एक बार उलट कर देखा।

बहुतेरी बस्तियाँ, लोगो की बातचीत, बच्चो की हँसी-किलकारी, चीख-पुकार, गाय-भैंस, फसल के गोले। छै-सात साल मे घने जगल को काटकर यह हँसता हुआ, हरा-भरा जनपद मैंने ही बसाया है। सब कल यही कह रहे थे—'आपके काम को देखकर हम लोग भी दंग हो गए है बाबूजी, नाढा और लवटोलिया क्या था और क्या हो गया।'

मै भी यही सोचता चला—'नाढ़ा लवटोलिया क्या था और क्या हो गया।'

दिगत मे खोए हुए महालिखारूप पहाड़ और मोहनपुरा जंगल को मैंने दूर से नमस्कार किया—

'हे वन के आदिम देवताओ, मुझे क्षमा करना। विदा!'"

वन एव देहाती बस्तियों की आत्मा को यह कृति हमारे आगे साक्षात् ला खड़ा करती है और हमें प्रकृति तथा मानव दोनो को प्यार करना सिखलाती है । इस दृष्टि से बडी ही उच्च कोटि के सृजनात्मक साहित्य के रूप

में इसका जो मूल्य है, सो तो है ही, उसके अतिरिक्त इसका एक और भी महत्त्व है। प्रकृति को अपनी सेवा मे लगानेवाला तथा अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए धरती का दृश्यमान स्वरूप बदल डालनेवाला मनुष्य मानव की सबसे विशिष्ट स्थितियो का प्रतिनिधित्व करता है। अपनी इन विशिष्टतम स्थितियो के बीच मानव के बहुरूपदर्शी चल-शोभापट का यह कृति एक सच्चा लेख्य भी है। बिहार के बगाल से सटे एक कोने मे प्रकृति मानव के अनिवार्य आक्रमण के फलस्वरूप धीरे-धीरे पीछे हटती जा रही है। उस कोने के जीवन की एक अवस्था-विशेष के ताज़ा और सच्चे चित्र के रूप में, जन-मानस को प्रसन्न एव भावाकुल करने वाले अमूल्य अभिलेख के रूप मे, यह पुस्तक सदा अद्वितीय बनी रहेगी।

आशा है, साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित अनुवादो के माध्यम मे भारत की विविध भाषाओं के पाठक इस महान् साहित्यिक सृष्टि का आस्वादन कर सकेंगे। इन पक्तियों के लेखक की तरह वे भी इसे एक बार पढ़ लेने पर फिर इससे नाता तोड़ लेने मे कदापि समर्थ न होंगे।

त्रिचूर, केरल
२० फरवरी १९५७

सुनीतिकुमार चटर्जी

जहाँ मनुष्यों की आबादी है, उसके पास कहीं घना जंगल नहीं है। जंगल है बहुत दूर, जहाँ गिरे हुए पके जंबुफल की गंध से गोदावरी-तट की हवा भाराक्रांत हो उठती है। 'आरण्यक' उसी कल्पना-लोक का विवरण है। यह भ्रमण-वृत्तांत नहीं है, न ही डायरी है—यह उपन्यास है। अभिधान में लिखा है—उपन्यास के मानी हैं गढ़ी हुई कहानी। हम अभिधानकार की बात को मान लेने को विवश हैं; लेकिन 'आरण्यक' की पृष्ठभूमि बिलकुल कपोल-कल्पित नहीं है। कोसी नदी के उस पार ऐसे दिगंत-विस्तृत प्रांतर पहले थे, आज भी हैं। और, दक्खिन भागलपुर तथा गया के जंगल-पहाड़ तो प्रसिद्ध ही हैं।

प्रस्तावना

सारे दिन दफ्तर की जीतोड़ मेहनत के बाद शाम को मैं गढ़ के मैदान में किले से सटकर बैठा था।

पास ही था बादाम का एक पेड़। चुपचाप जरा देर उस पेड़ के सामने किले के पास की लहरों के समान आँकी-बाँकी जमीन को जरा देखा। अचानक ऐसा लगा, जैसे मैं लवटोलिया के उत्तरी सरस्वती-कुंड के किनारे शाम को बैठा हूँ। दूसरे ही क्षण पलासी गेट की राह में मोटर का भोंपू बज उठा।

बात बहुत दिनों की है; पर ऐसा लगता है, जैसे कल की ही हो।

कलकत्ता के इस कर्म-कोलाहल में डूबे रहकर जब लवटोलिया बैहार या आजमाबाद के उस जंगली भूभाग, उस चाँदनी, स्तब्ध अँधेरी रात, धू-धू करते हुए कसाल और झाऊ के जंगलों, क्षितिज में खोई पर्वत-पंक्तियों, गहरी रात में दौड़ती हुई नीलगायों के पैरों की आवाजों, तपी दोपहरी में सरस्वती-कुंड के किनारे प्यासे जंगली भैंसों, उस अपूर्व और अनोखे शिला-खंड वाले प्रांतर में रंग-बिरंगे वनफूलों की शोभा और रक्तपलाश के खिले जंगलों की बात आज सोचता हूँ, तो ऐसा लगता है कि जैसे किसी छुट्टी के दिन साँझ को निंदियारी हालत में मानो एक सौंदर्य-भरे जगत् का सपना देखा था, वैसा जगत् इस संसार में कहीं नहीं है।

और केवल वन-जंगल ही नहीं, कितने ही प्रकार के मनुष्य देखे थे।

कुंता . . . मुसम्मात कुंता की बात याद हो आती है। मानो आज भी वह गरीबिन सुंगठिया बैहार के बेर-वन से अपने बच्चों के लिए बेर बीन-बीनकर घर-गिरस्ती चलाने में व्यस्त है। अथवा जाड़े की चाँदनी रातों में मेरी जूठन के आसरे आजमाबाद की कचहरी के अहाते में एक-तरफ, कुएँ के पास खड़ी है।

धतुरिया की याद आती—नर्तक-बालक धतुरिया · · · !

दक्खिन में अकाल पड़ा था, सो नाच-गाकर अपनी रोटी कमाने के लिए धतुरिया आया था लवटोलिया के उन जन-विरल जंगली गाँवों में · · · माढ़ा और गुड़ मिलने पर उसके होंठों पर खुशी की हँसी कैसी निखरती ! घुँघराले बाल, बड़ी-बड़ी आँखें, कुछ-कुछ औरतों-जैसी भाव-भंगी—तेरह-चौदह साल का खूबसूरत-सा लड़का। उसके न बाप था, न माँ थी—दुनिया में अपना कहने को कोई नहीं था—इसीलिए उस छोटी उम्र मे उसे आप अपनी रोटी की फिक्र करनी पड़ती थी. . . समय के बहाव मे कहाँ बह गया वह ! और, महाजन धौताल साहू याद आता . . .जैसे मेरे फूँस वाले बँगले के कोने में बैठा सरौते से सुपारियाँ काट रहा है। घने जंगल में अपने झोंपड़े के पास बैठा बेचारा राजू पाँडे अपनी तीन भैंसों को चराता हुआ गा रहा है—

'दया होईजी . . .'

महालिखारूप पहाड़ की तराई में वसंत उतर आया है। लवटोलिया बैहार में जहाँ देखो, पीले फूलों का मेला-सा लग गया है। धूप से जला दुपहरिया का ताँबे-जैसा आसमान बालू के तूफान से धुँधला हो गया है। रात को महालिखारूप में जगमग अग्निमालिका—सखुए के जंगल में लोगों ने आग लगा दी है। कितने ही गरीब बच्चों, नर-नारियों, न जाने कैसे-कैसे खूँखार महाजनों, गवैयों, लकड़हारों और भिखमंगों की अजीब जीवन-यात्रा से परिचय हुआ ! अपने बंगले में बैठा-बैठा रात को शिकारियों के अजीबो-गरीब किस्से सुनता—जिन्होंने मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट में जंगली भैंसों को फँसाने की ताक में भैंसों के देवता, विराट्काय देवता को देखा था।

इन्हीं की बातें मुझे कहनी है। संसार में जिस रास्ते पर सभ्य मनुष्यों का आवागमन कम है, उस रास्ते से न जाने कितनी ही अद्भुत जीवन-धाराएँ अजाने चट्टान-कगारों के बीच से चुपचाप बहती हैं, उनकी स्मृतियाँ आज भी नहीं भूल सका।

मगर अपनी यह स्मृति आनंद की नहीं, दुःख की है। स्वच्छंद प्रकृति की वह लीला-भूमि मेरे ही हाथों विनष्ट हुई। मैं जानता हूँ कि इसके लिए वन-देवता मुझे कभी माफ न करेंगे। सुना है, अपने से अपने अपराध की बात कहने से उसका भार थोड़ा हल्का होता है।

इस कहानी की अवतारणा इसीलिए हुई है।

पहला परिच्छेद

[एक]

बात पंद्रह-सोलह साल पहले की है। बी० ए० पास करके कलकत्ता में बेकार बैठा था। खाक तो बहुत जगहों की छानी, फिर भी कोई नौकरी नहीं नसीब हुई।

सरस्वती-पूजा का दिन। मेस में चूँकि बहुत दिनों से रह रहा था, इसलिए वे निकाल तो नहीं सकते थे, मगर मारे तकाजों के मैनेजर ने नाक में दम कर रखा था। मेस में सरस्वती की प्रतिमा बिठाई गई थी। धूम-धाम भी कुछ बुरी नहीं हो रही थी। सुबह उठकर मैं सोचने लगा, आज तो सब जगह छुट्टी है। एकाध जगह कुछ उम्मीद भी थी, तो आज तो कहीं भी कुछ होने-हवाने से रहा। उससे तो यही बेहतर है कि घूम-घूम-कर मूर्तियाँ देखता फिरूँ।

इतने में मेस का नौकर जगन्नाथ कागज की एक चिट थमा गया। पढ़कर देखा, मैनेजर ने तकाजा लिख भेजा था। सरस्वती-पूजा के उपलक्ष में आज मेस में खान-पान की खास तैयारी की गई है। मेरे जिम्मे दो माह के रुपए बाकी पड़े हैं। सो नौकर के हाथ कम-से-कम दस रुपए तो जरूर ही भिजवा दूँ। यदि यह न बन पड़े, तो कल से अपने खाने का कहीं और ठिकाना करूँ।

बात तो बड़ी वाजिब थी ; पर अपनी कुल पूँजी महज दो रुपए और कुछ आने पैसों की ही थी। कोई जवाब दिए बिना ही मैं मेस से बाहर निकल पड़ा। मुहल्ले में कई जगह पूजा के बाजे बज रहे थे, गली के मोड़ पर जमा होकर बच्चे शोर मचा रहे थे। अभय हलवाई की दूकान में तरह-तरह की ताजी मिठाइयाँ थालियों में सजी रखी थीं। मुख्य मार्ग में कालेज-होस्टल

के फाटक पर नौबत बज रही थी। फूलों की माला तथा पूजा का और बहुत-सा सामान लिये लोग-बाग बाजार से लौट रहे थे।

सोचा, आखिर कहाँ जाऊँ ? साल-भर से ज्यादा हो गया कि जोड़ासाँको स्कूल की नौकरी छोड़कर बैठा हूँ—बैठा तो वास्तव मे नहीं हूँ, नौकरी की तलाश मे ऐसा कोई व्यापारी-दफ्तर नही, ऐसा कोई स्कूल नही, ऐसा कोई अखबार का कार्यालय, ऐसा किसी बड़े आदमी का घर नहीं, जिसकी कम-से-कम दस बार खाक न छानी हो। मगर सब ओर से वही एक जवाब—'जगह खाली नहीं है।'

अचानक रास्ते मे सतीश से भेंट हो गई। हिंदू होस्टल में हम दोनो साथ रहते थे। फिलहाल वह अलीपुर में वकालत करता है। ऐसा नहीं लगा कि वकालत से खास कुछ पल्ले पड़ता है। बालीगंज की तरफ कही कोई ट्यूशन है, ऐसी स्थिति में वही इस संसार-सागर में उसके लिए डोंगी है। डोंगी की बात तो दूर रही, अपने को तो टूटे मस्तूल का कोई टुकडा भी नसीब नही। जहाॅ तक गोते खाना बदा है, खा रहा हूँ। सतीश को देखकर यह बात थोड़ी देर के लिए भूल गया। भूलने का यह भी कारण हो गया कि छूटते ही सतीश ने पूछा—"अरे, सत्यचरण! कहाँ चले? चलो, जरा हिन्दू होस्टल की पूजा देख आएँ—अपनी पुरानी जगह है। शाम को वहाँ महफ़िल भी है—जरूर आना। वार्ड छ. के उस अविनाश की याद है? अरे वही अविनाश, मैमनसिंह के किसी जमीदार का लडका! अब तो वह नामी गवैया है। शाम को उसका गाना है, मेरे नाम भी कार्ड भेजा है। मै कभी-कभी उसकी जमीदारी का काम-धाम देखा करता हूँ न! जरूर आना, तुम्हे देखकर बहुत खुश होगा वह।"

कालेज में पढ़ते समय—पाँच-छः साल पहले—आनन्द मिल जाने पर और किसी के लिए मन नही चाहता था। देखा, अभी भी मन का वह भाव गया नहीं है। होस्टल में पूजा देखने गया, तो वहाॅ दोपहर के भोजन का न्योता मिल गया। अपनी तरफ के जाने-पहचाने बहुत-से लड़के वहाँ थे—नहीं ही आने दिया उन लोगो ने। लाख कहता रह गया—"भई

महफ़िल तो शाम को है, अभी से क्या करना। मेस से खा-पीकर वक्त पर आ जाऊँगा। " मगर उन्होंने मेरी एक न सुनी।

कही उन्होंने मेरी सुनी होती, तो त्योहार का वह दिन मुझे फाके पर ही गुजारना पड़ता। मैनेजर की उस कड़ी चिट्ठी के बाद मेस मे खीर-पूडी की दावत मुझसे तो नही खाई जाती—और जबकि मुझसे एक रुपया भी देते नही वना। यह अच्छा ही हुआ। भरपेट, खा-पीकर महफ़िल मे जा बैठा। तीन साल पहले के छात्र-जीवन की बेताब उमंग फिर लौट आई। फिर कौन तो यह याद रखता है कि नौकरी मिली कि नहीं मिली, मेस का मैनेजर मुँह लटकाये बैठा है कि नही बैठा है। ठुमरी और कीर्तन के उमड़ते हुए सागर मे इस कदर डूब गया कि यह भी भूल बैठा—यदि बकाया न चुका पाया, तो कल से हवा पीकर जीने की नौबत आयगी। महफ़िल टूटी, तो रात के ग्यारह बज रहे थे। अविनाश से बातें हुईं। होस्टल मे हम दोनों डिबेटिंग क्लब के दीवाने थे। एक बार हम लोगों ने सर गुरुदास वंद्योपाध्याय को सभापति बनाया था। विषय था—'स्कूल-कालेजो में बाध्यतामूलक धर्मशिक्षा का प्रवर्त्तन उचित है।' अविनाश था प्रश्न पूछने वाला और मैं था प्रतिवादी पक्ष का नेता। दोनो ओर के तुमुल तर्क के बाद आखिर सभापतिजी ने अपनी राय हमारी तरफ दी। तब से अविनाश से अपनी गाढ़ी मित्रता हो गई; यद्यपि कालेज से निकलने के बाद उससे फिर यही पहली मुलाकात है।

अविनाश ने कहा—"मेरी गाडी है। चलो, तुम्हें छोड़ दूँ। रहते कहाँ हो?"

मेस के दरवाजे पर मुझे गाडी से उतारकर वह बोला—"सुनो, कल चार बजे शाम को हैरिंग्टन स्ट्रीट मे मेरे घर चाय पीना। भूल मत जाना। तैंतीस बटे दो—लिख लो!"

दूसरे दिन हैरिंग्टन स्ट्रीट का पता लगाया और अविनाश का मकान भी ढूँढ निकाला। मकान खास बडा तो नही था; पर आगे-पीछे बाग लगा था। फाटक पर विस्टारिया की लत्तड़, नेपाली दरबान और पीतल

की नेम-प्लेट लगी थी। लाल सुरखी की सड़क बनी थी, सड़क के एक तरफ सब्ज़ लॉन और दूसरी तरफ चंपा और आम के बड़े-बड़े पेड़। ऐसी भूल कर सकने की कही से कोई गुंजाइश ही नही थी कि मकान किसी बड़े आदमी का नहीं है। जीने के ऊपर पहुँचते ही बैठक थी। अविनाश ने आकर मुझे आदर से बिठाया। फिर हम दोनों बीते दिनों की बातों मे मशगूल हो गए। अविनाश के पिता मैमनसिह के एक बडे जमींदार है, मगर आजकल कलकत्ता के मकान मे वे लोग है नही। पिछले अगहन में अविनाश की बहन की शादी थी। उसी सिलसिले मे जो गाँव गये है, सो अभी तक लौटे नही।

इधर-उधर की बातों के बाद अविनाश ने पूछा—"तो इन दिनों कर क्या रहे हो?"

मैंने कहा—"जोडासाँको स्कूल मे मास्टरी करता था। आजकल बेकार ही हूँ। मास्टरी करने का अब इरादा नही है। शायद कोई और जुगत लग जाय—एकाध जगह से कुछ उम्मीद बँधी है।"

वास्तव मे कही से भी कोई उम्मीद नही थी; परंतु अविनाश ठहरा बड़े आदमी का लाड़ला। बहुत बडी जमीदारी का मालिक था वह। कहीं वह ऐसा न समझे कि मै वहाँ किसी जगह का उम्मीदवार हूँ, इसीलिए ऐसा कह दिया।

कुछ सोचकर अविनाश बोला—"तुम-जैसे योग्य आदमी को नौकरी मिलने मे बेशक देर नही होगी। मुझे तुमसे कुछ कहना है। तुमने तो कानून भी पढ़ा था—है न?"

मैंने कहा—"पास भी कर लिया था, लेकिन वकालत करने का मन नहीं है।"

अविनाश बोला—"पूर्णियाँ जिले मे अपना एक जंगल—महाल पड़ता है—कोई पच्चीस-तीस हजार बीघे का। वहाँ हमने एक नायब जरूर रख छोडा है, मगर इतनी अधिक जमीन के बदोबस्त का उस पर भरोसा नहीं

किया जा सकता। हमें एक योग्य व्यक्ति की तलाश है। वहाँ तुम जाना पसंद करोगे क्या ?"

मुझे पता था कि अपने कान बहुत बार लोगों को धोखा देते हैं। अविनाश यह कह क्या रहा है। जिस नौकरी के लिए मैं पूरे साल-भर से कलकत्ता की गलियो की धूल फाँकता फिर रहा हूँ, उसी नौकरी का प्रस्ताव चाय के न्योते पर इतनी आसानी से बिनमाँगे आ पहुँचा !

जो भी हो, अपना मान तो बचाना ही था। बड़े सयम से आवेश को पीकर अनमना-सा मैं बोला—"अच्छा, सोच-समझकर फिर बताऊँगा। कल तो हो तुम ?"

अविनाश खुले दिल का आदमी है। बोला—"यह सोचने-समझने की बात तो रहने दो। मैं आज ही पिताजी को लिखे देता हूँ। हमें एक विश्वासी आदमी चाहिए। जमीदारी के काइयाँ कर्मचारियों से अपना काम नही चलने का। ऐसे लोग ज्यादातर चोर ही हुआ करते हैं। वहाँ तुम-जैसे पढ़े-लिखे और बुद्धिमान आदमी की जरूरत है। वह सारा इलाका हमें नये रैयतों के हाथ बंदोबस्त करना है। तीस हजार बीघे का जगल है—इतनी बड़ी जिम्मेदारी भला जिस-तिस पर कैसे छोड़ी जा सकती है ? तुमसे कुछ आज का परिचय नही, तुम्हारा एक-एक रग-रेशा मुझे मालूम है। तुम हामी भर दो और मैं पिताजी से नियुक्ति-पत्र मँगवाए लेता हूँ।"

[दो]

नौकरी मिल कैसे गई, विस्तार से यह बताना बेकार है, क्योंकि इस कहानी का उद्देश्य बिलकुल अलग है। थोड़े में कह दूँ, चाय की उस दावत के दो हफ़्ते बाद एक दिन मैं अपने सरो-सामान के साथ बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे के एक छोटे-से स्टेशन पर उतरा।

सर्दियों की साँझ। दूर तक फैले हुए प्रांतर मे घनी छाया उतर आई थी—सुदूर वन-पंक्ति के माथे पर थोडा-थोडा कुहरा जमने लगा था।

रेलवे लाइन के दोनों ओर मटर के लहलहाते खेत—साँझ की सर्द हवा मे मटर के ताजे साग की भीनी खुशबू उडकर जो आई, तो ऐसा लगा कि जो जिंदगी मै शुरू करने जा रहा हूँ, वह बेहद सूनी होगी, वैसी ही सूनी, जैसी कि यह जाडे की साँझ है, जैसा सूना कि यह उदास प्रांतर और दूर की वह नीली वनश्रेणी है।

बैलगाडी पर पंद्रह-सोलह कोस चलना पडा—रात-भर चलता रहा। कबल वगैरह ओढने का जो सामान साथ लाया था, टप्पर के अंदर सर्दी के मारे पानी हो गया। यह खबर किसे थी कि इधर इतनी करारी सर्दी पड़ती है! सुबह धूप निकलने तक चलता ही रहा। झाँककर देखा, जमीन की शक्ल बदल गई है, प्राकृतिक दृश्यों ने और ही रूप अपनाया है—कही खेत-खलिहान नहीं, गॉव-घर भी शायद ही कही है। जिधर देखिए जगल और जंगल—कही कुछ घने, कही कुछ छिछले, बीच-बीच में खुला मैदान, मगर फसल का नाम तक नहीं।

दस बजे के करीब जमींदारी कचहरी में पहुँचा। जंगल मे दस-पंद्रह बीघे का रकबा साफ-सुथरा कर लिया गया था, जिसमें जंगल के बाँस-फूँस के बने हुए कई घर खडे थे। सूखी घास और झाऊ की बनी टट्टियाँ—उन पर मिट्टी की पुताई।

घर नये बने थे। अंदर दाखिल होते ही ताजे कटे रबड, अधकच्ची घास और बाँस की बू आई। पूछने से पता चला, कचहरी पहले जंगल के उस ओर कही और थी, मगर चूँकि वहाँ जाडे में पानी की बेहद तकलीफ हो जाती थी, इसलिए हाल में यहाँ बनवाई गई है। पास ही एक झरना बहता है, जिससे पानी की कमी नहीं पडती।

[तीन]

जिदगी के ज्यादा दिन कलकत्ता मे बिताए। बंधु-बांधवो का संग-साथ, पुस्तकालय, सिनेमा-थियेटर, यह सोच भी नहीं सकता था कि इनके सिवाय और भी जिदगी हो सकती है। ऐसे में नौकरी की गिनी-गिनाई कुछ

रुपल्लियों की खातिर ऐसी जगह आ निकला हूँ, ऐसी सूनी जगह की कभी कल्पना भी नही की थी। दिन बीत रहे थे। दूर के पहाड और जंगलो पर पूरब-नभ में सूरज का उगना देखा करता। फिर साँझ आए झाऊ और लंबी घास के जगल को सिंदूर से रँगकर सूरज का डूबना देखता—इस उदय-अस्त के बीच जाडे के ग्यारह घंटे का लबा और उदास दिन मानो काटने दौडता हो। इन दिनो को किस तरह पार करूँगा, शुरू-शुरू मे मेरे लिए यही बहुत बड़ी समस्या हो उठी। करने को काम तो बहुत सारे किये जा सकते थे, मगर मै नितात नया था। लोगो की बोली भी अभी अच्छी तरह नही समझ सकता था, काम का बँटवारा भी करते नही बन रहा था। सो अपने साथ जो थोड़ी-सी किताबे ले आया था, उन्हीमें उलझकर किसी तरह दिन काटने लगा। कचहरी मे जो नौकर-चाकर थे, निरे जंगली से। न मेरी बात वे समझे, न उनकी मैं समझूँ। शुरू के दस दिन बड़ी तकलीफ से गुजरे। कितनी ही बार जी में आया, ऐसी नौकरी से बाज आया मैं। यहाँ घुट-घुट कर मरने से तो कलकत्ता मे भूखा रहना कहीं बेहतर है। अविनाश के आग्रह पर इस जन-हीन जंगल मे आकर बड़ी भूल की है मैंने। यह जिंदगी अपने लिए नहीं है।

रात को कमरे में बैठा यही सब सोच रहा था कि किवाड़ खोलकर बूढ़े मुहर्रिर गोष्ठ बाबू अंदर आए। यहाँ यही एक ऐसे आदमी थे, जिनसे अपनी जुबान मे बाते करके जी जुडाता था। कुछ नही तो सत्रह-अठारह साल से यह यहाँ है। बर्दवान जिले के वनपाश स्टेशन के पास किसी गाँव मे इनका घर है। मैंने कहा—"गोष्ठ बाबू, आइए, बैठिए...!"

दूसरी एक कुर्सी पर वे बैठ गए। बोले—"आपको अकेले मे एक बात कहने आया हूँ कि यहाँ के किसी आदमी पर एतबार मत कीजिए। यह अपना मुल्क नही है। यहाँ के लोग-बाग बड़े बुरे है..."

मैं बोला—"लेकिन गोष्ठ बाबू, अपनी तरफ के सब लोग, अच्छे ही हैं, ऐसा तो नही है।"

"वह मैं जानता हूँ मैनेजर बाबू! उसी दुःख से और मलेरिया के

सताये ही तो यहाँ भाग आया था। शुरू-शुरू मे बेहद तकलीफ हुई—इस जगल मे दम मानो फूलता रहता—मगर अब तो यह हाल है कि देश की बात तो दूर रही, काम से कभी पूर्णियाँ या पटना भी जाता हूँ, तो दो से तीन दिन रहना मुहाल हो जाता है।"

मैंने कौतूहल से उनकी तरफ देखा—"भलामानस कह क्या रहा है यह!"

पूछा—"आखिर और कही रह क्यों नही सकते? जंगल के लिए जी तड़प उठता है क्या?"

मेरी ओर देखकर वे जरा हँसे। बोले—"तड़प ही उठता है कहिए। आप पर भी गुजरेगा। आप अभी-अभी कलकत्ता से आए हैं, वहाँ के लिए मन उड़ता रहता है, फिर आपकी उम्र भी क्या है अभी! कुछ रोज यहाँ रह लीजिए, फिर देखिएगा।"

—"देखना क्या है?"

—"यही कि जंगल की माया आपको दबोच बैठेगी। भीड़-भाड़ और शोरो-गुल नही सुहायगा। मुझ पर यही बीत रहा है। यही पिछले महीने का किस्सा है, मुकदमे के सिलसिले में मुगेर गया था—बस यही लग रहा था कि कब यहाँ से निकल भागूँ।"

मैंने मन-ही-मन सोचा था—"इस मुसीबत से मुझे भगवान् बचाएँ। मैं ऐसी नौबत आने से पहले ही नौकरी को नमस्कार करके कलकत्ता मे जा रहूँगा!"

गोष्ठ बाबू बोले—"इलाका यह अच्छा नही है—रात-बिरात बदूक को सिरहाने रखकर सोया कीजिए। कचहरी में इसके पहले एक बार डाका पड़ भी चुका है। गनीमत है कि अब यहाँ रुपए नही रक्खे जाते।"

कौतूहल से मैंने पूछा—"डकैती? कितने दिन पहले हुई?"

—"यही कोई सात-आठ साल पहले। कुछ दिन यहाँ रह लीजिए, सारी बातें आप ही समझ में आ जायेंगी। बेहद बुरी जगह है। फिर कोई मारकर ही डाल दे, तो देखने वाला कौन है यहाँ?"

गोष्ठ बाबू लौट गए। मै खिड़की पर जा खड़ा हुआ। दूर जंगल के ऊपर चाँद उगता आ रहा था और उगते हुए चाँद की पृष्ठभमि मे झाऊ को एक आड़ी-टेढी शाख आ अटकी थी—मानो जापानी शिल्पी हकुसाई की कोई तस्वीर हो!

"अपनी किस्मत, नौकरी की और कोई जगह ढूढे नही मिली! इतनी खतरनाक है यह जगह, पहले से जानता होता, तो अविनाश को हर्गिज वचन नहीं देता।"

मगर दुर्भावना के बावजूद उगते हुए चाँद की शोभा ने मुझे मोह लिया।

[चार]

कचहरी से कुछ ही दूर पर पत्थर का एक टीला था—टीले पर एक बड़ा ही पुराना और बहुत बड़ा बरगद का पेड़ था। पेड का नाम था—ग्राटसाहब का बरगद। क्यों जो पेड़ का नाम ऐसा पड़ा, छान-बीन करके भी नही जान सका। एक दिन शाम को सूर्यास्त की छटा देखने के लिए मै घूमता-घामता उस टीले पर जा निकला।

बरगद के नीचे आसन्न सध्या की घनी छाया मे खड़ा-खड़ा लहमे भर में जाने मै कहाँ का कहाँ पहुँच गया—कोलूटोला का मेस, कपाली टोला का वह ब्रिज का अड्डा, गोलदिग्घी में मेरी वह प्यारी बेंच—जिस पर बैठकर मैं कालेज स्ट्रीट के विरामहीन जन-प्रवाह और बस-मोटरों का ताँता देखा करता था। अचानक लगा, जाने कितनी दूर छूट गए वे। मन रो उठा—'यह मैं कहाँ आ गया। मामूली नौकरी के लिए यह किस वीरान जंगल में फूंस की झोंपड़ी में रह रहा हूँ! यहां भी कोई आदमी रह सकता है। निरा अकेला—ऐसा भी कोई नही कि दो बातें कर सकू। यहाँ के इन निहायत मूर्ख और जंगली लोगों के साथ ही दिन बिताने पड़ेंगे, जो कि बात तक नही समझ सकते? उस सुदूरप्रसारी दिगंत व्यापी सूनी साँझ में खड़ा-खड़ा जी उदास हो आया, कुछ डर भी लगा। सो मैंने संकल्प कर लिया, इस महीने के तो खैर और कुछ ही दिन रह गये है, किसी तरह से आनेवाला

महीना भी काट दूगा और फिर अविनाश को लिखकर नौकरी से जवाब देकर कलकत्ता के बधु-बांधवो के स्नेह-स्वागत के बीच, सभ्यो का खाना खाते हुए, सभ्य सुर के गीत सुनते हुए अनगिनती लोगों के आनद-उल्लास भरे कंठस्वर मे नई जिदगी बिताऊँगा।'

यह पता पहले थोडे ही था कि मनुष्यो के बीच रहना इतना पसन्द है मुझे! मनुष्य को इतना प्यार करता हूँ! लोगो के लिए जो कुछ मुझे करना चाहिए, हर समय वह करते तो नही बनता शायद ; पर प्यार उन्हे जरूर करता हूँ। वरना उनसे दूर रहने से यह तकलीफ क्यो होती ?

प्रेसिडेसी कालेज की रेलिंग पर वह जो बूढ़ा मुसलमान किताबें बेचा करता है, जाने कितनी बार वहाँ खड़ा-खड़ा पुरानी किताबों और मासिक-पत्रों के पन्ने पलटता रहा हूँ, कुछ खरीदना तो जरूर वाजिब था ; पर खरीद नही पाया—वह भी मानो नितांत अपना-सा लगा—उसे जाने कितने दिनों से नही देख पाया हूँ।

कचहरी लौट आया। अपने कमरे की मेज पर बत्ती जलाई और एक किताब खोलकर बैठा कि प्यादा मुनेश्वरसिह सलाम बजाकर सामने खडा हो गया। पूछा—"क्या है मुनेश्वर?"

इस बीच मै वहाँ की टूटी-फूटी बोली बोलने लगा था। उसने कहा—"मेरे लिए एक कड़ाही खरीद देने का हुक्म मुहर्रिर बाबू को दे देते, तो बड़ी दया होती हुजूर!"

—"कड़ाही का क्या होगा?"

पाने की उम्मीद से मुनेश्वर का चेहरा दमक उठा। उसने झुके हुए स्वर मे कहा—"लोहे की कडाही से सहूलियत कितनी होती है हुजूर। जी चाहे जहाँ साथ ले जाओ। उसमे चावल पकाया भी जा सकता है, खाया भी जा सकता है और सामान भी रक्खा जा सकता है। टूटने-फूटने का डर नही। मेरे पास कड़ाही नहीं है। न जाने कब से एक कडाही खरीदने की सोच तो रहा हूँ, मगर गरीब आदमी ठहरा। एक कड़ाही छै आने की आती है। इतने पैसे मै कहाँ से लाऊँ? इसी से हुजूर के पास आया हूँ।

हुजूर मालिक हैं। कडाही खरीदने की इच्छा मेरी बहुत दिनो की है। अगर हुजूर की मजूरी मिल जाय।"

'लोहे की मामूली कड़ाही जो इतने काम की होती है और उसके लिए लोग रात को सपने भी देखा करते है—' अपने जीवन में ऐसी बात मैंने पहली बार सुनी। इतने भी गरीब लोग इस दुनिया में है, जो सिर्फ छै आने की एक कड़ाही पाकर समझते है कि मुट्ठी मे स्वर्ग आ गया! सुना जरूर था कि इधर के लोग बड़े गरीब है। मगर इतने गरीब है, यह नहीं जानता था। बड़ी ममता हो आई।

मेरे हस्ताक्षर वाले कागज के एक टुकड़े को देकर दूसरे ही दिन मुनेश्वर सिंह नौगछिया बाजार से पाँच नबर की एक कड़ाही ले आया और मेरे कमरे की जमीन पर उसे रखकर मुझे सलाम करके खड़ा हो गया—"हुजूर की किरपा से कड़ाही हो गई!" खुशी से खिले उसके मुखडे की तरफ ताककर इतने दिनों के बाद आज पहली बार मुझे लगा—"बडे भोले है ये लोग। बडी तकलीफ है तो बिचारों को!"

दूसरा परिच्छेद

[एक]

लाख कोशिश करने पर भी मै यहाॅ की इस जिदगी से अपना मेल नही मिला पा रहा था। हाल ही मे बगाल से आया, सारी जिदगी कलकत्ता मे गुजारी, ऐसा लग रहा था कि इस अरण्य भूमि का सूनापन चट्टान की तरह मेरे कलेजे पर सवार हो गया है।

किसी-किसी दिन तीसरे पहर मै बड़ी दूर तक घूमने निकल जाता। कचहरी के पास तो फिर भी आदमी का कंठस्वर सुनाई पडता था—दो-एक रस्सी आगे निकला नही कि जंगली झाऊ और कसाल की भीड मे कचहरी गुम जाती और लगता, इस इतनी बडी दुनिया मे बस मै ही एक हूँ—अकेला। उसके बाद जितना ही आगे जाता—चौड़े मैदान के दोनों ओर घनी वन-पक्ति दूर तक चली गई है—जंगल और झाडियाँ, गजारी और बबूल के पेड, कँटीले बाॅस और बेतो की झुरमुटे है। जंगल-झाडो के माथे-माथे डूबता हुआ सूरज सिदूर छिडक देता, वनफूलो और तृण गुल्मों की भीनी खुशबू से लदी साँझ की बयार, झाडी-झाडी चिडियों की चहक से मुखरित, जिनमें हिमालय के तोते भी होते। खुला, घास से ढँका सुदूर-प्रसारी प्रातर और श्यामल वन-भूमि का मेला। ऐसे मे कभी-कभी यह भी जी मे आता कि प्रकृति का जो रूप यहाॅ देख रहा हूँ, वह और कही भी देखने को नही मिला। जहाॅ तक आँखे जाती, वह सारा कुछ मानो मेरा ही है—मै ही यहाॅ एकमात्र आदमी हूँ—मेरी निर्जनता भग करनेवाला कोई नही—और, उस खुले आसमान के नीचे सूनी सध्या में दूर दिगंत की सीमा-रेखा तक मै अपने मन और कल्पना को फैला देता।

कचहरी से कोई कोस भर हटकर एक ढलवाॅ जगह थी। वहाँ पर कई छोटे-छोटे पहाडी झरने झिर-झिर कर बहते थे। दोनो तरफ जलज

लिली की भीड़। कलकत्ता के बागो मे इसी लिली को 'स्पाइडर लिली' कहते है। मुझे जंगली स्पाइडर लिली देखना कभी नसीब नही हुआ था, जानता भी नहीं था, ऐसे एकांत झरनों के पथरीले किनारो पर खिली लिली की इतनी शोभा होती है, हवा में ये इतनी भीनी और मीठी खुशबू बिखेरा करती है! कितनी ही बार यहाँ चुप-चाप बैठकर मैंने आसमान, साँझ और सूनेपन का उपभोग किया है।

बीच-बीच में घोडे पर घूमा करता। शुरू-शुरू मे घोड़ा चढना ठीक से आता नही था, बाद मे अच्छी तरह आ गया। चढना आ जाने पर मैंने जाना, इतना आनंद और किसी बात मे नही। ऐसे निर्जन आकाश-तले दिगंत-व्यापी वन-प्रातर मे जिसने कभी घोडे की पीठ पर सैर नही की हो, उसे यह समझा सकना मुश्किल है कि वह आनद क्या है! कचहरी से दस-पंद्रह मील के फासले पर सर्वेपार्टी की नाप-जोख चल रही थी। आज-कल प्राय: रोज सबेरे एक प्याला चाय पीकर जो घोडे की पीठ पर बैठता, सो कभी तीसरे पहर लौटता, तो कभी लौटते-लौटते जंगल के माथे पर तारे निकल आते, आसमान में वृहस्पति झलमला उठता। चाँदनी रात मे वन-फूलों की महक चाँदनी में घुल जाती, स्यारो का 'हुक्का-हुआ' शब्द रात के पहर की सूचना देता, झींगुरो का दल एक स्वर में झी-झीं करता रहता।

[दो]

जिस काम के लिए यहाँ आया था, उसकी कोशिशे चल रही थीं। हजारों बीघे जमीन की नाप-जोख करना कोई आसान बात तो थी नहीं। फिर यहाँ आकर एक और बात मेरी समझ में आई। आज से तीस साल पहले ये सारी जमीनें नदी के पेट में समा गई थीं। बीस साल हुए फिर से बाहर निकली हैं; लेकिन यहाँ के जो लोग उस समय अपने बाप-दादों की जमीन छोड़कर लाचार होकर और कही जा बसे थे, जमींदार उन पुराने रैयतों को इस पर दखल नहीं देना चाह रहे थे। मोटी सलामी और ज्यादा मालगुजारी के लोभ से वे नई रैयतों को बसाना चाहते थे और उस घर-

बार विहीन गरीब रिआया को, जो अपने वाजिब हक से वंचित की गई थी, लाख आरजू-मिन्नत करने और रोने-धोने के बावजूद भी जमीन नहीं दी जा रही थी।

बहुत-सी रैयत मेरे पास भी पैरवी करने पहुँची थी। उसकी हालत देखकर सचमुच ही तकलीफ होती थी, मगर पुरानी रैयतो के हाथ जमीन बन्दोबस्ती का हुक्म ही नही था; इसलिए कि कही यदि एक बार उन्हे उस पर बैठने की गुजाइश हो गई, तो वे कानूनन अपने हक का दावा भी कर सकते है। जमीदार को लाठी का जोर ज्यादा था, बेचारी रैयत के पास न जमीन थी, न घर ; आज बीस साल से वह जीविका के लिए भटकती घूम रही थी ; कोई मजूरी पर पेट चला रहा था, किसी-किसी के पास मामूली सी जोत जमीन थी ; बहुतेरे इस संसार से कूच भी कर चुके थे, जिनके बाल-बच्चे नाबालिग और निरीह थे—ऐसे मे बलवान जमीदार के खिलाफ वे खडे भी होते, तो धार मे अडने वाले तिनके-से बह जाते।

लेकिन नई रैयत लाई जाय, तो कहाँ से ? मुगेर, पूर्णियाँ, भागलपुर, छपरा—पास-पडोस के जिलो से जो लोग आते थे, सलामी और माल-गुजारी की दर सुनते ही भडक जाते। कोई-कोई दो-चार बीघे ले भी रहे थे। अगर यही मद्धिम गति बन्दोबस्ती की रही, तो दस-दस हजार बीघे जमीन को रैयतो के बीच बाँटने मे बीस-पच्चीस साल का अरसा लग जायगा।

यहाँ से उन्नीस मील पर अपनी एक कचहरी और थी—वह भी घने जंगल का इलाका था। उस जगह का नाम था नवटोलिया। जंगल जैसा यहाँ था, वैसा ही वहाँ भी। मगर वहाँ कचहरी रखने का मतलब यह था कि वह जंगल गाय-भैस चराने के लिए हर साल ग्वालों को मालगुजारी पर उठा दिया जाता था। इसके सिवा वहाँ कोई दो-तीन सौ बीघे का बेर का जगल था। लोग लाह की खेती के लिए उसे लगान पर लिया करते थे। इन रुपयों की वसूली के लिए वहाँ दस रुपये माहवार पर एक पटवारी और छोटी-सी कचहरी रक्खी गई थी।

बेर के वन को इजारा देने का समय आ रहा था। घोडे की पीठ पर

सवार होकर एक दिन मै नवटोलिया के लिए रवाना हुआ। बीच मे कोई सात-आठ मील लम्बा लाल मिट्टी का एक ऊँचा मैदान पडता था, जिसे 'फुलकिया बैहार' कहते थे। जाने कितनी तरह के पेड़-पौधे और झाडी-झुरमुटों से भरा था यह बैहार! कही-कही जगल इतना घना था कि पेड़ों के डाल-पत्ते घोडे को लगते थे। जहाँ यह बैहार समतल पर जा उतरा था, वही पथरीली जमीन पर एक छोटी-सी पहाडी नदी बहती थी—चानन। बरसात मे उसमे काफी पानी रहता। अभी सर्दी के दिनो मे उतना पानी नही था।

नवटोलिया मै पहली बार गया था। मामूली-सा घर था कचहरी का—रबड़ की छौनी, कसाल और झाऊ के डाल-पत्तो से तैयार की गई थी घेरे की टट्टियाँ। साँझ से कुछ पहले पहुँचा। जहाँ मै रहता था, वहाँ ऐसी करारी सर्दी नही थी, यहा बेर डूबने के पहले ही सर्दी से मानो जम जाने की नौबत आ गई।

प्यादो ने सूखी लकडियाँ बटोर कर आग जलाई, उसी के पास कैंप-चेयर पर मै बैठ गया—और-और लोग आग के चारो ओर गोल बना कर बैठे।

पटवारी जाने कहाँ से एक पाँच सेर की रोहू मछली जुगाड कर लाया था। अब समस्या यह सामने आई कि उसे पकाए कौन? मेरे साथ रसोइया नही था। मै अपने आप भी रसोई बनाना नही जानता था। सात-आठ आदमी वहाँ मुझसे मिलने आए थे। मेरे इन्तजार मे वे वहाँ पहले से ही बैठे थे। उन्ही मे से कटू मिश्र नाम के एक मैथिल ब्राह्मण को पटवारी ने रसोई के काम मे लगा दिया।

मैने पटवारी से पूछा—"यही लोग इजारे के लिए आए है?"

उसने कहा—"जी नही हुजूर, ये तो आए है खाने के लिए। आपके यहाँ आने की खबर जो हुई, सो ये आज दो दिन से यही पड़े है। इधर ऐसा ही होता है। कल शायद और भी लोग आएँ।"

ऐसी बात मैंने पहले कभी नही सुनी। कहा—"मगर मैंने तो इन्हें न्योता नही दिया है ?"

—"हुजूर, ये बेचारे बेहद गरीब है। भात खाना इन्हें कभी नसीब ही नही होता। बारहो महीने ये उडद और मकई का सत्तू खाकर ही गुजारा करते हैं। सो भात इनके लिए बहुत बडी बात है। आपका आना सुना, समझा यहाँ दो मुट्ठी भात मिलेगा। इसी लोभ से आ धमके। कल तक देखिए, और न जाने कितने लोग आते है ! "

मुझे लगा, इनके मुकाबले अपनी तरफ के लोग बहुत सभ्य हो गए हैं ? कह नही सकता क्यों, उस रात मुझे भात के लोभी ये सीधे-सादे लोग बड़े भले लगे ! आग के चारों तरफ बैठे वे आपस मे बातें करते रहे, मैं बैठा-बैठा उनकी बाते सुनता रहा। पहले तो वे मेरे पास की आग के समीप बैठना ही नहीं चाह रहे थे—सम्मान की दूरी रखने के लिहाज से। मैं खुद उन्हे बुला लाया। पास ही कंटू मिश्र आसन की लकडियाँ झोक कर मछली पका रहा था—धुएँ के साथ धूप-जैसी गध उड रही थी। आग के पास से हटने पर ऐसा लग रहा था, कि मानो बर्फ की बारिश हो रही हो। इतनी सर्दी !

खाते-पीते रात बहुत बीत गई। कचहरी में जितने भी लोग थे, सबने खाया। खा-पीकर फिर सब आग को घेर कर गोल होकर बैठे। सर्दी के मारे नसों का खून तक जैसे जमता आ रहा था। शायद खुली जगह होने से ऐसी कड़ाके की सर्दी थी, या हो सकता है, हिमालय पास पड़ता है इसलिए।

आग के पास हम सात-आठ आदमी बैठे थे। घर दो ही थे छोटे-छोटे, रबड़ के। एक में मुझे रहना था, दूसरे में बाकी सबको। हमारे चारों तरफ फैला था अँधेरा जंगल और मैदान, ऊपर तारों से भरा दूर-व्यापी अंधकार से आच्छादित आकाश। मुझे बडा अजीब-सा लगा, मानो अपनी सदा की जानी-पहचानी दुनिया से दूर महाशून्य की किसी गुहा में एक अजानी और रहस्यमयी जीवन-धारा में मै जा पड़ा हूँ।

इतनी बड़ी भीड मे से तीस-बत्तीस की उम्र के एक आदमी ने मुझे सबसे ज्यादा आकर्षित किया। नाम था उसका गनौरी तिवारी; साँवला रग, दोहरा बदन, बडे-बडे बाल, कपाल पर टीका। इस कड़ाके की सर्दी मे भी उसके बदन पर मोटिया की एक चादर के सिवाय और कुछ नहीं था। इधर मिरजई पहनने का आम रवाज है, उसके बदन पर वह भी न थी। बडी देर से मैं यह गौर से देख रहा था कि वह सबकी तरफ कैसे कुंठित भाव से ताक रहा है। वह किसी के भी कहने का कोई प्रतिवाद नही करता था, गो कि वह बात किसी कद्र कम नही कर रहा था।

मैं जो भी कहूँ, उसी पर वह कह उठता—"हुजूर!"

इधर के लोग जब किसी बडे या आधिकारी की बात माने लेते, तो महज आगे की तरफ को जरा सिर झुकाकर कहते—"हुजूर!"

गनौरी से पूछा—"तिवारीजी, तुम रहते कहाँ हो?" उसने मुझे कुछ इस तरह ताका, मानो मुझसे उसे इतना सम्मान पाने की उम्मीद न थी, वह सोचता ही न हो कि मैं सीधे उससे कुछ पूछ भी सकता हूँ! बोला—"भीमदास टोला, हुजूर!"

उसके बाद उसने अपनी राम-कहानी कह सुनाई। एक साँस मे जरूर नही सुनाई। मैंने जैसे-जैसे पूछा, वैसे-वैसे, रुक ठहर कर।

जब वह बारह साल का था, उसका बाप उसे छोड गया। बूढी फूफी उसे पालने लगी। पाँच-छः साल के बाद फूफी भी चल बसी। तब गनौरी भाग्य की खोज मे दुनिया मे निकल पडा। दुनिया भी उसकी बहुत ही महदूद थी—पूरब में पूर्णियाँ शहर, पच्छिम मे भागलपुर जिले की सरहद, दक्खिन, यह फुलकिया बैहार और उत्तर मे कोसी नदी, बस। यही थी उसकी दुनिया की हद। इसी चौहद्दी के अन्दर इस-उस गाँव मे कभी किसी के यहाँ पूजा करके, तो कभी किसी पठशाला में गुरुअई करके बडी मुश्किल से उड़द के सत्तू और मडए की रोटी जुटा कर वह अपना पेट पालता था। बहरहाल वह अब दो महीने से बेकार है। परबत्ता गाँव की पाठशाला उठ गई। दस हजार बीघे का यह फुलकिया बैहार जगल-झाड से भरा, न कहीं

गाँव, न कोई बस्ती। इन जगलो मे जो भैसवाले भैस चराने आए थे, उन्ही के बथानों पर माँग-माँग कर जीविका चला रहा था। उसे आज खबर मिली कि मै आ रहा हूँ, सो औरो के संग वह भी आ पहुंचा।

क्यो आ पहुँचा वह, यह बात और भी मजे की थी।

—"ये इतने लोग यहाँ क्यो आए है तिवारीजी ?"

—"हुजूर, लोगो ने बताया कि कचहरी मे मैनेजर बाबू आए है, यहाँ भात की जुगत बैठेगी। लोग-बाग इसीलिए आए है और मैं भी उनके साथ आ गया हूँ।"

—"यहाँ के लोगो को क्या भात नही मिलता ?"

—"भात कहाँ नसीब होता है हुजूर! नौगछिया के मारवाडी लोग रोज भात खाया करते है। यही समझिए कि मुझे आज कोई तीन महीने में भात के दर्शन हुए है। पिछले भादो की सकरात के दिन रासबिहारी-सिंह राजपूत के यहाँ न्योता था। वही भात खाया था—बस।"

जितने भी लोग आए थे, कपडा उनमे से किसी के भी बदन पर न था। रात को आग ताप कर ही वे लोग रह लेते थे। रात की आखिरी घडियो मे जब सर्दी ज्यादा बढ जाती, किसी भी कदर नीद नही आती, तो वे आग के पास और सिमट जाते और जाग कर सबेरा करते।

जाने ये सब लोग अचानक मुझे इतने भले क्यो लगे! इनकी यह गरीबी, यह भोलापन और जीवन के इस कठोर-संग्राम मे जूझते रहने की ऐसी क्षमता। इस अँधेरी वन-भूमि और बर्फ बरसाने वाले आसमान ने इन्हें विलासिता की फूल बिछी राह पर नही जाने दिया—इन्हे वास्तविक मर्द बना दिया। दो मुट्ठी भात खाने की खुशी मे जो बेबुलाए नौ-दस मील की मंजिल मार कर भीमदास टोला और परबत्ता से यहाँ आ गए—उनके आनन्द ग्रहण की शक्ति कितनी पैनी है—मैं यह सोच कर दंग रह गया।

बहुत रात बीते किसी की आवाज से नीद उचट गई। मारे सर्दी के मुंह निकालना भी मुहाल था। चूँकि यह पता नही था कि यहाँ इस कदर

सर्दी पडती है, इसलिए जितने चाहिए थे, गरम कपडे और तोशक-लिहाफ साथ नही लाया था। कलकत्ता मे जो कबल बराबर ओढा करता था, उसी को लाया था। रात के चौथे पहर मे वह कन्कन् पानी-सा हो जाता। जिस करवट सोता, शरीर की गरमी से, उधर फिर भी किसी तरह का रहता, मगर जहाँ करवट बलदता, लगता पूस की रात मे किसी पोखर मे उतर पडा हूँ। पास ही जगल से पैरो की आहट आ रही थी—कुछ तो दौडते जा रहे थे, मानो—पेड-पौधो, सूखे झाऊ के पौधो को पटापट तोड़ते हुए दौडे जा रहे थे।

समझ नही सका कि आखिर माजरा क्या है। मैने प्यादा विष्णु पाडेय और गुरुजी गनौरी तिवारी को आवाज दी। वे निदियाई आँखो से दौड़े आए। जो आग रात जलाई गई थी, उसकी आखिरी आभा मे उनके चेहरे का आलस, सभ्रम और नीद का भाव झलक उठा। जरा कान लगा कर गनौरी तिवारी बोल उठा—"वह कुछ नही हुजूर, नीलगायों का झुड जंगल मे दौड रहा है।"

कहना खत्म करके वह फिर सो जाना चाहता था कि मैने पूछा—"इतनी रात गए ये नीलगाये आखिर दौड क्यो रही है?"

मुझे ढाढस देते हुए प्यादे ने कहा—"किसी जानवर ने पीछा किया होगा, और क्या?"

—"किस जानवर ने?"

—"जानवर और क्या, जगली जानवर, शेर होगा या भालू—"

एकाएक मेरी नजर अपने कमरे के दरवाजे पर जा टिकी। कसाल की बनी महज एक टट्टी। इतनी हल्की कि बाहर से कोई कुत्ता भी मुँह मारे तो दूसरे दम अन्दर आ गिरे। ऐसे मे यह कहना फिजूल है कि बगल के जंगल में बाघ-भालू नीलगायों पर टूटे है, इस खबर से मै निश्चिन्त नहीं हो सका।

कुछ ही देर में सबेरा हो गया।

[तीन]

दिन जाने लगे और जगल की माया मुझे कसकर जकडनी चली गई। इसके इस सूनेपन और साँझ के सिन्दूर बिखरे झाऊ-वन में ऐसा कौन-सा जादू है, नहीं जानता। धीरे-धीरे मुझे ऐसा लगने लगा कि इस सुदूर प्रसारी वन-प्रातर को छोड़कर, यहाँ की धूप से जली माटी की ताजी खुशबू, वन-फूलों की महक, यह आजादी और यह उन्मुक्तता छोड कर अब कलकत्ता की हलचल में लौट सकना सभव नही।

ऐसा नही कि यह खयाल एक ही दिन मे हुआ हो। कितने रूप और बाने से मेरी मुग्ध और अनभ्यस्त दृष्टि के आगे आ-आकर जो इस वन्य प्रकृति ने मुझे लुभाया!—कितनी साँझ तो वह आई माथे पर अनुपम रक्तमेघ का मुकुट पहने, चिलचिलाती दोपहरियों मे आई उन्मादिनी भैरवी के वेश मे; कभी गहरी रात मे ज्योत्स्नावरणी सुर-सुन्दरी का रूप लिये हिमस्निग्ध वन-फूलों की गंध मले—गले मे आकाश भरे तारों की माला—अँधेरी रात मे कालपुरुष का अग्निखड्ग हाथ में लिये विराट् कालीमूर्ति के रूप में!

[चार]

एक दिन की बात तो मैं आजीवन न भूल सकूँगा। याद है, उस दिन होली थी। प्यादों ने छुट्टी ली थी और तमाम दिन ढोलक-झाँझ बजाकर होली खेलते रहे थे। शाम तक भी उनका नाच-गान खत्म नही हुआ था। यह देख कर मैंने कमरे की बत्ती जलाई। और बड़ी रात तक अपने कार्यालय के पत्रादि लिखे। घड़ी देखी। एक बज रहा था। मारे ठंढ के मानो जम रहा था। मैंने एक सिगरेट सुलगाई और खिडकी से बाहर झाँका। बाहर जो झाँका, तो मुग्ध और विस्मित होकर खड़ा ही रह गया! जिस चीज ने मुझे इस कदर मोह लिया, वह थी पूनो की चाँदनी। ऐसी चाँदनी कि बयान नहीं किया जा सकता।

जब से आया, जाड़ों के दिन होने की वजह से शायद काफी रात गए

कभी बाहर नही निकला, या दूसरे जिस किसी कारण से भी हो, फुलकिया बैहार मे परिपूर्ण चाँदनी रात का रूप मैने आज ही पहली बार देखा था।

दरवाजा खोल कर मै बाहर जा खडा हुआ। कहीं कोई नहीं था। प्यादे सारे दिन के मौज-मजे के बाद थक कर सो गए थे। घनघोर सन्नाटा, निस्तब्ध और सूनी रात। उस चाँदनी रात का वर्णन नही हो सकता। वैसी छायाविहीन चाँदनी मैने जिन्दगी मे कभी नही देखी, कभी नही। बडे-बडे पेड इधर कम ही है, झाऊ के छोटे-छोटे पौधे और कसाल। इनमें कुछ खास छाया नही होती। चकमकाती बालू मिली यहाँ की माटी और अधसूखे कास-वन पर उतर कर चाँदनी ने एक ऐसे अपार्थिव सौन्दर्य की सृष्टि की थी कि देख कर भय-सा हो गया। एक कैसा उदास, बंधनहीन भाव मन मे जाग पड़ा, मन हाहाकार कर उठा। चारो ओर निगाह फैलाकर उस मौन निशीथ मे , चाँदनी से धुले आसमान के नीचे खडे-खडे ऐसा लगा कि जैसे मै किसी अजाने परी-देश मे जा निकला हूँ—यहाँ मनुष्य का कोई नियम -कानून नही लग सकता। ये जन-विहीन एकान्त कोने गहरी रात हुए चाँदनी के आलोक से परियों की क्रीडा-भूमि बन जाते है। मैने यहाँ अनधिकार प्रवेश करके अच्छा नही किया।

इसके बाद तो फुलकिया बैहार की चाँदनी रात कितनी ही बार देखी—फागुन के बीचोबीच जब दुधली फूल खिल कर सारे मैदान मे रगीन गलीचा बिछा देते, तब वैसी कितनी ही चाँदनी से नहाई शुभ्र रातो मे मै जी भर कर हवा से दुधली फूलो की मीठी सुवास लेता रहा हूँ। हर बार जी मे यही आया किया कि चाँदनी भी ऐसी अपूर्व हो सकती है, यह ऐसा भी भय-मिश्रित उदासी का भाव मन मे जगा सकती है, अपनी तरफ रहते हुए कभी ऐसा सोच भी तो नहीं सका! उस चाँदनी की रूप-रेखा रखने की कोशिश भी न करूँगा, वैसे सौन्दर्य लोक का जब तक प्रत्यक्ष परिचय नही होता, तब तक कानों से सुन कर या पढ़ कर उसकी हर्गिज उपलब्धि नहीं हो सकती—होना मुमकिन नही। केवल वैसा ही मुक्त आकाश, वैसी ही निस्तब्धता, वैसा ही सूनापन, वैसी ही दिगंत विसर्पित वन-पंक्ति के बीच

वैसा रूप-लोक रूपायित हो सकता है। जिदगी मे एक बार भी वैसी चाँदनी रात देखनी चाहिए ; जिसने वह रात नही देखी, ईश्वर की सृष्टि का एक अपूरब रूप उसके लिए सदा-सदा को अनचीन्हा ही रह गया समझिए !

[पाँच]

एक दिन डीह आजमाबाद के सर्वे-कैंप मे लौट रहा था। साँझ का समय था। जंगल मे राह भुला बैठा। जगली जमीन हर जगह समतल नही थी। कही झाडी-झुरमुटो से ढँके बलुआही टीले, फिर दो टीलो के बीचो-बीच छोटी-सी उपत्यका। मगर जगल तमाम एक-सा। टीले पर चढ कर मैंने चारो तरफ निगाह दौडाई, किसी तरह कचहरी के महावीरी झडे की रोशनी दिखाई पड जाय , लेकिन रोशनी का कही नाम-निशान तक नही—सिर्फ ऊँचे-नीचे टोले और झाऊ-कसाल के जगल—बीच-बीच मे सखुए और आसान के पेड। दो-ढाई घंटे तक चक्कर काट कर भी जब कोई कूल-किनारा न मिल सका, तो याद आया, तारो से ही क्यो न मदद ली जाय ? गरमी के दिन, कालपुरुष ठीक माने पर उगा था। समझ नही सका, आखिर वह किधर से माथे की सीध मे आया ! सतभैया को भी खोज कर न निकाल सका। लाचार, ग्रहों से दिशा-निर्णय की उम्मीद छोड़ कर घोडे को उसी की मर्जी पर छोड़ दिया। कोई दो मील चलने पर जंगल मे एक जगह रोशनी दिखाई दी। उसी रोशनी को देख कर चलते-चलते वहाँ पहुँचा। लगभग बीस वर्गहाथ जमीन साफ-सुथरी कर ली गई थी। उसी मे खडी थी घास-फूस की एक झुकी-झुकी-सी झोंपड़ी। गरमी के दिन थे, फिर भी सामने आग जल रही थी। आग से थोड़ा हटकर एक आदमी बैठा-बैठा कुछ कर रहा था।

घोड़े के पैरो की आहट से चौक कर उसने झट से पूछा—"कौन ?" और तुरन्त मुझे पहचान कर वह पास आया। बडी खातिर से मुझे घोड़े पर से उतारा।

थक गया था। लगभग छै घंटे से घोडे की पीठ पर ही था। सर्वे-कैम्प

मे भी अमीन के पीछे-पीछे काफी चक्कर काटना पडा था। उसने घास की जो चटाई डाल दी, उसी पर बैठ गया। उसका नाम पूछा। बोला—"मेरा नाम गोनू महतो है—जात का गंगोता हूँ।" इतने दिन इस इलाके में रहा, मुझे पता था कि इधर के गंगोतों की जीविका खेती और पशुपालन है। मगर इस घने जंगल के बीच यह शख्स अकेला क्या करता है?

पूछा—"तुम यहाँ क्या करते हो? घर कहाँ है तुम्हारा?"

—"भैंसें चराता हूँ सरकार। घर यहाँ से दस कोस पडता है, उत्तर। धरमपुर-लछमिनियाँ टोला।"

—"भैंसे तुम्हारी अपनी है? कितनी होगी?"

बडे गर्व से वह बोला—"पाँच है हुजूर!"

"पाँच भैंसें?" मै तो दंग रह गया। महज पाँच भैंसें लेकर यह आदमी दस कोस की दूरी से आकर इस घने जंगल में झोंपडा बाँध कर रह रहा है, चरी की मालगुजारी दे रहा है! इस छोटी-सी झोपडी मे इसका समय गुजर कैसे जाता है? मै ठहरा कलकत्ता का नौजवान, थियेटर-बायस्कोप के वातावरण मे पला। यह बात मेरी समझ मे न आ सकी।

मगर इस इलाके में जब और दिन बीते, जानकारी की पूँजी और बढ़ी, तो बात समझ मे आई कि गोनू महतो आखिर वैसे क्यों रहता है। असल मे उसके जीवन की धारणा ही ऐसी थी, इसके सिवाय इसका और कोई कारण नही। पाँच भैंसें है, तो उन्हें चराना ही पड़ेगा और जब चराना पडेगा, तब जंगल में झोंपडा बाँध कर अकेला रहना ही पड़ेगा। निहायत मामूली-सी बात, इसमें ताज्जुब है भी क्या?

सखुए के पत्ते की एक चुट्टी (चुरुट) बना कर मुझे देते हुए गोनू ने मेरा स्वागत किया। आग की आभा मे मैंने उसका चेहरा देखा। खासा चौड़ा कपाल, ऊँची नाक, काला रंग—चेहरे पर सरलता, निगाह शांत। उमर साठ से ज्यादा होगी। सिर का एक भी बाल काला नही रह गया था। मगर बदन इतना गठा हुआ कि उस उमर में भी एक-एक नस गिन लीजिए।

आग मे उसने और कुछ लकडियाँ डाल दी। खुद भी एक चुट्टी सुल-

गाई। आग की आभा से झोपडे के अन्दर कभी-कभी पीतल का एकाध बर्त्तन झकमका उठता था। आग के चारों ओर गाढे अँधेरे का घेरा, घना जंगल। मैने कहा—"क्यो गोनू, इस घने जंगल में अकेले रहते हो, जीव-जन्तु का डर नही लगता?" वह बोला—"डरने से क्या हम गरीबों का गुजारा है हुजूर, यही रोजी ठहरी। उस दिन रात को झोपड़े के पीछे बाघ आ निकला। भैंस के दो बच्चे हैं। उन्ही पर उसकी नजर है। आहट पाते ही जग पड़ा। कनस्तर पीटता रहा, मशाल जलाई, चीख-पुकार मचाई, फिर तमाम रात सो नही सका हुजूर। जाडों मे तो ऐसा होता ही रहता है।"

—"खाते आखिर क्या हो यहाँ? दूकान तो है नहीं—चीजे कहाँ मिलती है? चावल, दाल—"

—"चीजें खरीदने को अपने पल्ले पैसे कहाँ है हुजूर और हमे क्या बंगाली बाबुओं की तरह खाने को रोज भात नसीब होता है? पास ही जंगल के पिछवाड़े दो बीघा जमीन है। खेड़ी उपजती है। जंगल में बथुआ मिल जाता है। खेडी और बथुआ उबाल लेता हूँ, थोड़ा-सा नमक ऊपर से। यही अपना खाना है। फागुन मे जंगल मे गुरमी होती है, नमक से कच्ची गुरमी मजे की लगती है। लत्तड़ होती है उसकी-छोटा-छोटा फल। इधर के गरीब लोग महीना भर तो गुरमी खाकर ही काट देते है। गुरमी के लिए दुनिया-भर के लोग यहाँ आते रहते है।"

पूछा—"आखिर रोज-रोज खेड़ी और बथुआ उबाल कर खाना अच्छा लगता है?"

—"और दूसरा उपाय ही क्या है हुजूर? दोनों जून भात कहाँ से नसीब हो? इलाके-भर में केवल दो ही आदमी दोनों जून भात खाते है—रासबिहारीसिंह और नन्दलाल पांडेय। तमाम दिन भैंसों के पीछे दौड़ता है, शाम को लौटते-लौटते इतनी तेज भूख लग जाती है कि जो भी मिल जाता है, वही अच्छा लगता है।"

मैंने पूछा—"तुमने कलकत्ता शहर देखा है गोनू ?"

—"जी नही हुजूर, सुना है। भागलपुर एक बार गया हूँ—बड़ा भारी शहर है। हवागाड़ी देखी। अचरज की चीज है हुजूर। न घोड़ा, न कुछ और मजे में चलती है।"

इस उम्र में उसकी ऐसी तन्दुरुस्ती देख कर ताज्जुब हुआ। उसमे हिम्मत भी है, यह भी मानना पड़ा।

गिनी-चुनी ये भैसे ही गोनू के गुजारे का एकमात्र सहारा थी। जंगल मे दूध तो खैर कहाँ बिकता, वह मक्खन निकाल कर घी गलाता। तीन महीने का घी जमा करके यहा से नौ मील दूर धरमपुर बाजार मे मारवाडियो के हाथ बेच आता। इसके सिवाय खेडी का दो बीघा खेत था। खेडी तो इधर के लगभग सभी गरीबों का प्रधान खाद्य ही ठहरा। गोनू मुझे कचहरी तक पहुँचा गया। मुझे वह इतना अच्छा लगा कि कितनी ही बार साँझ को मैं वहाँ गया। झोपड़े के सामने आग तापते हुए उससे बाते कीं। गोनू से उधर की जितनी खोज-खबर मिली, उतनी कोई नही दे सकता।

कितने ही अजीबो-गरीब किस्से गोनू से मैंने सुने। उडने वाले साँप की कहानी, जीते पत्थर की कहानी, तुरन्त पैदा होकर चलने वाले लड़के की कहानी, और भी न जाने क्या-क्या। जंगल के उस निर्जन पारिपार्श्विक में वे कहानियाँ बड़ी उपयोगी और रहस्यमय मालूम होतीं—यों मै जानता हूँ कि अगर कलकत्ता मे उन्हे सुनता, तो वे अनोखी और झूठी लगती। जो भी कहानी जहाँ-कही भी नही रुचती, कहानी का माधुर्य उसकी पृष्ठभूमि और पारिपार्श्वक पर कितना ज्यादा निर्भर करता है, यह कहानी-प्रिय प्रत्येक व्यक्ति जानता है। गोनू के सभी अनुभवो में से जंगली भैसो के देवता टाँड़बारो का किस्सा मुझे बड़ा आश्चर्यजनक लगा।

लेकिन चूँकि उस किस्से का एक अद्‌भुत उपसंहार है, इसलिए उसे यथास्थान कहूँगा। एक बात बताए देता हूँ कि गोनू की ये कहानियाँ रूप-

कथा नही, उसकी अपनी अभिज्ञता थी। गोनू ने जिन्दगी को देखा है, मगर दूसरे ढग से। सारी जिन्दगी जंगल मे बिता कर वह जगली प्रकृति का विशेषज्ञ बन गया था। उसकी बाते यो ही उड़ा देने लायक नहीं। मुझे यह भी नही लगा कि इतनी बाते गढ कर कहने-जैसी कल्पना-शक्ति उसमे है।

तीसरा परिच्छेद

[एक]

गरमी के दिन आते ही पीरपैंती की तरफ से उडकर बगलों की जमात ने ग्रांट साहब के बरगद पर अड्डा जमा दिया। दूर से ऐसा लगता था कि पेड़ की चोटी सफेद फूलो से लद गई है।

एक रोज मैं अधसूखे कास के वन के किनारे मेज लगाकर काम कर रहा था कि मुनेश्वरसिंह प्यादे ने आकर कहा—"हुजूर, नन्दलाल ओझा गोलावाला आपसे मिलने आए है।"

जरा ही देर मे, प्रायः पचास साल का एक बूढा आदमी मेरे सामने आया और सलाम करके खड़ा हो गया। मेरे इशारे से वह पास की तिपाई पर बैठ गया। बैठते ही उसने एक रेशमी बटुआ निकाला, फिर बटुए में से एक बहुत ही छोटा सरौता और दो सुपारियाँ निकाल कर काटने लगा। दोनों हाथों मे कटी सुपारी रखकर आदर से मेरी ओर बढ़ाता हुआ वह बोला—"लीजिए हुजूर!"

इस तरह से सुपारी खाने की मेरी आदत तो नही थी, पर भद्रता के नाते ले ली। पूछा—"आप कहाँ से आ रहे है। क्या काम है?"

उसने जवाब में बताया—उसका नाम नन्दलाल ओझा है, मैथिल ब्राह्मण। यहाँ से ग्यारह मील दूर जगल के उत्तर-पूरब कोने मे सुगठिया दीयरा मे उसका घर है। काश्तकारी है, कुछ महाजनी भी। अगली पूर्णिमा के दिन मुझे अपने घर भोजन करने का न्योता देने आया है। उसने पूछा—"क्या आप मेरे घर अपने चरणों की धूल देने की कृपा करेगे? यह सौभाग्य पा सकूगा मै?"

ग्यारह मील चल कर न्योता खाने की अपनी इच्छा नही थी; लेकिन

ओझा बुरी तरह पीछे पड गया। लाचार होकर मैने हामी भर दी। इधर के लोगो के बारे मे कुछ जानकारी पाने का लोभ भी छोडते न बना।

पूर्णिमा के दिन भरी दोपहरी मे कास की झुरमुटो से किसी का हाथी आता हुआ दिखाई पड़ा। हाथी मेरी कचहरी मे आकर रुका। महावत से मालूम हुआ, वह नन्दलाल ओझा का अपना हाथी है। मुझे लिवा लाने के लिए भेजा है।—"इसकी कोई जरूरत तो नही थी। अपने घोडे से मै इससे कम ही समय मे पहुँच सकता था। खैर।"

हाथी से ही रवाना हुआ। हरे-भरे वन का माथा मेरे पैरों तले और आकाश मानों मेरे माथे से आ लगा। दूर-दूर तक फैली गिरिमाला ने इस वनभूमि को घेर कर जैसे किसी मायालोक की रचना की हो और मै उसी मायालोक का अधिवासी होऊँ—स्वर्ग का देवता। कितनी ही मेघमालाओं के नीचे के श्यामल भूमि-खंडों पर के नील वायु-मंडल को पार करता हुआ मेरा यह अदृश्य आवागमन!

रास्ते मे चमटा की खाई मिली। सर्दियों का अन्त हो रहा था, फिर भी सिल्ली और बत्तखों के झुडों से खाई भरी थी। जरा और गरमी पड़ी नहीं कि ये उड भागे। जगह-जगह गरीब बस्तियाँ। कॉटों से घिरे तम्बाकू के खेत और झोपडे।

हाथी आखिर सुगठिया मे पहुँचा। मैंने देखा—मेरे स्वागत मे रास्ते के दोनों ओर कतार बॉधे लोग खड़े है। गॉव मे घुसते ही थोड़ी दूर पर नन्दलाल का घर था।

आठ-दस घर अलग-अलग एक बहुत बडे ऑगन से सम्बद्ध। मै घर में दाखिल हुआ कि अचानक बन्दूक की दो आवाजें हुई। मै चौक-सा गया। इतने में सामने आकर नन्दलाल ने मेरा स्वागत किया। अन्दर ले जाकर एक बरामदे मे कुर्सी पर मुझे बिठाया। कुर्सी सीसम की लकडी और गाँव के ही कारीगर के हाथ की बनी थी। इसके बाद दस-ग्यारह साल की एक लडकी हाथ मे थाली लिए मेरे सामने आ खडी हुई—थाली मे कई तो थे पान के पत्ते, कई समूची सुपारियाँ, मधुपर्क के-से एक छोटे कटोरे मे जरा-

सा इत्र, दो-चार सूखे खजूर ; इनका क्या करना होता है, यह मुझे मालूम न था। मै अनाड़ी जैसा हँसा और अँगुली की कोर डुबा कर केवल जरा-सा इत्र-भर लेकर रह गया। उस बच्ची से दो मीठी बातें कीं। वह थाली वहीं रखकर चली गई।

उसके बाद आई खाने की बारी। मैंने यह सोचा भी नही था कि नन्द-लाल ने खाने का ऐसा जम कर इन्तजाम किया है। बैठने के लिए लकड़ी का एक बहुत बड़ा पीढा। उसके सामने आई एक इतनी बड़ी पीतल की थाली, जैसी कि हमारी तरफ पूजा का प्रसाद बॉटने के लिए होती है। थाली मे परसी गई हाथी के कान जितनी बड़ी पूरी, बथुआ का साग, खीरे का रायता, कच्ची इमली की तरकारी, भैंस के दूध का दही, पेडे। खाने की चीजों का ऐसा अनोखा मेल मैंने और कही नहीं देखा था। ऑगन मे मुझे देखने वालों की भीड़ लग गई। सब मुझे कुछ इस तरह से ताकने लगे, मानो मै कोई अनोखा जीव हूँ। पता चला, ये सब लोग नन्दलाल की रैयत है।

सॉझ से पहले जब मै चलने लगा, तो नन्दलाल ने एक छोटी-सी थैली मुझे थमाकर कहा—"हुजूर का नजराना।" मै हैरत मे आ गया। थैली में काफी रुपए थे। पचास से कम न होगे। नजराने मे कोई किसी को इतने रुपये क्यों दे भला, फिर नन्दलाल तो अपनी रैयत भी न था। भेंट लौटा देना भी शायद अपमान समझा जाता हो। सो मैंने थैली मे से एक रुपया निकाल लिया और थैली उसे देते हुए बोला—"इन रुपयो के बच्चो को पेड़े ला देना।"

नन्दलाल थैली लेने को किसी भी तरह राजी नही था। मैंने उसकी सारी अनसुनी कर दी और बाहर आकर हाथी पर सवार हो गया।

दूसरे ही दिन नंदलाल मेरी कचहरी में हाजिर ! साथ में पहुँचा उसका बड़ा लड़का। मैंने उनकी बहुत आव-भगत की ; लेकिन वे खाने को हर्गिज राजी न हुए। पता चला कि दूसरे ब्राह्मण की बनाई रसोई मैथिल ब्राह्मण नही खाते। इधर-उधर की बहुतेरी बाते हुईं। अंत मे नंदलाल ने अपनी सुनाई कि उसका यह लड़का फुलकिया बैहार की तहसीलदारी

का उम्मीदवार है। कृपा करके इसकी बहाली करनी पडेगी। मैंने अचरज से कहा—"यहाँ का तहसीलदार तो पहले ही से है। वह जगह खाली कहाँ है ? " जवाब मे नंदलाल ने कनखी मारकर कहा—"मालिक तो आप हैं हुजूर, आप चाहें तो क्या नही हो सकता ? "

मुझे और भी अचरज हुआ—"कहते क्या है आप ? बेचारा तहसील-दार अच्छा ही काम कर रहा है, उसे आखिर अलग किस कसूर पर करूँ। "

नदलाल बोला—"हुक्म फरमाएँ, हुजूर को पान खाने के लिए कितने रुपए पेश करूँ। आज ही साँझ को रुपए हाजिर हो जायँगे। मगर यह तहसील-दारी हुजूर मेरे बेटे को देनी ही पडेगी। कितने रुपए हाजिर करें—पाँच सौ ? "

अब मेरी समझ मे आया कि नंदलाल के न्योते का वास्तव मे मतलब क्या था। अगर मैं यह जानता होता कि इधर के लोग ऐसे फरेबी है, तो हरगिज भी न जाता। यह तो अच्छी मुसीबत मोल ली मैंने !

मैंने नंदलाल को साफ-साफ ही कहकर रुखसत किया। मगर यह भी मैं समझ गया कि वह अभी ना-उम्मीद नही हुआ है।

और एक दिन देखा कि जंगल के किनारे खड़ा हुआ नन्दलाल मेरी राह देख रहा है।

किस बुरी साइत मे इस कंबख्त का न्योता खाने गया था। अगर मालूम होता कि दो पूरियाँ खिलाकर यह इस कदर मेरी नाक मे दम कर देगा, तो उसकी छाया भी न छूता !

मीठा हँसकर वह बोला—"नमस्ते हुजूर ! "

—"हुँ। क्या खबर है ? "

—"खबर क्या हुजूर से छिपी है। मैं हुजूर को बारह सौ रुपए नकद देने को तैयार हूँ। मे बेटे को उस जगह पर बिठा दे। "

—"पागल हुए हो नंदलाल। अरे, बहाल करने का मालिक मैं थोडे ही हूँ। जिनकी जमीदारी है, उनके पास दरखास्त भेज सकते हो। फिर

बात यह भी है कि बहरहाल उस जगह पर जो काम कर रहा है, उसे किस कसूर पर छुडाया जाय ? ”

मैंने और ज्यादा कुछ न कहा—“घोडे को एड लगाई। अपने ऐसे रूखे व्यवहार से आखिर नदलाल को मैंने अपना और जमीदारी का कट्टर दुश्मन बना लिया। तब भी मै नही जान सका था कि वह कितना खौफनाक आदमी है। मुझे अच्छी तरह इसका फल भोगना पडा।

[दो]

उन्नीस मील दूर डाकघर से डाक लाना यहाॅ की एक निहायत जरूरी घटना थी। इतनी दूर रोज-रोज आदमी भेज सकना तो सभव नही था, सो हफ्ते मे दो बार डाक के लिए आदमी जाता था। मध्य एशिया की अपार और भयावनी मरुभूमि के तंबू मे बैठे मशहूर पर्यटक सेवेन हेडिन भी शायद ऐसी ही बेसब्री से डाक का इतजार करते होगे। यहाॅ आए आठ-नौ महीने हो गए। इस सूने वनप्रांतर मे सूर्यास्त, चद्रोदय, चाॅदनी और नीलगायों की दौड़ को देखते हुए जिस बाहरी दुनिया से अपना सारा संबध ही चुक गया था, डाक से आनेवाली कुछेक चिट्ठियो से कुछ हद तक वह संयोग स्थापित होता था।

जवाहरसिह डाक लाने गया था। आज दोपहर को उसे डाक लेकर लौटना था। मै बार-बार अदर-बाहर कर रहा था। मेरी और उस बगाली मुहर्रिर बाबू की निगाह दूर जगल की ओर अटकी हुई थी। यहाॅ से कोई डेढ़ मील पर एक टेकरी थी। राह उसी पर से गई थी। उस पर पहुचते ही जवाहरसिह साफ दिखाई पडता था।

दोपहर हो गई, मगर उसका कही भी पता नही। मै कभी अंदर जाता, कभी बाहर चहलकदमी करता। यहाॅ काम कुछ कम था नही। अलग-अलग अमीनों का विवरण पढना, रोज के रोकड पर हस्ताक्षर करना, सदर से आई हुई चिट्ठियो का जवाब देना, पटवारी और तहसीलदार की वसूली का हिसाब, आई हुई दरखास्तो पर कार्रवाइयाॅ, मुॅगेर, पूर्णियाॅ, भागलपुर

में जो मामले लगे थे, उनके बारे मे वकील और कारिदों के ब्योरे देखना और जवाब देना—और भी बहुत-से बडे-छोटे काम। रोज का काम ेज निबटा न लिया जाता, तो इतने काम जमा हो जाते कि जान पर आ बनती। और डाक के साथ तो ढेरो नई जिम्मेदारियाँ आ जाती—तरह-तरह के खत, तरह-तरह के हुक्म—यहाँ जाइए, उनसे मिलकर अमुक जगह बंदोवस्त कीजिए इत्यादि-इत्यादि।

दिन के कोई तीन बजे दूर पर जवाहरसिह की सफेद पगडी चमकती दिखाई पडी। बंगाली मुहर्रिर बाबू ने आवाज दी—"मैनेजर साहब, आइए, डाक-प्यादा आ रहा है। वह, वहाँ—"

मै दफ्तर से बाहर निकला। इतने मे जवाहरसिंह टेकरी से उतर कर फिर जंगल में धँस पडा था। मैंने ऑपेरा-ग्लास मँगवाकर गौर से देखा, जंगल की आड-ओट में वह आता दिखाई दिया। दफ्तर में फिर जी नहीं लगा। उफ, कैसा बेसब्र इंतजार है! जो चीज जितनी ही मुश्किल से मिलनेवाली होती है, मनुष्य के लिए वह उतनी ही ज्यादा कीमती होती है। यह जरूर है कि वह कीमत मनुष्य की अपनी ऑकी हुई, कृत्रिम होती है, जिस चीज को हम चाहते है, उसकी अच्छाई-बुराई से हकीकत में उसका कोई लगाव नही होता। मगर दुनिया की ज्यादा-से-ज्यादा चीजो पर हम एक नकली कीमत थोपकर उसे बडी-छोटी समझने के आदी है।

कचहरी के सामने ही बलुआही जमीन के उस पार आ धमका जवाहरसिंह। मै कुर्सी पर से उठ गया। मुहर्रिर साहब आगे बढ गए। जवाहर ने उन्हें सलाम किया और जेब मे से चिट्ठियाँ निकालकर उन्हे दी।

दो-एक पत्र मेरे अपने भी थे—बहुत ही जाने-पहचाने अक्षर। उन्हें पढते-पढ़ते अपने चारों ओर के जंगल को ताक कर मैं अवाक् रह गया। यह मैं हूँ कहाँ! जिदगी मे कभी स्वप्न में भी नही सोचा था कि मै कभी ऐसी जगह भी रहूँगा, दिन-पर-दिन, महीने-पर-महीने गुजारूँगा। एक विदेशी पत्र का ग्राहक बन गया था। वह पत्र आज की डाक मे आया था। ऊपर ही लिखा था—'हवाई डाक से'। जहाँ मारे आदमी के तिल धरने

की जगह नही, ऐसे कलकत्ता शहर मे बैठकर क्या समझा जा सकता है कि बीसवी सदी के इस वैज्ञानिक आविष्कार की सहूलियत क्या है! यहाँ, इस सुनसान बियाबान में बहुत कुछ सोचने और सोचकर दंग रह जाने की गुजाइश है—यहाँ की पारिपार्श्विक अवस्था वैसी अनुभूति ला देती है।

अगर सच कहूँ, तो कहूँगा कि जिदगी मे सोचने का सबक यही आकर पढा है। मन मे जाने कितनी ही बाते जगती, कितनी पुरानी बाते याद आती—अपने मन को इस तरह से उपभोग करने का मौका और कभी नही मिला। यहाँ हर असुविधा के बावजूद यह आनद नशे की तरह दिन-दिन मुझ पर सवार होता जा रहा था।

और सच पूछिए तो मै प्रशात महासागर के किसी जन-हीन टापू में निर्वासित तो नहीं था! शायद बत्तीस मील पर रेल का स्टेशन था। चाहता तो महज घंटे भर में पूर्णियां और तीन घंटे मे मुंगेर पहुँच सकता था; लेकिन एक तो स्टेशन तक जाना ही एक कठिन काम था, फिर वह कठिनाई झेली भी जा सकती, बशर्ते कि पूर्णियाँ या मुगेर जाकर कोई फायदा होता। जाकर लाभ भी क्या था, न वहाँ कोई मुझे पहचानता था, न मैं किसी को जानता था। जाकर भी क्या होगा?

कलकत्ता से आने के बाद किताबो और साथियों की कमी बेतरह खटकती रही। कितनी ही बार सोचा कि नही, यहाँ रहना अपने बस की बात नही। अपने लिए तो सर्वस्व कलकत्ता ही है। मुगेर और पूर्णियाँ में अपना पुरसाँहाल ही कौन है, जिसके पास जाऊँ? लेकिन सदर दफ्तर की इजाजत के बिना कलकत्ता जा नही सकता था, फिर खर्च इतना ज्यादा था कि सिर्फ दो-चार दिन के लिए जाना पुसाता नही था।

[तीन]

दुख-सुख से कई महीने गुजर जाने के बाद चैत खत्म होते-होते एक ऐसी घटना का सूत्रपात हुआ, जो मेरी अभिज्ञता मे कभी थी ही नहीं।

पूस मे नाम-मात्र की बारिश हुई थी। उसके बाद ही से अनावृष्टि के आसार। माघ मे पानी नही पडा, फागुन मे नही, चैत मे नही, वैशाख मे नही। साथ ही जैसी पडी शिद्दत की गरमी, वैसा ही आया घोर जल-कष्ट।

केवल गरमी और जलकष्ट कहने से उस विभीषिका के प्राकृतिक विपर्यय का स्वरूप नही समझाया जा सकता। उत्तर मे आजमाबाद से दक्खिन मे किसनपुर तक, पूरब मे फुलकिया बैहार और नवटोलिया से लेकर पश्चिम मे मुगेर जिले की सरहद तक—सारे जगल मे जहाँ-जहाँ भी खाई, खदक, कुड थे, सब सूख गए। कुआँ खोदने से भी पानी नही मिलता था। बालू मे चुँआडी खोदने पर थोडा-बहुत पानी मिलता भी था ; पर एक डोल पानी जमने मे घटा भर से ज्यादा लग जाता। चारो ओर हाहाकार मच गया। पूरब मे कोसी ही एकमात्र भरोसा थी, वह भी हमारे इलाके की पूरबी हद से सात-आठ मील पर थी—मशहूर मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट के उस पार। अपनी जमीदारी और मोहनपुरा होकर नेपाल की तराई से एक पहाडी नदी बहती थी, लेकिन इस समय बालू और चट्टानो मे उसके चरणचिह्न ही ढँके पडे थे। बालू खोदकर जो थोडा-सा पानी मिलता, उसी के लोभ से कितनी दूर-दूर के गाँवो से घडा लिये औरते जाती और तमाम दोपहर बालू-कीचड से माथा कूटकर आधा घडा कदोड पानी लिये घर लौटती।

किंतु यह पहाडी नदी, मिट्टी, हमारे किसी काम नही आती। बहुत दूर पडती थी। कचहरी मे पक्का बँधा कोई बड़ा कुआँ नही था। जो छोटा-सा कुआँ था भी, उससे पीने भर का पानी जुटा सकना एक समस्या हो उठी। महज तीन डोल पानी इकट्ठा होते-होते सबेरे से दोपहर हो जाती।

दोपहर में बाहर खडे होकर ताँबे से तपे और आग उगलनेवाले आसमान तथा अधसूखे झाऊ और घास के जगल की ओर देखने मे डर लगता। दिशाएँ जैसे धू-धू कर जल रही हो, बीच-बीच मे लहकती आग की लपटों से गरम हवा के झोंके बदन को झुलसा देते। सूरज की ऐसी शकल, दोपहर

की धूप का ऐसा भयानक रुद्र-रूप न तो मैंने कभी देखा था और न इसकी कल्पना ही की थी। किसी-किसी रोज पश्चिम से बालू की आँधी उठती। इन इलाको मे चैत-वैशाख पछुवा हवा का समय है। कचहरी से सौ गज की दूरी की चीजे भी बालू और धूल के बादल से दिखाई नही पड़ती।

रामधनियाँ टहलू प्राय आकर बताता—"हुजूर, कुएँ मे पानी नही है। किसी-किसी दिन तो वह दिन मे घटीभर उपछ-उपछ कर मेरे स्नान करने के लिए आधी बालटी गला हुआ कीचड ही ला देता। उस भयानक गरमी मे उन दिनो वही अमूल्य था।

एक दिन दोपहर के बाद मै कचहरी के पिछवाडे एक बहेडे के पेड की छाया मे खडा था। सहसा चारों तरफ का नज़ारा देखकर मन मे आया, दोपहर की ऐसी शक्ल कभी देखी तो नही है, यहाँ से जाने के बाद कभी देख भी न पाऊँगा। बंगाल की दोपहरी जनम-जनम से देखता रहा हूँ, जेठ की जलती हुई दोपहरी बहुत देखी, लेकिन उसकी ऐसी रुद्र-मूर्ति कहाँ! मुझे इस भीम-भैरव रूप ने मोह लिया। सूरज की तरफ ताका, जैसे एक विराट् आग का कुडा कैलसियम जल रहा है, हाइड्रोजन जल रहा है, निकेल और कोबाल्ट जल रहा है। जानी-अजानी सैकडो प्रकार की गैसे और धातु एक करोड योजन व्यास की उस भट्ठी मे एक साथ धधक रही है और उसी की धू-धू करती लपटे असीम शून्य के ईथर की परतो को पार करके फुलकिया बैहार और लोधई टोले की दूर तक फैली तृणभूमि को छू रही है। उन लपटों ने हरियाली के रेशे-रेशे से रस को सोख लिया है और दिगंत को झुलसाकर नाश का तांडव नाचना शुरू कर दिया है। दूर तक आँखे दौडाई, प्रांतर मे तमाम खेल रही थी तापतरंगे और ताप से घिर आई थी। ऊपर-ऊपर धुंधले कुहरे की परत। गरमी की दोपहरी मे यहाँ मैंने नीला आसमान क्यो नही देखा, देखा, ताम्राभ, मटमैला। एक भी गिद्ध या चील नही, चिड़ियाँ इलाके को छोडकर और कहीं चली गई है। इस दोपहर का कैसा अनोखा सौदर्य निखर आया है! तीखे उत्ताप की उपेक्षा करके मै बहेडे के नीचे कुछ देर तक खडा रहा। सहारा की मरुभूमि मैंने नहीं देखी, सेवेन हेडिन का

टकला-मकान रेगिस्तान नही देखा, गोवि नही देखी, मगर यहाँ दोपहर के इस रुद्र-भैरव रूप मे उन सभी जगहो की धुंधली झाँकी अवश्य मिल गई।

कचहरी से तीन मील पर पेड-पौधों की सघनता से घिरे एक कुड में कुछ पानी था। सुना था, पिछले साल बरसात मे उसमे मछलियाँ खूब हुई थी। कुड में गहराई थी। इसीलिए इस सूखे मौसम मे भी वह एक बारगी सूखा नही था। लेकिन उस कुड का पानी किसी के काम नही आता था। एक तो वहाँ से बडी दूर तक कही आवादी नही थी, दूसरे पानी तक पहुँचने मे बडी दलदल थी, पाँव रखिए कि कमर तक धँस जाय। घड़ा-भर कर किनारे पर लौट आने की उम्मीद ही न थी। एक वजह और भी थी कि उसका पानी अच्छा नही था, नहाने-पीने के बिलकुल योग्य नही। पानी मे क्या कुछ मिला था, पता नही , पर उसमे से एक अजीब-सी बू आती थी।

एक दिन जब पछुआ के हू-हू करनेवाले झोंके धीमे पडे और ताप कम हो आया, तो मै घोडे पर उस कुड के पास पहुँचा। पीछे ग्राट साहब के उस बड़े बरगद की ओट मे सूरज डूब रहा था। कचहरी का थोडा-सा पानी बच जायगा, यह सोचकर मैंने घोडे को वहाँ पानी पिलाना चाहा। जितनी ही दलदल चाहे हो, पानी पीकर घोडा जरूर निकल आयगा। सो मै झाड़ियाँ पार करके कुंड के करीब गया। कुड के किनारे एक अद्भुत दृश्य नजर आया। कुड के चारों-तरफ आठ-दस छोटे-बडे साँप और तीन बड़े-बड़े भैंसे एक साथ पानी पी रहे थे। साँप सभी विषैले थे, करैत और शंखचित्ते, जो आम तौर पर इधर पाए जाते है।

ऐसे भैसे मैने और कभी नही देखे। बडे-बडे सीग, बदन मे लबे रोएँ और प्रकांड शरीर। पास मे न कोई बस्ती थी, न बथाना। फिर ये भैंसे आए कहाँ से, कुछ समझ नही सका। सोचा—हो सकता है चरी की मालगुजारी न देनी पड़े, इस नीयत से चोरी-चोरी किसी ने कहीं आस-पास बथान रक्खा हो शायद ! लौटकर कचहरी के पास पहुँचा कि मुनेश्वरसिंह से भेंट हो

गई। उससे जब इस सम्बन्ध में पूछा तो वह चौक उठा—"हनुमानजी की कृपा हुजूर कि सही सलामत लौट आए। वे पालतू नही, जंगली भैसे थे हुजूर, खूँखार जंगली भैसे! मोहनपुरा के जंगल से पानी की तलाश में आ गए होंगे। वहाँ कही पानी नही है।"

कचहरी में तुरत ही यह बात फैल गई। एक स्वर से सब ने यही कहा—"भाग्य था कि बच गए हुजूर! बाघ से तो फिर भी बच सकते है आप, मगर जंगली भैसे के हाथो पडने से खैर नही। और ऐसी साँझ को उस सुनसान मे अगर भैसे टूट पडते, तो घोडे को भगाकर आप उनसे हर्गिज नही निकल सकते थे।"

उसके बाद से तो वह कुंड जंगली जानवरो के पानी पीने का एक प्रधान अड्डा बन गया। सूखा जितना ही बढता गया, धूप की बढती हुई प्रखरता से दावदाह जितनी ही प्रचंड होती गई, क्रमशः खबर मिलने लगी कि उस कुड में लोगों ने बाघ को पानी पीते देखा, जंगली भैसे को पानी पीते देखा, हिरनों के झुड को पानी पीते देखा—नीलगाय और जंगली सूअरों की तो बात ही क्या, ये दोनो जानवर तो यहाँ बहुत ही ज्यादा थे। एक दिन मै खुद घोडे पर सवार होकर चाँदनी रात मे वहाँ शिकार को गया, साथ में तीन-चार प्यादे, दो-तीन बंदूके भी थी। उस रात को जो दृश्य मैंने वहाँ देखा, वह जिंदगी भर नही भुलाया जा सकता। उसे समझने के लिए कल्पना में एक निर्जन चाँदनी रात और दूर तक फैले वन-प्रातर की तसवीर आँक लेने की जरूरत है! जरूरत है कल्पना करने की—सारी वन-भूमि पर थमकते हुए एक अजीब सन्नाटे की। यद्यपि बिना अनुभव के वैसे सन्नाटे की कल्पना ही असंभव है!

अधसूखे कसाल की गंध से सूखी बयार भर गई थी। बस्ती से बहुत दूर निकल आया था, दिशा का ज्ञान खो बैठा था।

कुंड मे एक तरफ दो नीलगाये और एक तरफ दो हायना चुपचाप पानी पी रहे थे; कभी नीलगाये हायना को ताक लेती थी, कभी हायना नील-गायों को। दोनों के बीच नीलगाय का दो-तीन महीने का एक नन्हा-सा

बच्चा खड़ा था। ऐसा करुणाजनक दृश्य मैंने कभी नही देखा—देखकर मुझे उन प्यास से आकुल निरीह जानवरो पर गोली चलाने की इच्छा नही हुई।

वैशाख बीत गया। बूद भर पानी का ठिकाना नहीं। एक नई मुसीबत आई। इस इतने बड़े वन-प्रातर मे अक्सर राही भटक जाया करते थे। अब वैसे भटके हुओ की जान जाने की नौबत आ गई; इसलिए कि आस-पास कही पानी न था। फुलकिया बैहार से ग्राट साहब के बरगद तक की विशाल वन-भूमि मे कही बूँद-भर भी पानी मिलने की गुजाइश नही। एकाध जगह सूखे कुड थे भी, तो राह-भूले पथिको के लिए उन्हें ढूँढ निकालना आसान न था। एक रोज की घटना सुनाऊँ।

[चार]

दिन के चार बजे थे। गर्मी के मारे किसी काम मे जी नही लग रहा था। न जाने कौन-सी किताब लेकर पढ रहा था कि रामबिरिजसिह ने आकर इत्तला दी—"हुजूर, कचहरी के पश्चिम वाले उस टीले पर एक अजीब पागल-सा आदमी नज़र आ रहा है, वह हाथ-पाँव के इशारे से कुछ बता रहा है।" मै बाहर निकला तो देखा, सचमुच ही टीले पर कोई खडा था। ऐसा लगा, शराबी की तरह झूमता-झामता वह इसी तरफ आ रहा है। कचहरी के जितने भी लोग थे, सब मुँह बाए उसी तरफ देख रहे थे। मैंने उसे लिवा लाने के लिए दो प्यादों को भेज दिया।

प्यादे उसे ले आए। उसके बदन पर कोई कपडा नही था। सिर्फ एक साफ धोती पहने था, चेहरा अच्छा था, रँग गोरा; लेकिन उसकी शकल बडी भयानक हो गई थी, गाल के दोनो किनारों से फेन छूट रहा था, दोनों आँखें गुड़हल के फूल-जैसी गहरी लाल थी, और निगाह पागल-जैसी थी। बरामदे पर एक डोल मे पानी था—नजर पडते ही वह पागल की तरह उस पर टूट पडा। मुनेश्वरसिह ने लपककर डोल को वहाँ से हटा लिया। उस आदमी को बिठाकर उसका मुँह खुलवाकर देखा, उसकी जीभ फूलकर

बड़ी घिनौनी-सी हो गई थी। बड़े कष्ट से उसकी जीभ को एक तरफ हटाकर बूँद-बूँद पानी उसके मुँह मे टपकाया गया। आध घंटे मे वह कुछ होश में आया। नीबू का रस मिलाकर एक गिलास गरम पानी उसे पिलाया गया। धीरे-धीरे घंटे भर मे वह चंगा हो गया। पता चला, घर उसका पटना है। लाह की खेती करने के इरादे से वह बेर के जगल की खोज में इधर आया। पूर्णियाँ से दो दिन पहले ही चला है। आज दोपहर के लगभग वह इस हलके में आया और भटक गया। जंगल का यहाँ एक-जैसा ही सिलसिला है, उसमे राह भूल जाना आसान बात है, खासकर किसी विदेशी के लिए। कल की उस खौफनाक लू-लपट मे वह तमाम दोपहर भटकता फिरा, न किसी आदमी से कही भेट हुई, न कही पानी की एक बूँद नसीब हुई। लाचार होकर रात में एक पेड़ के नीचे पड़ रहा। आज सुबह से फिर उसने चक्कर काटना शुरू किया। ठढे दिमाग से जरा सूरज की तरफ देखकर सोचता तो दिशा का पता चल सकता था, कम-से-कम पूर्णियाँ तक तो लौट ही सकता था, लेकिन डर के मारे किंकर्त्तव्यविमूढ होकर कभी इधर, तो कभी उधर टकराता फिरा। दोपहर को देर तक जोर-जोर से चीखता-चिल्लाता रहा कि कोई आदमी मदद को मिल जाय ; मगर आदमी कहाँ ? फुलकिया बैहार मे बेर का जगल जिधर था, वहाँ से नवटोलिया, कोई दस-बारह वर्गमील के इलाके मे कही बस्ती नही—सारा वन-प्रातर जन-मानव-हीन और सुनसान। लिहाजा उसकी चीख-पुकार किसी ने नही सुनी, तो ताज्जुब क्या! उसके इस बेतरह डर जाने की एक वजह और भी थी। उसे लगा कि वह जिन (भूत) के चंगुल में पड गया है। वह जान लिये बिना पिड नही छोडने का। बदन पर उसके कुरता था। आज दोपहर के बाद मारे प्यास के सारे बदन मे ऐसी जलन शुरू हुई कि जाने कहाँ उसे उतार कर फेंक दिया। अगर इस कचहरी की महावीरी ध्वजा अचानक उसे दिखाई नही पड जाती, तो आज शायद वह जिदा भी नही रह पाता।

ऐसी ही गरमी और जल-कष्ट के दिनों में एक रोज दोपहर को खबर मिली कि मील भर दूर नैऋत कोने के जंगल मे आग लग गई है। और

वह आग फैलती हुई इसी तरफ को बढ़ती आ रही है। सुनते ही हम सब लपक कर बाहर निकल पड़े। देखा, धुएँ के बादल के साथ आग की लोल लपटें लपलपाती हुई आसमान को उठ रही है! उस दिन पछुआ के झोंके भी चल रहे थे। इस तीखी धूप से कसाल और घास तो अधसूखी होकर बारूद बन रही थी! किसी चिनगी ने छुआ नही कि सारी झाड़ी लहक उठी। चारों तरफ धुएँ के नीले बादल और आग की लपटे और चट्-चट् की आवाज। हवा के झोंकों के साथ-साथ आग की आडी-टेढी लपटे डाक-गाड़ी की तेजी से अपने फूस के इन घरो की तरफ मानो दौडी आ रही हो। सबके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। यहाँ रहने से तो झुलस कर मरना होगा—आग आ ही धमकी!

सोचने का भी समय नही। कचहरी के कागजात, तहवील के रुपए, दस्तावेज, नक्शे—बहुत-कुछ थे। इनके अलावा हमारी निजी चीजे। सर्वस्व जाने की नौबत! सूखे चेहरे लिये डरी हुई आवाज मे प्यादो ने कहा—"आग तो आ गइल हुजूर!" मैने कहा—"चीजे निकालना शुरू कर दो, सरकारी रुपए और कागजात सबसे पहले।"

कई आदमी उस जंगल का सफाया करने मे जुट पडे, जो आग और कचहरी के बीच मे पड़ता था। जहाँ तक बन पड़े, काटने की कोशिश की जाय। बथान वाले रैयतों ने आग को फैलते जो देखा, सो कचहरी को बचाने के लिए कुछ लोग दौड़ आए। पछुआ के झोंको से ही उन्हे लगा कि कचहरी खतरे मे है।

एक अजीब नज्जारा था! पेड़-पौधों को तोड़-मरोड़कर अपनी जान लिये नीलगाये बेतहाशा भागी जा रही हैं, सियार सरपट भाग रहे हैं, कान खड़े किए खरगोश दौड रहे है, जंगली सूअरों का एक जत्था तो बच्चे-कच्चे के साथ घबराकर कचहरी मे होकर ही निकल गया! बथानों की बँधी भैसे खोल दी गईं। प्राण लिये उनकी वह दौड; तोतों का एक दल इकट्ठा होकर माथे के ऊपर से उड भागा, उसके पीछे-पीछे निकला लाल बतखों का जत्था। तोतो की फिर एक जमात, उसी के पीछे कुछ

बिल्ली। हैरत में आकर रामबिरिजसिह ने कहा—"पानी त कही नै छै ..
ई लाल बत्तख केरो जेरा कहाँ से ऐलै हो भाइ रामलगन ?" मुहर्रिर साहब
आजिज़ आ गए। बोले—"अरे बाबा छोड़ भी। यहाँ जान की पड़ी है
और तुम्हें लाल बत्तख़ कहाँ से आए, इसकी कैफ़ियत चाहिए!"

बीस-एक मिनट मे आग पास ही आ पहुँची। घंटे भर तक दस-पंद्रह
लोग उससे इस क़दर जूझते रहे कि बयान नही किया जा सकता! पानी
का नाम नही, हरी डाले और बालू ही उससे लडने के औज़ार। धूप और
आग के ताप से झुलस कर सबकी शक्ल राक्षस-जैसी खौफ़नाक हो उठी।
सारे बदन मे राख और कालिख! हाथ की नसे फूल उठीं, कितनो के शरीर
मे फोले पड गए। इधर कचहरी के सारे असबाब—बक्से, खाट, आलमारी
—निकाल-निकालकर बाहर फेके जा रहे थे। कौन-सी चीज कहाँ गई,
यह खबर किसे? मैंने मुहर्रिर साहब से कहा—"नक़द और दस्तावेज
आप अपने जिम्मे रक्खे।"

कोई लगाव न पाकर आग उत्तर दक्खिन होकर पूरब की तरफ़ दौड
गई—किसी तरह से कचहरी तो बच गई। चीजें फिर से उठाकर अंदर
रक्खी गई। पूरब आसमान को रँग कर वह प्रलयंकर आग की लपटे रात-
भर धधकती रही और भोर होते-होते मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट की सीमा
पर जा धमकी।

दो-तीन दिन के बाद खबर मिली कि कारो और कोसी के किनारे दलदल
मे आठ-दस जगली भैसे, दो चीते और कई नीलगाये गड़ी हुई मरी पड़ी
हैं। आग के भय से ये जान लेकर मोहनपुरा जगल से भागे और इस
दुर्गत के शिकार हुए। वैसे कोसी-कारो से रिज़र्व फॉरेस्ट आठ-नौ मील पर
होगा।

———

चौथा परिच्छेद

[एक]

वैशाख-जेठ बीता, आया आसाढ। आसाढ़ मे कचहरी की तौजी। लोगो का मुँह इधर मुश्किल से ही देखने को मिलता, सो मेरी यह एक हार्दिक इच्छा थी कि तौजी के दिन न्योत कर काफी लोगो को खिलाऊँगा। आस-पास में तो गाँव थे नही। मैंने गनौरी तिवारी को भेजकर दूर-दूर की बस्तियों में न्योता भिजवाया। तौजी के एक दिन पहले से ही आसमान बादलों से घिर गया। टिपटाप पानी भी पडता रहा। तौजी के दिन तो मानो आसमान ही फट पड़ा। और इधर दोपहर से न्योता खानेवालों का ताँता बँधा। भोज खाने के लोभ से वे बारिश झेलकर भी आने लगे। उन्हें बैठने की जगह देना भी मुश्किल हो गया। बाल-बच्चो को लेकर बहुतेरी औरते भी आ पहुँची थी। औरतों के लिए दफ्तर मे बैठने का इन्तजाम कर दिया। मर्द लोग जहाँ-तहाँ बैठ गए।

इधर के लोगों को खिलाने मे कोई झमेला नही। कोई मुल्क इतना भी ग़रीब हो सकता है, मै यह नही जानता था। बंगाल बडा ही ग़रीब है, फिर भी इधर के आम लोगो के मुकाबले मे वहाँ के गरीब-से-गरीब भी संपन्न है। इस मूसलाधार वर्षा में भीगते हुए ये थोड़ा-सा माढ़ा, खट्टा दही, गुड़ और लड्डू खाने को इतनी दूर आए थे। यही चीजें यहाँ आम तौर से भोज मे खिलाई जाती थी।

सुबह से ही आठ-दस साल का एक छोटा लडका बडी मिहनत कर रहा था। चीन्हता नही था। नाम था उसका बिशुआ। पास ही की किसी बस्ती से आया होगा। दस बजे के करीब उसने थोडा-सा जलपान माँगा। भंडार का भार था नवटोलिया के पटवारी पर। उसने उसके अँचरे में थोड़ा-सा माँढा और नमक दे दिया।

मैं पास ही खडा था। वह छोरा जामुन-जैसे रग का था। मुखडा मुंदर, जैसे काले पत्थर की कृष्णमूर्ति हो! अपने मोटिया कपडे की कोर फैलाकर उसने जब वह मामूली जलपान लिया, तो उसके चेहरे पर खुशी की जो हँसी फूट उठी, कह नही सकता।

ब्राह्मणों का खिलाना तो किसी तरह निबट गया। तीसरे पहर मैंने देखा, अविराम वर्षा में तीन औरते आँगन मे पत्तल डाले काँप रही हैं। पत्तल मे माढा था, दही गुड के लिए वे ताक रही थी। मैंने पटवारी को बुलाकर पूछा—"इस तरफ़ परोस कौन रहा है? और इन्हे बारिश में नीचे किसने बैठाया?"

पटवारी बोला—"हुजूर, ये जात की दुसाध हैं। इन्हें बरामदे में बैठाऊँ, तो सारी चीजे फेक देनी पड़ेगी, उन चीजो को फिर कोई भी ब्राह्मण, छत्री या गंगोता नही खा सकते। और, दूसरी जगह भी कहाँ है?"

मैं खुद भीगता हुआ उन गरीबिन दुसाध औरतो के पास जा खडा हुआ। यह देखकर लोग जल्दी-जल्दी उन्हे परोसने लगे। वह माढ़ा, गुड और पनछा दही एक-एक ने इस कदर खाया कि अपनी आँखों देखे बिना यकीन नहीं आ सकता। लोगों मे भोज खाने की ऐसी धुन देखकर मैंने मन-ही-मन तै किया कि इन दुसाध औरतो को न्योता देकर और किसी दिन खूब अच्छी तरह अच्छा खाना खिला दूँगा। हफ्ते भर बाद दुसाधटोली की उन औरतों को बुलवाकर मैंने पूरी, मछली, माँस, खीर, दही, चटनी खूब खिलाया। जिंदगी में ऐसा भोज खाने की उन्होंने कल्पना भी न की होगी। उनके विस्मित और आनंदित आँख-मुह की वह हँसी बहुत दिनों तक मुझे याद रही। वह छोकरा बिशुआ भी उस भोज मे था।

[दो]

उस दिन घोड़े पर सर्वे-कैंप से लौट रहा था। रास्ते के जंगल मे कसाल की झाड़ी के पास बैठा एक आदमी उडद का सत्तू सानते हुए मिला। उसके पास कोई बर्त्तन नहीं था, इसलिए मैले कपड़े के छोर में ही वह उसे सान

रहा था। इतना-इतना सत्तू एक आदमी, चाहे वह कोई हो, कही का हो, कैसे खा सकता है, यह मेरी अकल मे आ सकने लायक बात नहीं थी। मुझे देखकर अदब से वह खडा हो गया और सलाम करके बोला—"माफ कीजिएगा मैनेजर साहब, जरा नाश्ता कर रहा हूँ हुजूर।"

मुझे यह भी समझ में नहीं आया कि कोई एकांत में बैठकर नाश्ता कर रहा हो, तो उसमे माफ करने की बात क्या आती है? मैंने कहा—"करो, अपना नाश्ता करो। उठने की कोई जरूरत नहीं। नाम क्या है तुम्हारा?"

वह बैठा नही। मेरा लिहाज करते हुए खडा-खडा ही बोला—"गरीब का नाम धौताल साहू है हुजूर।"

मुझे लगा, उमर उसकी साठ से ज्यादा ही होगी। दुबला लंबा बदन, रंग काला, पहनावे में मैला लट्ठा और मिरजई। पाँव नंगा।

उससे मेरा यही पहले-पहल परिचय हुआ।

कचहरी मे पहुँचकर मैंने रामजोत पटवारी से पूछा—"धौताल साहू को पहचानते हो तुम?"

रामजोत बोला—"जी हुजूर! धौताल को इलाके मे कौन नहीं जानता? लखपती है हुजूर—बहुत बडा महाजन। इधर के सभी उसके कर्ज़दार है। नौगछिया मे घर है।"

पटवारी की बात सुनकर मै आश्चर्य-चकित होग या। लखपती आदमी और एक मैले कपड़े में सत्तू सानकर खाता है! मुझे लगा, पटवारी ने दून की हाँक दी। मगर कचहरी मे जिससे भी पूछा, उसीने यह उत्तर दिया—"धौताल साहू? उसके रुपयों का कोई लेखा-जोखा नहीं हुजूर।"

बाद में अपने काम से धौताल साहू कई बार मेरे पास आया। धीरे-धीरे पता चला कि एक अजीब लोकोत्तर चरित्र के आदमी से परिचय हुआ है। देखे बिना यह यकीन ही नहीं हो सकता कि बीसवीं सदी में भी ऐसा आदमी है।

जैसा कि अंदाज था, उसकी उम्र तिरसठ-चौसठ की होगी। कचहरी

से पूरब-दक्खिन कोई बारह-तेरह मील दूर नौगछिया में उसका घर था। इलाके के क्या काश्तकार, जमीदार और क्या खेतिहर-व्यापारी सभी उसके खातक थे। मगर मजे की बात यह थी कि धौताल कर्ज देकर अदायगी के लिए कभी कडा तकाजा नही करता था। कितनों ने उसकी पूँजी डुबाई, यह नही कहा जा सकता। उसके जैसे निरीह और सज्जन आदमी को महाजनी करनी ही नही चाहिए थी ; लेकिन वह भी क्या करे, लोगों की आरजू-मिन्नत उससे टालते नही बनती। खास तौर पर उसका यही कहना था कि लोग जब सूद का वायदा करते हैं, तब व्यवसाय के लिहाज से भी तो कर्ज देना लाजिमी है। एक दिन वह बहुत सारे दस्तावेज कपड़े में बाँध कर मुझसे मिलने आया। बोला—"हुजूर, मिहरबानी करके जरा इन दस्तावेजों को देख दें।"

मैंने छानबीन की। देखा, समय पर नालिश नही किये जाने से कोई आठ दस हजार के दस्तावेज बेकार हो गये थे।

कपड़े के दूसरे छोर से उसने कुछ और भी पुराने कागज निकाले—"जरा इन्हें भी देख लें हुजूर। कभी-कभी जी में आता है, शहर जाकर वकीलों को दिखा दूँ और नालिश कर दूँ। मगर मुकदमा कभी लड़ा नही, लड़ना बनता नहीं। तकाजा करता हूँ—आज दूँगा, कल दूँगा करते-करते बहुतेरे देते ही नहीं।"

देखा, सारे-के-सारे दस्तावेज बेकार हो गए थे। ये सब भी चार-पाँच हजार से कम के न होगे। भले को सभी धोखा देते है। कहा—"साहूजी, यह महाजनी आपके बस की बात नही। महाजनी तो इधर रासबिहारी-सिह राजपूत-जैसा आदमी ही कर सकता है, जिसके आठ-आठ लठैत है, खुद घोड़े पर सवार होकर कर्जदारों के खेतों पर जाकर लठैतों को मुस्तैद कर आता है—जबर्दस्ती फसल पर कब्जा करके पूँजी और सूद अदा करके छोड़ता है। तुम जैसे भले को लोग बाकी रुपये नहीं दे सकते। आइन्दा किसी को देना ही नहीं।"

मगर धौताल को मैं समझा ही न सका। वह बोला—"सभी धोखा

नहीं दिया करते हुजूर। अभी भी चाद-सूरज उगता है, सिर पर दीन-दुनिया का मालिक अभी भी है। और रुपये को सूद पर लगाए बिना गुजारा नही हुजूर। यही हमारा पेशा है।"

सूद के लोभ से पूँजी से भी हाथ धो बैठना किस किस्म का रोजगार है, नहीं जानता। उसने मेरी ही आँखों के आगे उन पन्द्रह-सोलह हजार रुपयों के दस्तावेजों को टुकड़े-टुकडे करके फेक दिया। इस तरह से फाड फेका, गोया वे निहायत बेकार कागज हों—बेकार की कोटि मे अब वे आ जरूर गए थे। न तो इसमे उसके हाथ सहमे, न आवाज काँपी।

बोला—"सरसो और रेड़ी के बीए बेंच कर ये रुपए मैंने जोड़े थे, वरना बाप-दादों की विरासत में तो फूटी पाई भी नही मिली थी। मैंने ही पैसे पैदा किए, मैं ही गॅवा रहा हूँ। रोजगार मे नफा-नुकसान तो होता ही है।

नफा-नुकसान तो बेशक होता है, मगर ऐसे कितने लोग मिलेंगे, जो चेहरे पर शिकन लाए बगैर इतने बड़े नुकसान को सह ले, मैं यही सोचने लगा। महज एक बात मे मैंने उसकी अमीरी देखी। लाल कपड़े के एक बटुए से जब-तब वह एक सरौता और सुपारी निकालता और काटकर खा लेता। मेरी ओर हँसते हुए देखकर बोला—रोज एक छटाँक सुपारी मैं खा जाता हूँ हुजूर, सुपारी का बड़ा लम्बा खर्च है। धन से उदासीनता और बहुत बड़े नुकसान की परवाह न करना अगर दार्शनिकता है, तो धौताल साहू-जैसा दार्शनिक कम-से-कम मैंने तो नहीं देखा।

[तीन]

फुलकिया गाँव से होकर मैं जब भी गुजरता, जयपालकुमार के जनेरे के पत्तों से बने घर के सामने से भी गुजरता। जयपाल जाति का भूमिहार ब्राह्मण था।

एक बड़े और पुराने पाकर के पेड़ के नीचे उसका घर था। दुनिया में वह निपट अकेला था ; उमर वाला आदमी, दुबला बदन, माथे पर सफ़ेद

लम्बे बाल। जब भी मैं वहाँ से गुजरता, तब ही उसे अपने घर के दरवाजे पर बैठा पाता। तम्बाकू वह नही पीता था। उसे कभी कोई काम करते हुए भी देखा हो , ऐसा याद नही पडता। गीत भी गाते हुए नही सुना। कोई बिल्कुल निठल्ला-सा कैसे बैठा रह सकता है, नही कह सकता। उसे देखकर मुझे बड़ा ही अचरज और कुतूहल होता। हर बार वहाँ घोडे को रोक कर उससे दो बातें किए बिना मै,आगे बढ ही नही सकता।

पूछा—"यों बैठे-बैठे तुम क्या करते हो ?"

—"बस, यो ही बैठा हूँ हुजूर।"

—"उम्र क्या होगी तुम्हारी ?"

—"उम्र का हिसाब तो रक्खा नहीं हुजूर। यों समझिए कि जिस साल कोसी पर पुल बना, मैं भैंस चराने लायक हुआ था।"

—"शादी की थी ? बाल-बच्चे हुए थे ?"

—"बीस-पच्चीस साल हुए, स्त्री चल बसी। दो बच्चियाँ थी। वे भी गुजर गई। उनको भी तेरह-चौदह साल हो गए। अब तो बस मैं ही हूँ।"

—"अच्छा यह तो कहो, ऐसे जो अकेले बैठे रहते हो, न कही जाते-आते हो, न किसी से बोलते-बतियाते हो, न ही कोई काम करते हो, यह सब तुम्हें अच्छा लगता है ? ऊब नही आती इससे तुम्हें ?"

वह अचरज से मुझे देखकर बोला—"अच्छा क्यों न लगेगा हूजूर ? मजे में रह लेता हूँ।"

उसकी बात मेरी समझ से परे थी। कलकत्ता के कालेज मे पढकर बड़ा हुआ, या तो कोई काम-धंधा हो या दोस्त-अहबाबों के साथ गुलछर्रे, नही तो किताब, वह भी नहीं तो सिनेमा या सैर-सपाटे—इनके बिना आदमी रहता कैसे है, समझ नहीं सकता। दुनिया मे कितना कुछ रद्दो-बदल हो गया इन बीस वर्षो में, अपने द्वार पर बैठने वाला जयपाल उसकी खबर भी क्या रखता है ? मैं जब स्कूल में पढ़ रहा था, जयपाल तब भी ऐसा ही बैठा रहता होगा और अब जब मैंने बी० ए० पास कर लिया, जय-

पाल उसी तरह बैठा रहता है ! जो छोटी-बड़ी घटनाएँ अपने ही जीवन की अपने लिए खासे अचरज की चीज, थी उन्हीं से मैं जयपाल के इस वैचित्र्यहीन जीवन के बीते दिनों की बात मिलाकर सोचा करता।

जयपाल का मकान था तो गाँव के बीच मे ; पर पास में काफी खाली जमीन थी, मकई के खेत थे , इसलिए घर से सटी हुई कोई आबादी नही थी। यह फुलकिया निहायत छोटी-सी बस्ती थी। गिने-चुने दस-एक घर होगें। सभी भैंस चराकर गुजर चलाते थे। दिन-भर सब-के-सब करारी मिहनत करते। शाम को उडद का भूसा जलाकर चारों ओर सब बैठ जाते— गप्प-सटाका करते, खैनी खाते या सखुए के पत्ते में तम्बाखू लपेट कर चुट्टी पीते। नारियल पीने का रिवाज इधर बहुत ही कम था ; लेकिन जयपाल के साथ कभी किसी को बोलते-बतियाते मैंने नही देखा।

उस पुराने पाकड़ पर बहुतेरे बगुलों ने बसेरा बना रक्खा था। लगता, पेड़ पर सादे फूलों की बहार आई है। छाँह-भरी और निर्जन जगह थी वह, फिर वहाँ खड़े होकर जिधर भी आँखें जाती, उसी तरफ दूर दिगंत तक नन्हे बच्चे-बच्चियों-जैसी एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर नील गिरिमाला मंडलाकार खडी दिखती। मै पाकड़ की घनी छाया में खडा-खड़ा जब जय-पाल से बाते करता, तब उस प्रकांड पेड के नीचे की निविड़ शाति और मकान मालिक की अनुद्विग्न, निस्पृह और धीर जीवन-यात्रा धीरे-धीरे एक विचित्र प्रभाव मुझ पर डालती। आखिर यों मारा-मारा फिरने में लाभ क्या है ? कैसी मनोहर छाया है इस श्याम वंशी-वट की, कैसी मधुरी चाल है यमुना की, अतीत की सैकड़ों सदियों को पार करके, समय के बहाव मे बह जाना कितना सुखकर है, कितना आरामदेह !

कुछ तो जयपाल की ऐसी जीवन-यात्रा का प्रभाव और कुछ आस-पास की उन्मुक्त प्रकृति मुझे भी धीरे-धीरे जयपालकुमार-जैसा ही निर्वि-कार और उदासीन बनाती जा रही थी। केवल इतना ही क्यों, मेरी जो आँखें खुली नहीं थीं, अब खुल गईं, जो मैंने कभी नही सोचा, बरबस वही सोचने को विवश किया। फलस्वरूप इस खुले मैदान और हरे-भरे जंगल

को मैं इस हद तक प्यार कर बैठा कि यदि कभी काम से एक दिन को भी पूर्णिया या मुंगेर जाता, तो मन भाग-भाग करता रहता, हर्गिज जी नहीं लगता। लगता, कब उस जंगल को लौट जाऊँ, कब उस सुनसान मे, उस अनोखी चाँदनी में, सूर्यास्त और दिगंत व्यापी काल वैशाखी के मेघों मे, खचाखच तारो भरी निदाघ-निशीथ में अपने को डुबा दूँ!

पाँचवाँ परिच्छेद

[एक]

ग्वूब रह-रह चाँदनी और वैसी ही हड्डी हिलाने वाली करारी सर्दी। पूस बीत चला था। नवटोलिया कचहरी के निरीक्षण के लिए गया हुआ था। खाते-पीते रात के ग्यारह बज जाते। एक रात खा-पीकर मै रसोई मे बाहर निकला। देखा, उतनी रात गए और वैसे हिमवर्षी आकाश के नीचे कोई औरत खिली चाँदनी मे कचहरी के अहाते मे खडी है। मैंने पटवारी से पूछा—"वहाँ वह कौन खड़ी है ?"

पटवारी ने कहा—"वह कुता है हुजूर। कल मुझसे कह रही थी, मैंनेजर बाबू आने वाले हैं। मैं उनका जूठन बटोर लाऊँगी। इन दिनों मेरे बच्चो को बड़ी तकलीफ है।"

मैंने कह दिया था—"अच्छा।"

मै बाते ही कर रहा था कि नजर पडा, बलुआ टहलू ने मेरा सारा जूठन समेट कर उस औरत के एक ऊँची कोर के पीतल के बर्तन मे ले जाकर उँडेल दिया। वह चली गई।

उस बार आठ-दस दिनों तक नवटोलिया कचहरी मे रहा। रोज ही रात को वह औरत मेरी जूटन के लिए इतनी रात गए, उस कन-कन सर्दी में महज अँचरा ओढ़े आकर कुएँ के पास खडी रहती। एक दिन मैंने आखिर कौतूहलवश पटवारी से पूछा—"अच्छा, यह रोज भात जो ले जाती है, वह कुता है कौन ? इस जंगल में वह कहाँ रहती है ? दिन मे तो यह कभी भी नजर नहीं आती ?"

वटवारी बोला—"जी, वताता हूँ।"

शाम से कमरे में गन्गन् आग जलाई गई थी। उसी के पास कुर्सी पर बैठा देर से किश्तों की वसूली का लेखा देख रहा था। भोजन करके

लौटा तो सोचा, आज दिन-भर का काम बहुत हो चुका। कागज-पत्तर समेट कर रख दिए और पटवारी का किस्सा सुनने को तैयार हुआ।

—"तो सुनिए हुजूर। दसेक साल पहले इस इलाके में देवीसिह राजपूत का बडा दबदबा था। उसके डर के मारे यहाँ के सारे गंगोते, सभी किसान और चरी वाले रैयत थरथर काँपते रहते थे। उसका रोजगार था काफी मोटे सूद पर रुपया उधार देना और, फिर लाठी के जोर से सूद समेत रुपए वसूल करना। आठ-नौ तो उसके लठैत थे। आज-कल यहाँ का जैसा महाजन रासबिहारीसिंह है, तब देवीसिंह था।

देवीसिंह जौनपुर जिले से पूर्णियाँ मे आकर बस गया था। उसके बाद कर्ज दे-देकर और अपने जोर-जुल्म से इधर के सभी डरपोक गंगोतो को उसने मुट्ठी में कर लिया। यहाँ बसने के कुछेक साल बाद एक बार वह काशी गया। वहाँ किसी तवायफ के कोठे पर गाना सुनने गया और उसकी चौदह-पन्द्रह साल की बेटी से उसे मुहब्बत हो गई। देवीसिंह उसे यहाँ भगा लाया। तब उसकी उमर सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की होगी। देवीसिंह ने उससे ब्याह कर लिया। आखिर जब लोगो पर यह बात जाहिर हो गई कि वह किसी तवायफ की लड़की है, तब बिरादरी के,लोगों ने देवीसिंह को बिरादरी से निकाल दिया। देवीसिंह के पास पैसे की कमी तो थी नहीं। उसने इसकी परवाह न की। उसके बाद ऐश-मौज में रुपए उडा कर और रासबिहारीसिंह से मुकदमेबाजी में वह कंगाल हो गया। चार साल हुए कि वह चल बसा। उसकी वही विधवा है यह कुता। कभी वह भी समय था कि किम्खाब की झालरवाली पालकी पर चढ़कर यह नवटोलिया से कोसी और कलबलिया नहाने जाया करती थी, बिकानी की मिसरी से पानी पीती थी—उसकी आज यह दुर्गत है ! उस पर से मुसीबत यह कि सभी जानते हैं कि वह तवायफ की लड़की ह, सो क्या पति की अपनी बिरादरी राजपूतों में और क्या गंगोतों में, उसकी जात नहीं। गेहूँ की कटनी खत्म हो चुकने पर वह खेतों से गिरी-पड़ी बालियाँ चुन कर ले आती है। उसी से साल मे दो महीने बच्चों को अधपेट खिलाकर रखती है ; मगर

हुजूर, आज तक कभी किसी ने उसे कहीं हाथ फैलाते हुए नही देखा। आप जमींदार के मैनेजर है, राजा के बराबर है, आपके यहाँ प्रसाद लेने में वह अपनी हेठी नहीं समझती।"

मैंने पूछा—"और उसकी माँ, उस तवायफ ने फिर इसकी कभी खोज नही ली?"

पटवारी बोला—"मैंने कभी देखा तो नही हुजूर। कुंता ने भी कभी अपनी माँ की पूछ-ताछ नही की। ऐसी ही दुख-तकलीफ से वह बच्चो को पालती आ रही है। और आज आप कुंता को क्या देखते हैं हुजूर, कभी वह ऐसी खूबसूरत थी कि वैसी खूबसूरती इधर के इलाके में कभी किसी ने देखी भी नही होगी। अब तो उम्र भी ढल गई, जिस पर विधवा होने के बाद से दु ख झेलते-झेलते उस रूप का रह ही क्या गया! बडी नेक और शात औरत है यह। मगर यहाँ कोई फूटी निगाहो भी उसे नही देखना चाहते, नाक-भौं सिकोडते है, नीचा देखते है, शायद इसीलिए कि वह एक तवायफ की लड़की है।"

मैंने कहा—"वह तो खैर है, मगर रात के बारह बजे वह घने जगल की राह अकेले नवटोलिया कैसे जायगी—नवटोलिया तो कोई तीन पाव जमीन होगी यहाँ से?"

—"ही, मगर डरे तो काम कैसे चले बेचारी का? उसे तो हरवक्त इस जंगल में अकेली ही घूमना पड़ता है। न घूमे, तो है कौन जो चलाए?"

पूस का महीना था। उस किश्त की अदायगी का तकाजा करके मैं लौट आया। एक छोटे-से चरी महाल के इजारे के लिए माघ ही के बीचो-बीच मुझे फिर वहाँ जाने की जरूरत पड़ी।

सर्दी तब भी कम नही हुई थी। ऊपर से तमाम दिन पछुआ जो चलती, सो शाम के बाद दुगनी हो जाती। एक दिन घूमने निकला। महाल के उत्तरी हिस्से में बड़ी दूर तक निकल गया। उधर दूर-दूर तक केवल बेर का जंगल फैला था। इन जगलों को बन्दोबस्त पर लेकर छपरा और मुजफ्फरपुर के कलवार-जातीय लोग लाह की खेती से काफी पैसा पैदा करते। बेर

के जंगल में मैं राह भूल-सा पड़ा था कि किसी औरत का आर्त्त-चीत्कार, बच्चों का रोना-धोना और मर्द की डाट-डपट, गाली-गलौज मेरे कानों में पड़ी। मैं जरा आगे बढ़ा, देखा, लाह के इजारेदारों के नौकर झोटा पकड़े एक औरत को घसीटे ला रहे हैं। औरत मैला चीथरा पहने है, पीछे-पीछे दो-तीन छोटे-छोटे बच्चे रोते आ रहे हैं। जो दो छत्री नौकर थे, उनमें से एक के हाथ मे आधी टोकरी पके बेर। मुझे देखकर उन नौकरो ने जो कहा, थोड़े मे उसका मतलब यह हुआ कि "यह गंगोतिन हमारे जगल मे बेर तोड़ रही थी। हम इसे पकडकर पटवारी के पास फैसले के लिए ले जा रहे हैं। अच्छा ही हुआ कि हुजूर मिल गए।"

मैंने डाट बताकर सब से पहले तो उनके चंगुल से उस औरत को छुडाया। डर और लज्जा से सिमट कर वह एक बेर की झाडी की आड में जा खडी हुई। बेचारी की दुर्गत देखकर मुझे बेहद तकलीफ हुई!

वे भला उसे सहज ही कैसे छोड़ देते? मैंने समझाया—"देखो, एक गरीबिन ने बच्चो को खिलाने के लिए ये खट्टे बेर थोडे-से तोड ही लिये, तो तुम्हारी लाह की खेती में कौन-सा नुकसान हुआ? बेचारी को अपने घर जाने दो।"

उनमे से एक बोला—"आप इस औरत को जानते नही है हुजूर। नाम है इसका कुता। नवटोलिया मे रहती है। बेर चोरी करना इसका पेशा बन गया है। पिछले साल भी इसे रँगे हाथों पकडा था—इस बार इसे खासा सबक दिए बिना—"

मैं लगभग चौंक पड़ा। कुता! पहचान तो नही सका मैं; शायद इसलिए कि दिन में मैंने उसे कभी देखा ही नहीं, जब भी देखा रात मे। मैंने डरा-धमका कर उसे तुरन्त रिहाई दिलाई। वह लाज से गड-सी गई। बाल-बच्चों को लेकर घर लौट गई। जाते समय बेर की टोकरी और लग्गी वहीं छोड़ गई। भय और संकोच से शायद। मैंने उन लोगों में से एक को कहा कि बेर की यह टोकरी और लग्गी कचहरी मे पहुँचा दो। सुनकर वे बडे खुश हो गए। सोचा, टोकरी और लग्गी जरूर ही जब्त कर ली जायगी।

कचहरी लौट आने के बाद मैंने पटवारी से कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग इतने निर्दयी क्यों होते हैं बनवारीलाल ? " बनवारी बड़ा दुखी हुआ। आदमी वह अच्छा था। इधर के दूसरे लोगो से उसके हृदय में सचमुच ही दया-माया थी। उसने प्यादे की मार्फत टोकरी और लग्गी उसी वक्त कुता के घर, नवटोलिया भिजवा दी।

उस रात कुता लाज से भात लेने के लिए कचहरी भी नही आई।

[दो]

जाड़ा बीत गया, वसन्त आया।

अपने इस महाल की पूरबी-दक्खिनी सरहद के सात-आठ कोस पर यानी सदर मुकाम से लगभग चौदह-पसन्द्रह कोस पर फागुन मे होली के दिन हर साल बड़ा मशहूर मेला लगता था। मैंने इस बार वहाँ जाने का निश्चय किया था। एक तो अरसे से कही इतने लोगो का समागम देखना नसीब नहीं हुआ था, दूसरे इधर के मेले-ठेले कैसे होते है, इसे जानने का भी कौतूहल था ; मगर कचहरी के लोग बारम्बार मना करते रहे। रास्ता बड़ा बीहड़ है, शुरू से आखिर तक जगल और पहाड़—तमाम जंगली भैंसे और बाघ का खतरा। छुटपुट बस्ती है जरूर, लेकिन इतनी-इतनी दूरी पर है कि कोई आफत आन पड़े, तो उनसे कोई मदद नहीं मिलने की।

जिन्दगी में कभी साहस का छोटा-सा काम करने का भी मौका हाथ नहीं आया। यहाँ रहते-रहते जो कर सकूँ, गनीमत। कलकत्ता लौट जाने पर फिर कहाँ यह जंगल और कहाँ जंगली भैंसे और बाघ ! मेरी आँखों में, भविष्यत् में मुझसे किस्सा सुनते हुए नाती-पोतों के चेहरे और उत्सुक तरुण आँखें झूल गईं। और मुनेश्वर महतो, पटवारी और मुहर्रिर बाबू लाख मना करते रहे, मैं मेले के दिन तड़के ही घोड़े पर सवार होकर निकल पड़ा। दो घंटे तो अपने ही महाल की हद पार करते करते लग गए, क्योंकि पूरब-दक्खिन सीमा पर ही जंगल ज्यादा घना था, रास्ता था ही नहीं

कहिए, घोड़े के सिवाय दूसरी किसी सवारी से चलना मुश्किल था। जहाँ तहाँ छोटी-बड़ी चट्टानें, सखुए का जंगल, झाऊ और कसाल का जंगल। ऊँची-नीची, ऊबड़-खाबड़ राह, बीच-बीच मे बालू के टीले, रंगीन मिट्टी की टेकड़ियाँ, छोटी पहाड़ी, पहाड़ी पर घने कँटीले पेडों का जंगल। मै घोड़े को जब जैसा, कभी तेज, कभी धीमा हाँक रहा था। दुलकी चाल पर घोडे को लिए चलने की गुजाइश न थी। रास्ता बुरा, फिर जहाँ-तहाँ चट्टानो के बिखरे रहने से थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही चाल टूट जाती। कभी गैलप, कभी दुलकी तो कभी पा-पा चल रहा था।

लेकिन मैं कचहरी से कूच करते ही मगन मन हो गया था। जब से इस नौकरी पर यहाँ आया था, तभी से यहाँ का यह धू-धू करता हुआ आतर और जंगल धीरे-धीरे मुझे अपना गाँव-घर भुलाए दे रहा था। सभ्य दुनिया के सैकड़ों आराम के उपकरण और आदतें भुलाए दे रहा था। बन्धु-बाधवों तक को भुला देने पर तुला था। घोड़ा आहिस्ते या धीरे, जैसे चाहे जाय, जब तक पहाड की तलहटी में वसतागम से खिले पलाश के रंगीन फूलों का मेला लगा है, पहाड़ के नीचे, ऊपर, मैदान में तमाम नन्हे पौधों की फूलों के भार से झुकी ये डालियाँ है, गलगली के पत्रविहीन दूध-धवल काँडो पर सूरजमुखी जैसे इन पीले-पीले फूलों ने दोपहर की धूप को अपनी मीठी महक से अलस कर दिया है, ऐसी हालत मे इसका लेखा कौन रक्खे कि कितनी दूरी तै हुई?

मगर कुछ-न-कुछ हिसाब रखना भी जरूरी था, नही तो प्रतिपल दिशा और राह भूल जाने का खतरा था। अपने जंगल की हद पार करने के पहले ही यह बात मेरी समझ में आई। जरा देर मैं अन्यमनस्क रहा। अचानक सामने दूर पर एक बहुत ही बड़े जंगल का ऊपरी हिस्सा नील रेखा-जैसा क्षितिज के इस छोर से उस छोर तक फैला दिखाई दिया! आखिर इतना बड़ा जंगल वहाँ आया कहाँ से? कचहरी मे तो किसी ने यह जिक्र तक भी नहीं किया था कि मैषंडी के मेले के आस-पास कही इतना बड़ा कोई जंगल भी है? दूसरे ही क्षण मुझे खयाल आया, हो न हो, वह

मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट है, जो कि अपनी कचहरी के उत्तर-पूरब के कोने पर पड़ता है। असल मे मैं भटक गया हूँ। इधर जानी-पहचानी पगडंडी शायद ही मिलती—लोग-बाग वही से ही आते-जाते है। जिधर देखिए, एक ही-सा दिखता है, एक ही-सी टेकड़ी, वैसे ही गलगली और धातुप फूलों का जंगल और उनके साथ कॉपती रहने वाली ताप-तरंग। ऐसे मे अनाडी व्यक्ति को भटक जाने में देर नही लगती।

फिर से घोड़े का मुँह फेर दिया। सँभल कर अपने लक्ष्य को ठीक किया और उधर की दिशा का एक चिह्न चुन कर मन में रक्खा। अपार सागर मे जहाज को ठीक राह पर ले जाना, अनंत आकाश मे हवाई जहाज के चालकों का काम और ऐसे दूर तक फैले किसी पथ-हीन जंगल में घोड़े पर चढ़कर ठिकाने पर पहुँचना, प्रायः एक ही-जैसे काम है। जिन्हें ऐसा साबका पड़ा है, उन्हे इसकी सचाई समझने में देर न लगेगी।

फिर शुरू हुआ धूप से जले नंगे पेड़-पौधो का समूह, फिर जंगली फूलों की मंद-मधुर खुशबू, फिर रक्तपलाश की वही शोभा। समय काफी हो गया था। लगा, कि कहीं पानी पीने को मिलता तो अच्छा था। कारो नदी के सिवाय इधर कहीं पानी नहीं मिलता, यह मुझे मालूम था , मगर अभी तो अपने ही जंगल की सीमा पार नहीं हो सकी थी, कारो तो अभी बहुत दूर रही—यह सोचते ही प्यास अचानक और तेज हो आई।

मुकुन्दी चकलादार से मैंने कहा था कि अपने महाल की हद पर बबूल या महावीरी झंडे-जैसा कुछ, जो भी हो, सीमा की जानकारी के लिए गाड़ देना। इसके पहले सीमा पर कभी आने का मौका नहीं मिला। आज देखा, मेरे इस हुक्म की तामील नहीं हुई है। सोचा होगा, अरे, तुम भी क्या लेते हो, कलकत्ता के मैनेजर बाबू भला कभी इस सीमा पर आने के ! मुफ्त की बला कौन माथे ले। जैसा है, रहे।

अपनी हद से बाहर राह से कुछ हट कर एक जगह से धुआँ उठ रहा था। मैं वहाँ पर गया। कुछ लोग लकड़ियाँ जलाकर कोयला बना रहे थे। यही कोयला वे गाँवों में जा-जा कर बेचेंगे। इधर के ग़रीब-गुरबे लोग

अँगीठी मे कोयला जलाकर उसी से ताप कर जाड़ा काटते हैं। पैसे का चार सेर कोयला बिकता था, वह भी खरीदने की जुर्रत बहुतों की न थी! मेरी समझ में यह भी न आया कि इस मशक्कत से कोयला बना कर पैसे के चार सेर के भाव से बेच कर इन कोयले वालों को ही कौन-सा मुनाफा होता होगा! मैंने शुरू से गौर किया है कि यहाँ पैसा और जगहों जितना सस्ता नही। कैत और आँवले के जंगल में एक छोटा-सा झोपड़ा था। कसाल और साबै घास की छौनी। मै जब वहाँ पहुँचा, तब वे लोग उसी में खाने बैठे थे। मिट्टी की हँडिया में मकई को उबाल लिया था और सखुए के हरे पत्ते पर उसी को परोसा था। नमक के सिवाय दूसरा कोई उपकरण नही था। पास ही बड़े-बड़े गढ़ों मे डाल-पत्ते जल रहे थे। एक छोकरा सखुए की डाल से आग पर पड़ी लकडियों को उलट-पलट रहा था।

मैंने पूछा—"उस गढे मे क्या जल रहा है?" खाना छोड़ कर सब-के-सब उठ खड़े हुए। भयभीत नेत्रों से मेरी ओर देखते हुए वे सकपका कर बोले—"लकड़ी का कोयला है हुजूर।"

मुझे घोड़े पर सवार देख कर वे डर गए थे—शायद उन्होंने मुझे जगल-विभाग का कर्मचारी समझ लिया था। इधर के सारे जंगल सरकार के खास महाल मे पड़ते थे। इजाजत के विना वहाँ लकड़ी काटना या कोयला जलाना गैर-कानूनी था।

मैंने उन्हे दिलासा दिया—"घबराओ मत, मै कोई सरकारी मुलाजिम नहीं हूँ। जी चाहे जितना कोयला तुम बनाओ। मुझे थोडा-सा पानी चाहिए। मिलेगा क्या?" खाना छोड़ कर एक आदमी उठा। एक बड़े से कटोरे मे झट से उसने पानी ला दिया। खूब साफ पानी। पूछने पर पता चला, पास ही कोई झरना है, उसी का यह पानी है।

झरना? मुझे बड़ा कौतूहल हुआ—"कहाँ है वह झरना? मुझे तो खबर ही नही थी कि इधर भी कोई झरना है!"

उन्होंने कहा—"झरना नही हुजूर, एक गढ़ा है। पत्थरों मे से पानी

धीरे-धीरे जमता रहता है। घटे भर मे सेर आधेक पानी होता है। खूब साफ पानी, खूब ठंडा।"

मै वह जगह देखने गया। कितनी सुन्दर और शीतल वन-वीथि! इस सूने जगल मे चट्टानो के नीचे शरत्-वसन्त में या गभीर रात में चिडियाँ जल-केलि को उतरती होंगी शायद! जगल वहाँ पर बड़ा ही घना। पियार और केद की घनी डालो से घिरी एक गहराई, नीचे काले पत्थर की सतह; जैसे पत्थर की एक बहुत बड़ी वेदी घिसते-घिसते गहरी हो गई है। जैसे कुदरत का बनाया एक बहुत बड़ा पत्थर का कटोरा हो। पियार की फूली हुई डाले चारो ओर से उस पर झुक आई थी, जिससे वहाँ बड़ी शीतल छाया थी। पियार और सखुए के फूलों की खुशबू छाया में भुरभुरा रही थी। गढे मे बूँद-बूँद पानी सिमट रहा था। अभी-अभी कोई वहाँ से पानी भर कर ले गया था, सो वहाँ आधी छटाँक भी पानी जमा नही हो पाया था।

उन लोगों ने कहा—"इस झरने का पता बहुतों को नहीं है हुजूर। हम आठों पहर जंगल की खाक छाना करते हैं, इसलिए हम जानते हैं।"

पाँचेक मील और जाने के बाद कारो नदी मिली। दोनों तरफ बालू के काफी ऊँचे कगारे, काफी खड़ी उतराई के बाद नदी का पाट। उसमें नाम को ही पानी था। दोनों तरफ दूर तक धू-धू करते बालू के किनारे। लगा, जैसे किसी पहाड़ से उतर रही हो। पार होते-होते एक जगह घोडे के रिकाब तक पानी हो आया। पॉव समेट सम्हल कर पार हुआ। उस पार खिले रक्तपलाश का जंगल था। ऊँची-नीची रंगीन चट्टानें और जहाँ देखो पलाश-ही-पलाश। चारों तरफ लाल फूलों का अपार मेला। कुछ दूर पर धापुत फूल के जंगल से एक जंगली भैंसा निकलता हुआ दिखाई दिया। रास्ते में खड़े होकर वह खुर से मिट्टी खुरचने लगा। लगाम सम्भाल कर मैं भी ठहर गया। कहीं न आदमी, न आदमजाद—कहीं सींग सँभाल कर खेदना न शुरू कर दे? मगर भाग्य से वह रास्ते से उतर कर जंगल में गायब हो गया।

नदी से और कुछ दूर बढ़ जाने पर रास्ते का दृश्य कैसा हृदयहारी

हो आया ! वह भी तो समझिए कि चिलचिलाती दोपहरी थी, अपराह्न की न तो थी छाया, न थी रात की चांदनी। निर्जन जलती हुई दोपहरी में बाई तरफ खडी थी वन से ढँकी गिरिमाला, दाएँ लोहा-पत्थर और पायो-राहट बिखरी ऊबड-खाबड जमीन में केवल गलगली फूल के सफेद टह-नियों वाले पेड और रगीन धातुप फूल के जंगल। अद्भुत स्थान ; वैसा रूखा फिर भी सुन्दर, फूलो की भीड से भरा फिर भी उद्दाम और इतनी ज्यादा जगली शोभा मैंने कभी देखी ही नही थी। ऊपर से दोपहर की खाँ-खाँ करती हुई धूप। माथे पर आसमान का नीला वितान। ऊपर कही कोई चिडिया नही, एकदम सूना ; नीचे कोई आदमी या जीव-जन्तु नही, सन्नाटा, घोर सुनसान ! प्रकृति की इस एकान्त रूप-लीला को देखते हुए मैं खो गया—जानता ही न था कि भारतवर्ष मे भी कही ऐसी जगह है ! यह तो मानो फिल्म मे देखी हुई दक्खिन अमरीका की एरिजोना या नेवोजा मरुभूमि या हुउसन की किताब मे जिसका जिक्र आया है, उस गिला नदी के मुहाने का इलाका हो।

मेले मे पहुँचते-पहुँचते एक बज गया। बड़ा भारी मेला था। बाईं ओर जो गिरिमाला राह मे लगभग तीन कोस से मेरे साथ-साथ चली आ रही थी, उसी के एक बारगी दक्खिन एक गॉव के पास पहाड़ की तलहटी में साल-पलाश के जगल में यह मेला लगा था। महिपाबाडी, कडारी तिन-टगा, लछमिनिया टोला, भीमदास टोला, महालिखारूप—इन दूर-पास के गाँवों के लोग, खासकर औरतें मेले मे आई थी। तरुणियो ने बालों में पियार या धातुप के फूल खोंस रक्खे थे, किसी-किसी के जूड़े मे काठ की कंघी भी लगी थी। उनकी देह की बनावट बडी लावण्यमयी थी। मौज से वे नकली मोती, जापान या जर्मनी के सस्ते साबुन, सीटी, आईना, निहा-यत निकम्मे एसेंस खरीद रही थीं; मर्द पैसे की दस वाली सिगरेट खरीद रहे थे। बच्चे बच्चियाँ तिलकुट, रेवड़ी, रामदाने के लड्डू और पकौड़ियॉ खरीद कर खा रहे थे।

अचानक किसी औरत के रोने की आवाज से मैं चौंक पड़ा। एक टीले

पर कुछ युवक-युवतियाँ गप-सटाके और हँसी-खुशी मे मशगूल थी। उसी टोली मे से रोने की आवाज उठी। आखिर माजरा क्या है ? कोई एका-एक चल तो नही बसा ? एक आदमी से मैंने पूछा। पता चला, वैसी कोई बात नही। असल मे किसी बहू की अपने नैहर की किसी औरत से भेट हो गई है। इधर का रिवाज ही शायद ऐसा है कि किसी औरत को बहुत दिनों पर कही कोई नैहर की स्त्री, कोई सखी या कोई रिश्ते की औरत मिल जाय, तो वह जार-बेज़ार रोने लगेगी। जो न जानता हो, ऐसा आदमी देखे, तो जरूर यही सनझेगा कि उनका अपना कोई मर गया होगा ; लेकिन हकीकत मे यह उनके आदर-सत्कार का एक ढग है। न रोए तो शिकायत हो। अगर कोई लड़की नैहर के किसी व्यक्ति को देख कर न रोए, तो मतलब यह हुआ कि ससुराल मे वह खूब सुखी है---औरत के लिए यह एक बड़ी शर्मनाक बात है !

एक जगह एक दूकानदार टाट पर किताबे फैलाए बठा था---"गुलब-कावली', 'लैला-मजनू', 'बैताल पच्चीसी', 'प्रेमसागर' आदि-इत्यादि। एकाध बुजुर्ग किस्म के लोग उनके पन्ने पलट रहे थे। मैंने समझा, किताबों की दूकान पर खडे पाठक का जो हाल अनातोले फ्रास के पेरिस मे है, कडारी तीनटंगा के होली के मेले मे भी वही है। मुफ्त मे खडे-खडे पढने को मिल जाय, तो किताबों पर शायद ही कोई कुछ खर्चना चाहे ; मगर दूकानदार भी बडा काइयाँ था। पढने में मशगूल एक आदमी से उसने कहा---"किताब खरीदनी है तो खरीदो ; नही तो और काम देखो।"

मेले से कुछ हटकर सखुओं की छाया मे बहुतेरे लोग खाने-पकाने में लगे थे। ऐसों के लिए मेले मे एक तरफ सब्जियो का बाजार लगा था। सखुए के हरे-हरे पत्तों के दोनो में सुगठी और लाल चीटे के अंडे बिक रहे थे। लाल चीटे के अंडे इधर चाव से खाए जाते है। इसके अलावा कच्चे पपीते, सूखे बेर, केद, अमरूद और जंगली सेम भी बिक रहे थे।

अचानक किसी की आवाज सुनाई पडी---"मैनेजर बाबू---"

मैंने इधर-उधर देखा। देखा, भीड़ चीरता हुआ नवटोलिया के पटवारी

का भाई ब्रह्मा महतो मेरी तरफ चला आ रहा है। उसने पूछा—"आप यहाँ कब आए हुजूर? साथ मे कौन आया है?"

मैंने पूछा—"तुम क्या यहाँ मेला देखने आए हो?"

—"जी नही। मै मेले का ठेकेदार हूँ। जरा मेरे तम्बू में अपने चरणों की धूल दें।"

ठेकेदार का तम्बू मेले के एक किनारे पर था। ब्रह्मा ने मुझे एक पुरानी बेटउड् कुर्सी पर आदर से बिठाया। वहाँ मैंने जो एक आदमी को देखा, वैसा आदमी पृथ्वी पर दूसरा शायद ही देखने को मिले कभी। पता नही, वह था कौन। ब्रह्मा का ही कारिंदा होगा। उमर पचास-साठ की, खुला बदन, काला रंग, बाल सफेद-काले की खिचडी। हाथ मे पैसों से भरी एक थैली, बगल मे एक बही। शायद मेले की वसूली का हिसाब देने आया होगा।

उसकी नजर और चेहरे का बेहद दीन-विनम्र भाव देखकर मै मुग्ध हो गया। उस निगाह में थोड़ा-बहुत भय का भाव भी मिला हुआ था। मगर क्यों? कोई राजा तो था नहीं ब्रह्मा महतो, मजिस्ट्रेट भी नही था, किसी का वारा-न्यारा कर सके, यह भी जर्रत न थी उसकी। खास महाल का एक बढ़ता हुआ रैयत था महज—बला से उसने मेले का ठेका ले रक्खा था, मगर वह आदमी उसके आगे इस बुरी तरह आखिर क्यो झुका था? फिर जब मै तम्बू मे पहुँचा और उसने ब्रह्मा को मेरी इतनी खातिर करते देखा, तो अदब और दीनता से डरते-डरते एकाध बार से ज्यादा मेरी ओर ताकने का उसे भरोसा न हुआ। मै सोचने लगा, इसकी दृष्टि इतनी दीन-हीन क्यों है आखिर? बेहद ग़रीब है क्या, निहायत बेचारा? उसके चेहरे पर ऐसा क्या था कि मै बार-बार उसे देखने लगा—ब्लेसेड आर द मीक, फार दीयर्स इज दि किंगडम आफ हेवन। ऐसा बेचारा मुखडा मैंने सच ही कभी नहीं देखा।

ब्रह्मा से मालूम हुआ—"वह कडारी तिनटंगा का है, जहाँ ब्रह्मा महतो का घर है। जाति का गंगोता है, नाम है गिरधारीलाल। एक छोटे

लडके के सिवाय ससार मे उसका और कोई नही। जैसा कि मैंने सोचा था, हालत उसकी बडी गई-बीती है। बहरहाल ब्रह्मा ने उसे मेले से टैक्स वसूल करने के लिए चार आने रोज और भत्ते पर रख लिया है।"

इस गिरधारीलाल से मेरी बाद मे भी मुलाकात हुई थी। आखिरी भेंट के समय की हालत बडी दर्दनाक रही, वह फिर बताऊँगा। जिन्दगी मे मैंने बहुत किस्म के लोग देखे, मगर उसके जैसा सच्चा आदमी नही देखा। जाने कितने दिन गुजर गए, इस बीच कितने ही लोगों की याद जाती रही; किन्तु जिनकी स्मृति सदा हृदय मे अंकित है, सदा रहेगी, ऐसे ही कुछ लोगों मे गिरधारीलाल एक है।

[तीन]

शाम होती जा रही थी और अब लौट पड़ना निहायत जरूरी था। सो मैंने ब्रह्मा महतो से विदाई माँगी। सुनकर वह तो मानो आसमान पर से गिर पडा। तम्बू में और जो-जो लोग बैठे थे, सब-के-सब अचरज से मेरी ओर ताकते रह गए। तीस मील का रास्ता तै करना है—ऐसे समय चलना गैर मुमकिन है! दरअसल हुजूर ठहरे कलकत्ता के रहने वाले। इधर के रास्तों की हकीकत का पता नहीं, जभी ऐसा कह रहे है। दस मील जाते-न-जाते चक्का डूब जायगा। माना कि चाँदनी रात है, मगर जंगल पहाड़ का रास्ता, बाघ निकल सकता है, जंगली भैसा मिल सकता है। आज-कल बेर पकने के दिन है, भालू के निकलने में तो शक ही नहीं। अभी उस दिन कारो नदी के उस पार महालिखारूप के जगल से एक बेचारे गाड़ीवान को बाघ ले ही गया घसीट कर। अकेला था—"नही हुजूर, यह नहीं हो सकता। जब दया करके इस गरीब के यहाँ आ पहुँचे हैं, तो रात-भर यही ठहर जायँ। यहीं भोजन-छाजन करे। सुबह न होगा तो चल देंगे।"

वासंती पूर्णिमा की खिली चाँदनी मे जंगल-पहाड़ों की राह से घोड़े

की पीठ पर अकेले चलने का लोभ मेरे लिए दुर्दमनीय हो उठा। ऐसा मौका जीवन मे शायद ही फिर कभी मिले, यही शायद अन्तिम अवसर हो—फिर जैसे अपूर्व नज़ारे तमाम राह देखता आया था! चाँदनी रात मे—खासकर पूनों की चाँदनी मे अगर उनकी छटा एक बार न देख सका, तो इतने कष्ट झेलकर आने का कोई मतलब भी हुआ भला ?

सबकी मिन्नते टालकर आखिर मै चल ही पडा। ठीक ही कहा था ब्रह्मा महतो ने, कारो नदी तक पहुँचने से पहले ही सिन्दूरी सूरज पच्छिमी क्षितिज मे एक छोटी-सी पहाड़ी के पीछे डूब गया। कारो नदी के बलुआहे ऊँचे कगारे पर पहुँचा और ढाँलवे से घोडे को उतारने को ही था कि सूर्यास्त का वह दृश्य और पूरब मे एक काली लकीर-सा दीखता मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट के माथे पर उगते हुए पूरे चाद का दृश्य—एक साथ उदय और अस्त के ये दृश्य देखकर घोडे की लगाम सँभाली और मै तनिक ठिठक गया। उस सुनसान आजाने नदी किनारे, सब कुछ मानो अलौकिक-सा लगने लगा—

रास्ते-भर मे पहाडों की उतराई और सपाट मे जहाँ-तहाँ बिखरा-बिखरा जंगल, कही-कही पतली पगडंडी को मानो दोनो तरफ से दबोच देता हो, कही छोडकर अलग हो जाता हो। चारों तरफ कैसा खौफनाक सूनापन! दिन की रोशनी जब तक रही, तब तक फिर भी गनीमत थी, चाँदनी निकल आने के बाद लगने लगा कि मै अजाने और अनोखे सौदर्यो से भरे परी-देश से चला जा रहा हूँ। बाघ का डर हो आया। ब्रह्मा महतो और अपनी कचहरी के सबने रात को इस राह से जाने की मुमानियत की थी—यह भी याद आया। नन्दकिशोर गुसाई नाम के बथानवाले ने कोई दो-तीन महीने पहले कचहरी में महालिखारूप के जंगल मे किसी के बाघ का शिकार हो जाने का जो किस्सा सुनाया था, वह भी याद आया। जहाँ-तहाँ पके बेरो के भार से डाले झुक आई थी—नीचे बे हिसाब सूखे और पके बेर बिखरे पडे थे। भालू के निकलने का खासा खतरा था। इस जंगल में भैंसे जरूर नही है, पर मोहनपुरा के जंगल से एक-आध को निकलते

कितनी देर लगती है ! अभी भी पन्द्रह मील की ऐसी ही सूनी और भयावनी राह बाकी थी ।

डर की इस अनुभूति ने चारो ओर की सुन्दरता को मानों और बढा दिया । कही-कही घुमावदार राह दक्खिन से सीधे उत्तर को चढ आई थी और उत्तर से सीधे पूरब को घूम गई थी । बाई तरफ सटी चल रही थी लगातार पहाडियों की कतार, जिसके नीचे गलगली और पलास के जंगल, चोटी की तरफ सखुओं के पेड और लम्बी घास । चाँदनी लावा जैसी फूटने लगी थी । पेड़ो की छाया छोटी-से-छोटी हो आई, जानें किस वन-फूल की महक से सारा प्रांतर गमगमा उठा था । बडी दूर पर पतई जलाने के लिए संथालों ने पहाड मे आग लगा दी थी—एक अनोखा ही दृश्य लग रहा था, जैसे किसी ने पहाडों पर दीपों की माला सजा दी हो !

मगर अपनी आँखों देखने का मौका नहीं मिला होता, तो किसी के कहने का यकीन ही नही आता कि बंगाल के निहायत ही पडोस मे ऐसा जन-हीन प्रातर और गिरिमाला भी है, जो सौन्दर्य के लिहाज से अरिजोना के पथरीले मरुप्रदेश या रोडेशिया के पुशवेल्ड से किसी भी हालत मे कम नही है—भयानकता के लिहाज से भी यह इलाका कम नही । साँझ होते ही लोग बाघ-भालू के डर से रास्ते पर पैर नही धरते !

खुली चाँदनी मे जाते-जाते सोचने लगा—'यह जिन्दगी ही और है ! जो घरो की चहार दीवारी के अन्दर बँधे रहना पसन्द नही करते, घर-गिरस्ती करना जिनके लहू मे ही नहीं, ऐसे अजीबो-गरीब स्वभाव के लोगो को यही जीवन तो चाहिए । शुरू-शुरू मे जब यहाँ आया था, तब यहाँ का यह भयकर सूनापन और जंगली जीवन-यात्रा मानो काटने दौडती थी, मगर अब लगता है, यही अच्छा है । इस बर्बर, रूखी वन्य प्रकृति ने मुझे अपने मुक्ति-मंत्र से दीक्षित कर लिया; शहर में अब पिंजरे मे रहते भी बनेगा ? इस पथ-विहीन प्रातर की चट्टानों और साल-पलाश के वनों में बेतहाशा घोडा दौड़ाए चलने के आनन्द को, मैं दुनिया की किसी भी दौलत से बदलने को तैयार नहीं । '

चाँदनी और भी निखर आई। खिली चाँदनी में तारे लगभग खो गए। चारों तरफ निगाह दौड़ाई, तो लगा, यह वह धरती ही नहीं, जिसे मैं आज तक जानता रहा हूँ। यह एक स्वप्नो की दुनिया है। इस दिगन्त तक फैले हुए चाँदनी के पारावार में बहुत रात बीते अपार्थिव जीवों का विहार चलता है—वे स्वप्न और कल्पना के, तपस्या के धन हैं। जिन्हें वन-फूलों से प्यार नही, जो सुन्दर को नही चीन्हते, जिन्हे क्षितिज की रेखा इशारे से कभी बुलाती नही, यह धरती कभी भी उनके हाथों पकड़ में नही आती, कभी नही।

महालिखारूप का जगल खत्म हुआ और कोई चार मील चल कर अपनी सीमा शुरू हुई। रात के करीब नौ बजे मैं कचहरी पहुँचा।

[चार]

ढोलक की आवाज आई। झाँककर बाहर देखा। कचहरी के अहाते मे जानें कहाँ से आकर कुछ लोग ढोलक बजा रहे थे। कचहरी के नौकर-प्यादे उनके चारों तरफ जा खडे हो गए। माजरा क्या है, किसी को बुला कर पूछने की मैं सोच ही रहा था कि मुक्तिनाथसिह जमादार ने आकर सलाम किया और बोला—

"हुजूर, ज़रा मिहरबानी करके बाहर चलेगे ?"

—"क्यो, बात क्या है ?"

—"इस साल दक्खिन मे अकाल पडा है हुजूर। धान की फसल हुई नही। गुजारा नही चलता, सो लोग पेट चलाने के लिए जहाँ-तहाँ नाच दिखाते फिर रहे है। एक दल हुजूर के सामने नाच दिखाने को यहाँ आया हुआ है। हुक्म हो, तो ये नाच दिखाएँ।"

नाच वाले मेरे दफ्तर के सामने आ खड़े हुए। मुक्तिनाथसिह ने उनसे पूछा कि वे कौन-सा, नाच दिखायँगे। नाचवाली मंडली में से साठ-बासठ साल का एक बूढा आगे निकल आया और सलाम करके विनीत भाव से बोला—"हो हो नाच और छोकडा नाच हुजूर।"

दल को देखने से मुझे ऐसा लगा कि वे लोग नाच जाने चाहे न जाने, दो मुट्ठी भोजन पाने के आसरे, सब तरह के, सभी उमर के लोग उसमे शामिल हो गए है। बडी देर तक वे नाचते-गाते रहे। दिन ढले वे आए थे, और आसमान मे चाँदनी बिखर पडी, तब तक घूम-घूमकर, एक दूसरे का हाथ पकड़ कर नाचते रहे, गाते रहे। अजीब तर्ज के गीत। मुक्त प्रकृति के इस विशाल विस्तार और इस सभ्य जगत् से दूर, बहुत दूर, जंगल की पृष्ठ-भूमि मे इस दिगन्त परिप्लाविनी छाया-विहीन चाँदनी मे इनके ही ये नाच-गीत उचित लगते हैं। एक गीत का आशय था—

"छुटपने में मजे में था।

अपने गाँव के पीछे जो पहाड़ है, उसकी चोटी पर केंद का जंगल है। उसी जंगल में पके फल बीना करता गूँथा और था करता था पियार के फूलों की माला।

दिन सुख से ही बीतते थे, तब इसकी खाक भी खबर न थी कि प्यार क्या बला होती है।

उस दिन पचनहरी झरने के किनारे करें के शिकार मे गया। मेरे हाथों में बाँस का नल था।

तुम कुसुमी रंग की साड़ी पहने पानी भरने को आई थी। कहा था—'छिः, मर्द होकर यों चिड़ियों का शिकार?'

मै शर्म से पानी-पानी हो गया था और शिकार के औजार फेंक दिए थे। वन की चिड़िया तो उड़ भागी; मगर मेरे मन की चिड़िया तुम्हारे प्रेम के फंदे मे सदा-सदा के लिए फँस गई!

आखिर नलीं से चिड़िया मारने की मनाही करके तुमने यह क्या किया? यह जो कुछ हुआ, वह अच्छा हुआ क्या?"

उनकी भाषा कुछ तो समझ मे आती, कुछ-कुछ नही आती। उनके गीत शायद इसीलिए मुझे और भी अनोखे लगे। पहाड़ और पियार के वनों के सुर मे बँधे हुए उनके ये गीत यही अच्छे लगने के हैं।

महज चार आने पैसे थी उनके नाच की दक्षिणा। सभी अमलो ने

मुझ से कहा—"ये चार आने भी इन्हे सभी जगह नही नसीब होते हुजूर ! आप ज्यादा पैसे देकर उनका लोभ न बढ़ाएँ, बाजार बिगड़ जायगा। दर से ज्यादा मिहनताना देने से गरीब गिरस्थ अपने यहाँ नाच नही करा पाएँगे।"

मैं तो दंग रह गया। कम-से-कम सत्रह-अठ्ठारह आदमी दो-तीन घटे तक नाचते रहे थे। चार आने मे फी आदमी एक पैसा भी तो नहीं पडेगा ! नाच दिखाने के लिए यह घना जंगल और इतना बड़ा प्रांतर पार करके बेचारे इतनी दूर आए है। तमाम दिन की यही तो मजूरी है ! पास पडोस मे और कोई बस्ती भी नही कि कही रात का भी ठिकाना हो सके।

रात को उनके रहने-खाने का इतजाम मैने कचहरी मे ही कर दिया। सुबह दल के मुखिया के हाथो पर जब मैने दो रुपए रख दिए, तो वह टुकुर-टुकुर मेरी तरफ ताकता रह गया—अवाक् ! नाच के बदले खाना कोई नही देता, फिर ऊपर से दो रुपए नकद !

नाच वालों के साथ बारह-तेरह साल का एक लडका था। ठीक जैसे यात्रा-दल* का कृष्ण हो। घुँघराले केश, बडा ही गात और सुन्दर चेहरा, बदन का रग कसौटी की तरह काला। वही पहले गाना शुरू करता और जब पैरो मे घुँघरू बाँधकर नाचता, तो होठो के कोनों पर हँसी थिरक कर जा छिपती। हाव-भाव बताते हुए, हाथ हिला-हिलाकर वह गाता—

"राजा, लीजिए सलाम मैं परदेशिया।"

महज एक जून भर-पेट खाने के लिए यह सलोना लड़का उस मंडली के साथ लग गया था। पैसे का हिस्सा उसे नसीब नही होता था। और खाना भी क्या, माढा और नमक ! बहुत हुआ, तो उसके साथ थोडी-सी तरकारी—आलू-परवल की नही, जंगली गुरमी की भुजिया या सिझाया हुआ बथुआ या निनुआ। इसी पर हँसी उसके होठो से सदा लगी है। खासी तंदुरुस्ती, अंग-अग मे लावण्य का निखार !

---

*बिना पर्दे के नाटक खेलनेवाली मंडली।

मैंने दल के मुखिया से कहा—"सुनो, इस धतुरिया को यहाँ छोड़ जाओ। यही काम करेगा और खाएगा-पिएगा।"

दाढ़ीवाला वह बूढा मुखिया एक अजीब आदमी था। बासठ की इस उमर मे भी वह एक निरा बच्चा हो जैसे।

बोला—"वह यहाँ रह ही नही सकेगा हुजूर! गाँव के जाने-चीन्हें लोगों का संग-साथ है, इसीसे रह लेता है। अकेले कैसा तो करेगा जी उसका। बच्चा है, कैसे रहेगा? इसे आपके पास फिर ले आऊँगा हुजूर!"

छठा परिच्छेद

[एक]

जंगल के अलग-अलग हिस्सो की नाप-जोख चल रही थी । इसी नाप-जोख के सिलसिले मे रामचन्दरसिह अमीन कुछ दिनो से बोमाइबुरू जगल मे रह रहा था । उस रोज सबेरे यह खबर मिली कि दो-तीन दिन हुए, रामचन्दरसिह अचानक पागल हो गया है ।

सुनते ही मै कई लोगों के साथ वहाॅ गया । बोमाइबुरू खूब घना जंगल नही ; ऊँचे-नीचे खुले प्रातर में बडे-बड़े पेड, पेड़ों से रस्सियों-जैसी झूलती लताएँ, मानो जहाज के ऊँचे मस्तूलों में रस्सियाँ बँधी हों। कही भी लोगों की बस्ती नहीं ।

पेड-पौधों की भीड से परे एक खुली जगह में कसाल की छौनी वाले दो झोपडे । एक कुछ बड़ा, जिसमे अमीन रामचन्दरसिह रहता, उसी के पास दूसरे मे रहता अशर्फी टंडेल । अपने झोंपड़े के अन्दर लकडी के मचान पर रामचन्दर आँखें बन्द किए सोया था । हम लोगों के जाते ही जल्दी-जल्दी उठ बैठा । मैंने पूछा—" क्यो, बात क्या है रामचन्दर ? कैसे हो ?"

रामचन्दर ने हाथ जोडकर नमस्कार किया और चुप हो रहा ।

उत्तर दिया अशर्फी टंडेल ने । बोला—" बात बडे अचरज की है बाबू, सुनकर आप विश्वास नही करेंगे । मै खुद कचहरी जाकर इसकी इत्तला देना चाह रहा था ; मगर इन्हे अकेला छोड कर जा ही कैसे सकता था ? घटना यों है कि कई दिनो से अमीन साहब रोज ही कहते है कि रात को कोई कुत्ता उन्हे आकर तंग करता है । अमीन साहब यहाॅ सोते है, मैं वहाँ, उस झोंपड़े मे सोता हूँ । दो-तीन दिन तो यो ही बीत गए । रोज ही वे कहते थे—रात को कही से एक कुत्ता आता है । मै मचान पर सोया रहता हूँ, वह कुत्ता मचान के नीचे काँउँ-काॅउँ करता रहता है । चाहता है कि

वह मेरे पास आ जाय।' मै उनकी बाते सुनता और उड़ा देता। चार दिन पहले बहुत रात बीते उन्होंने अचानक आवाज दी—'अशर्फी दौड़ कर आओ, वह कुत्ता आया है। लाठी लेते आना—मैंने उसकी दुम को दबा रक्खा है।'

"मै जग पडा। लाठी और लालटेन लिए दौडा। जाते-जाते जो देखा हुजूर, कहने से विश्वास न होगा ; मगर हुजूर के सामने झूठ कहूँ, इस नाचीज मे वैसी हिम्मत नही—उनके झोंपडे से एक औरत निकल कर जगल मे चली गई। पहले तो मै सकपका गया। बाद मे अन्दर जाकर देखा, अमीन साहब बिस्तर टटोल कर दियासलाई ढूँढ रहे है। उन्होने पूछा—'कुत्ते को देखा तुमने ?'

"मैंने कहा, 'कुत्ता कहाँ था बाबू, वह तो एक औरत थी।' वे बोले—'उल्लू कही का, मुझसे बेअदबी ? इस जगल मे आधी रात गए औरत कौन आ सकती है ?' कबख्त कुत्ते की मैंने दुम दबा रक्खी थी, उसका लंबा कान मेरे बदन से लगा था। मचान के नीचे कों-को कर रहा था। लगता है, तुमने भग पी रक्खी है। शिकायत लिख भेजूँगा सदर मे।'

"दूसरे दिन काफी रात तक मै चौकन्ना रहा। किसी वक्त आँख लगी नहीं कि अमीन साहब ने पुकारा। मै दौडता हुआ निकला। द्वार तक पहुँचा कि देखा, एक औरत उत्तरी घेरे से सटी-सटी जगल की तरफ जा रही है। लगा, जैसे मै भी जंगल में धँस पडा। इतनी ही देर मे वह कहाँ छिप सकती थी और जगल में ही वह कहाँ जाती ? हम नाप-जोख करने वाले लोग, जंगल के अत्ते-पत्ते की खबर रखते है। लाख ढूँढा, कही पता नही। मुझे कैसा भ्रम हुआ। मैंने रोशनी पास ले जाकर जमीन को ध्यान से देखा। मेरे जूते के सिवाय उसके पाँवों का कहीं भी निशान न था।

"अमीन साहब से फिर मैंने इसका जिक्र ही नहीं किया उस दिन। इस भयानक जंगल में हम ही दो आदमी रहते हैं। मारे डर के मेरे रोंगटे खड़े हो गए। बोमाइबुरू जगल की बदनामी भी है। मेरे दादा कहते थे—एक बार पूर्णियाँ से उड़द बेचकर वे घोडे पर सवार होकर चाँदनी रात

में यहाँ से होकर घर लौट रहे थे। बोमाइबुरू पहाड़ पर, वहाँ वह जो बर-गद का पेड़ है न, उसी के नीचे उन्होने कम उम्र की हसीन लड़कियों की एक टोली को नाचते देखा था। इधर उन्हे लोग 'डामाबानू' कहते है—एक किस्म की जिन्न कहिए। सूने जंगल मे रहती है ये। इनका दाव चले, तो आदमी की जान ही ले ले।

"दूसरे दिन तमाम रात मै अमीन साहब के ही झोपडे मे रहा—जगकर नाप-जोख का हिसाब देखता रहा। धीरे-धीरे रात की आखिरी घड़ियों मे आँख लग गई। अचानक अपने बहुत ही पास कुछ आहट पाकर मै जग पड़ा और देखने लगा। अमीन साहब अपने बिस्तर पर सो रहे थे और उनके मचान के नीचे कोई घुस रहा था! मैने झुककर नीचे जो देखा, तो चौक उठा। अँधेरे के झिल-मिल प्रकाश में पहले तो लगा कि एक औरत नीचे सिमट कर बैठी मेरी तरफ हँसती हुई ताक रही है—आपके पैरों पर हाथ रखकर कह सकता हूँ हुजूर, यह मैने अपनी आँखों, बिल्कुल साफ देखा था। उसके बालों की लटे तक मैने देखीं। लालटेन छै-सातेक हाथ दूर पर रक्खी थी, जहाँ बैठकर मै हिसाब देख रहा था। और साफ देख सकूँ, इसके लिए मै ज्यों ही लालटेन लाने को गया कि कोई एक जीव अन्दर से निकल कर भागने लगा। लालटेन की आडी रोशनी दरवाजे पर पड रही थी। उस प्रकाश मे मैने देखा, एक कुत्ता है, मगर पूँछ से सिर तक एकदम सफेद—कहीं काला धब्बा तक नही।

"अमीन साहब जगकर चीख उठे—'क्या है?' मैने कहा—'कुछ नही' कोई स्यार या कुत्ता होगा। अन्दर घुस रहा था।' अमीन साहब बोले—'कुत्ता? कैसा कुत्ता?' मैने कहा—'सफेद था।' एक निराश भरे-से स्वर में अमीन साहब बोले—'तुमने ठीक देखा, सफेद था? कि काला?' मैने कहा—'सफेद ही था हुजूर।"

"मुझे कुछ अचरज-सा लगा। समझ नहीं सका कि कुत्ता सफेद के बजाय काला ही होता, तो अमीन साहब को कौन-सी शान्ति मिलती। वे सो गए, मगर मुझे इतना डर लग रहा था कि कोशिश करके भी आँखें न

लग सकी। खूब तडके जगा। जाने क्या सोच कर मैने सावधानी से मचान के नीचे की तलाशी ली। नीचे मुझे बालो की एक लट मिली—वह लट मैने रक्खी है, यह देखिए हुजूर। बाल औरत के ही सिर के थे। आखिर कहाँ मे आए थे बाल ? घने काले और खासे मुलायम। कुत्ते के, खासकर सफेद कुत्ते के इतने लम्बे और काले बाल तो नही हो सकते ! यह पिछले इतवार यानी तीन दिन पहले की बात है। तब से अमीन साहब तो पागल ही हो गए है, मुझे डर हो रहा है, कही अब अपनी ही बारी न हो।"

चडूखाने की गप्प जैसी ही लगी। बालों की लट को मैंने अपने हाथ मे लेकर देखा, कुछ समझ नही सका। इसमे तो कोई शक ही नही कि बाल औरत के ही थे। और सबने यह भी बताया कि अशर्फी टंडेल कम-से-कम नशेबाज तो नही है।

अमीन का झोपड़ा ऐसे प्रांतर और जंगल मे था कि वहाँ आदमी का नाम-निशान भी नही था। सबसे नजदीक पडनेवाली बस्ती नवटोलिया भी वहाँ से छै मील दूर थी। इतनी रात मे वहाँ कोई औरत आ कहाँ से सकती है, जबकि बाघ और बनैले सूअर के डर से साँझ होते ही कोई बाहर कदम तक नही रखता।

अगर अशर्फी टंडेल की बात को सही मान ले, तो यह मामला बडा रहस्यमय है ! या यह मानना होगा कि इस पाँडव-वर्जित प्रदेश मे बीसवीं सदी को तो घुसने की राह नहीं ही मिली, उन्नीसवी सदी को भी नही मिली।

मैने वहाँ का पड़ाव उठवा दिया। अमीन और अशर्फी टंडेल को सदर कचहरी ले आया। रामचन्दर की हालत दिन-दिन बिगड़ती ही गई—धीरे-धीरे वह घोर पागल हो गया। तमाम रात चीखता-चिल्लाता, बक-झक करता, गीत गाता। मैंने डाक्टर बुलवाकर दिखाया। कोई नतीजा न निकला। आखिर उसका एक भाई आकर उसे घर लिवा ले गया।

इस घटना के छै मास बाद चैत महीने में एक दिन दो आदमी मुझसे मिलने आए। एक बूढ़ा था—साठ-पैंसठ से कम उम्र नहीं होगी उसकी।

दूसरा उसका बेटा था—बीस-बाईस का। बलिया के थे वे। चरी के जगल की कोशिश मे आए थे कि कोई इलाका मिल जाय, तो यहाँ अपनी गाय-भैस लेकर रहे।

चरी के जंगल सब-के-सब दिए जा चुके थे—एक बोमाइ-बुरू का जंगल ही बाकी बचा था। मैंने उसीको उनको सौप दिया। बूढ़ा बेटे के साथ एक रोज जगल को देख भी आया। बेहद खुश हुआ। बोला—"काफी लबी घास है हुजूर—खासा जगल है। हुजूर की मिहरबानी न होती, तो ऐसा जंगल मिलना मुश्किल था।"

रामचंदर अमीनवाली बात मुझे याद न थी। होती भी तो बूढे से मैं नही कहता ; क्योंकि सुनकर अगर वह भाग जाता, तो जमीदार का नुकसान होता। उस घटना के बाद से आस-पास के लोगों मे से कोई भी उस जंगल के प्रबन्ध के लिए आता ही न था।

महीना भर बाद वैशाख के आरंभ की बात है—एक दिन वह बूढ़ा कचहरी आया। बड़ा ही क्षुब्ध। उसके पीछे सिकुड़ा-सिमटा-सा खड़ा उसका वही लडका।

मैंने पूछा—"माजरा क्या है ?"

गुस्से से काँपते हुए बूढ़े ने कहा—"इस शोहदे छोकरे को शासन के लिए हुजूर के पास ले आया हूँ। गिनकर इसे पचीस जूते लगाएँ, कि इसके होश ठिकाने आ जायँ ?"

—"क्यों, हुआ क्या है ?"

—"हुजूर से कहते शरम लगती है। यहाँ आकर यह दिन-दिन बिगड़ता जा रहा है। कोई सात-आठ दिन से लगातार मैंने गौर किया है, कहते लाज लगती है हुजूर, बराबर घर मे से एक औरत निकलती है। एक ही तो झोंपडी है—आठ एक हाथ की होगी। हम दोनों ही उसी में सोते है। मेरी आँखो मे धूल झोंकना इतना आसान नही। लगातार दो दिन जब यही रवैया देखा, तो मैंने उससे पूछा। वह तो जैसे आसमान पर से गिर पडा। कहा—'मुझे तो कोई खबर नही !' उसके बाद भी दो

दिन देखा—वही हाल। फिर मैंने इसकी खूब खबर ली। मेरी आँखो के सामने इस कदर बिगड जायगा? लेकिन परसो जब फिर से देखा, तो हुजूर के पास ले आया, जरा इसे सजा दे आप।"

मुझे अचानक रामचंदर अमीनवाली बात याद आ गई। पूछा—"कितनी रात बीतने पर तुमने देखा?"

—"रात के आखिरी पहर मे ही ज्यादातर, यही दो-एक घडी रात रहते।"

—"तुमने ठीक ही देखा है, औरत थी?"

—"मेरी आँखो की जोत अभी उतनी मद नही पड़ी है हुजूर। बेशक औरत थी। उम्र भी ज्यादा नहीं। पहनावे मे कभी सुफैद साडी, कभी लाल तो कभी काली। एक दिन मैंने उसका पीछा भी किया था। कसाल के जगल मे वह कहाँ जो गायब हो गई, पता न चला। लौटकर देखा, यह लडका जैसे सोने का बहाना बनाए पडा है। आवाज देते ही चौककर उठ बैठा मानो नींद से जगा हो। मैंने समझा, इस मर्ज की दवा यहाँ के सिवाय और कही नही होगी, इसीलिए हुजूर के पास—"

मै उस लड़के को अलग ले गया। पूछा—"तुम्हारे बारे में यह सब क्या सुन रहा हूँ?"

उसने मेरे पाँव पकड़ लिए—"मेरी बातों पर यकीन करें हुजूर! मुझे खाक भी खबर नहीं इसकी। तमाम दिन भैसों के पीछे जंगल की खाक छानता हूँ—रात में सोता हूँ तो मुर्दे की तरह। सुबह होने पर ही आँख खुलती है। घर को चाहे आग ही क्यों न लग जाय, मुझे होश नहीं रहता।"

मैंने कहा—"तुमने घर मे कभी किसी को घुसते नहीं देखा?"

—"जी नही। सो जाने पर बहदवास हो जाता हूँ मै तो।"

आगे और कोई बात नही हुई। बूढ़ा खुश हो गया। उसने समझा ओट में ले जाकर मैंने लडके को डाट-फटकार दिया है। इसके कोई पंद्रह दिन बाद वह लड़का मेरे पास आया। उसने कहा—"एक बात आपसे पूछने आया हूँ हुजूर। पिछली बार जब मै बाबूजी के साथ यहाँ आया था,

तो आपने मुझसे यह क्यों पूछा था कि तुमने घर में कभी कुछ घुसते देखा है या नही ?"

"आखिर क्यो पूछना चाहते हो ?"

—"आजकल मेरी नीद बडी पतली हो गई है हुजूर—चाहे बाबूजी के बिगडते रहने मे भय के कारण या और किसी वजह से हो। सो आज-कल मै रोज ही देखता हूँ कि किही से एक सादा कुत्ता आ जाता है। काफी रात होने पर आता है। किसी-किसी दिन आँख खुलते ही उस पर नजर पड़ जाती है। लगता है, यही कही था। धत्-धुत् करते ही भाग जाता है। कभी मेरी आँख खुलते ही चल देता है। जाने कैसे तो जान जाता है कि मै जगा पड़ा हूँ। ऐसा तो खैर कई दिनो तक होता रहा। कल एक अजीब-सी बात हो गई। बाबूजी तक को इसकी खबर नही है, मै आपसे चुपचाप कहने चला आया हूँ। कल बहुत रात हुए जब आँख खुली, तो देखा, कुत्ता वहाँ है। कब घुस आया था, पता नही। धीरे-धीरे वह निकल रहा था। उधर जो कसाल का घेरा है, उसमे खिडकी जैसा फाँक बना है। उसमे से कुत्ता निकला और पलक मारने मे जो देर लगती है, उतने ही मे मैने देखा, एक औरत खिडकी के बगल से जगल की तरफ चली जा रही है। मै लपककर बाहर निकला, मगर कही कुछ नहीं दिखाई दिया। बाबूजी से मैंने कुछ नहीं बताया। बूढे आदमी, सो रहे थे वे। मै तो कुछ समझ नही पाता। हुजूर कि माजरा क्या है।"

मैने भरोसा दिया—"वह आँखों का भ्रम है"—मैने कहा—"अगर वहाँ अकेले रहते हुए डर लगता हो, तो रात को यही आकर सोया करो।" अपनी कायरता के खयाल से वह शर्मिन्दा हो गया और चला गया ; लेकिन मेरे जी की बेचैनी न गई। निश्चय किया कि अब यदि वैसा कुछ सुनूँ, तो दो प्यादों को वहाँ सोने के लिए भेज दिया करूँगा।

तब भी मै यह नही समझ सका कि बात कैसी संगीन है। और अत्यंत ही अचानक अप्रत्याशित भाव से दुर्घटना हो गई, इसके तीन दिन बाद।

सबेरे नींद से जगा ही था कि समाचार मिला—'बोमाइबुरू के बूढ़े

इजारादार का लडका मारा गया।' घोडे से हम उसी वक्त चल पडे। वहाँ पहुँचकर देखा कि उनके झोपडे के पीछे कसाल और झाऊ के जगल मे नौ-जवान की लाश अभी भी पडी है। चेहरे पर भीषण भय और आतक की निशानी---मानो कोई विभीषिका देखकर दम घुटकर मर गया है। बूढे ने बताया---" रात की आखिरी घड़ियो मे वह अपने बिछावन पर नही था। मैने लालटेन लेकर उसकी खोज शुरू की , मगर सुबह से पहले तक उसकी लाश देखने को न मिली। लगता है, बिछावन से उठकर उसने किसी चीज का पीछा किया था---क्योकि लाश के पास ही लाठी और लालटेन पडी थी। किसका पीछा किया था, यह कह सकना कठिन है। बालू पर सिर्फ उसी के पॉव के निशान मिले और किसी के नही, न आदमी के, न जानवर के। लाश पर भी चोट का कही दाग न था। " इस घटना के रहस्य की कोई मीमासा न हो सकी। पुलिसवाले आए। उनसे भी कुछ करते न बना---लौट गए। इससे लोगो मे एक ऐसा डर घर कर गया कि साँझ से बहुत पहले भी उधर कोई नही जाता था। कई दिनो तक तो ऐसा हो गया कि कचहरी में अकेले सोए-सोए बाहर की धप् धप् धुली चाँदनी रात की उदासी और निर्जनता को देखकर एक अजाने आतक से प्राण काँप उठते। लगता, अब कलकत्ता भाग चलूँ, यह जगह अच्छी नही, यहाँ की चाँदनी रात रूप-कथा की राक्षसी रानी जैसी है, कभी भुला-फुसला कर मार डालेगी। यह मनुष्य की वास-भूमि तो नही ही है, है किसी और ही लोक के रहस्यमय, अशरीरी जीवो का राज्य। वही यहाँ युगो से बसते आ रहे है। आज यहाँ मनुष्यों का यह जो अनधिकार प्रवेश हो गया है, वह उन्हे नही सुहाता! मौका मिलने पर वे इसका बदला चुकाए बिना बाज नहीं आएंगे।

[दो]

राजू पाँड़े से जब अपनी पहली बार भेट हुई थी, उस दिन की मुझे आज भी खूब याद है। मै कचहरी मे बैठा हुआ काम कर रहा था। एक गोरा-गोरा-सा सुंदर ब्राह्मण मेरे सामने नमस्कार करके आ खड़ा हुआ।

उम्र उसकी कोई पचपन-छप्पन की होगी ; पर उसे बूढा बताना गलत होगा, क्योकि उसके जैसा गठीला बदन बंगाल के बहुतेरे युवकों का भी नही। ललाट पर तिलक, बदन पर एक सफेद चादर और हाथ मे एक छोटी-सी पोटली।

मेरे पूछने पर उसने बताया कि वह बडी दूर से आया है। यहाँ थोडी-सी जमीन-लेकर खेती करने का इरादा रखता है। बडा ही गरीब है। सलामी देने की जुर्रत नही। उसने पूछा कि अधबटैया पर थोडी-सी जमीन मिल सकेगी या नही ?

कुछ इस किस्म के आदमी होते हैं, जा अपने बारे मे ज्यादा कुछ कहना नही जानते ; पर उनकी शक्ल देखने से ही मालूम पड़ जाता है कि ये सचमुच ही बडे दुखी है। राजू पाँडे की सूरत देखकर ही मुझे लगा, थोडी-सी जमीन के लोभ से यह धरमपुर परगने से इतनी दूर आया है। जमीन न मिलने पर लाचार लौट तो जायगा, मगर सारी उम्मीदो पर पानी फिर जायगा, दिल टूट जायगा बेचारे का।

नवटोलिया के उत्तर जंगल मे मैंने राजू को दो बीघे जमीन दी—बिना सलामी लिए ही कहिए। कह दिया—" खेत बनाकर जोतो-बोओ। शुरू के दो साल तुम्हें कुछ भी नहीं देना पडेगा। तीसरे साल से चार आना बीघा मालगुजारी देनी पडेगी।" तब भी यह कल्पना नही कर सका कि कैसे एक विचित्र आदमी को मैंने जमींदारी मे बसाया !

वह भादो या कुआर के महीने में आया, जमीन बंदोबस्त लेकर लौट भी गया। झमेलों मे उसकी बात मै कतई भूल गया। दूसरे साल सर्दियो के आखीर मे एक दिन नवटोलिया कचहरी से लौट रहा था कि अचानक नजर पड़ा। पेड तले बैठकर कोई किताब पढ रहा है। मुझे देखकर झट से उसने किताब बंद कर दी और खडा हो गया। वह राजू पाँड़े था, मै पहचान गया। सोचा, बात क्या है कि पिछले साल जमीन बंदोबस्त लेने के बाद से यह भूलकर भी कभी फिर कचहरी की तरफ झाँकने न आया ? मैंने कहा—" क्यों पाँडेजी, आप यही है ? मै तो सोच रहा था, जगह-जमीन

छोड-छाड कर आप चल दिए! खेती की है कि नही ? " देखा, राजू के चेहरे पर हवाइयाँ उडने लगी। रुक-अटककर कहने लगा—" जी, खेती तो. . . जी, इस बार. . . "

मुझे क्रोध-सा हो आया। ऐसे लोग जबान के बडे मीठे होते है, भुला-फुसलाकर अपना उल्लू सीधा कर लेने मे कुशल। मैने कहा—" डेढ साल गुजर गया, कभी आपकी चोटी के भी दर्शन नही हुए। जमीदार को अँगूठा दिखाकर मजे मे सारी फसल हजम किए लेते है। शायद भूल गए कि उपज का हिस्सा देना है ? "

अचरज से राजू बडी-बडी आँखों से मुझे ताकता हुआ बोला—" फसल हुजूर ? मै सोच भी नही सका कि उसका हिस्सा कैसे दूँ—चीना दाना. . . . "

मुझे यकीन न आया। कहा—" पिछले छै महीने से आप चीनादाना खाकर ही गुजारा कर रहे है? और कुछ नही उपजाया है ? मकई ? "

—" नही हुजूर, बड़ा जंगल है। अकेला आदमी, कितना काटूँ आखिर! बडी-बडी मुश्किल से पद्रह कट्ठा तैयार किया है। आइए न हुजूर, एक बार चरणो की धूल दे। "

मै उसके पीछे हो लिया। कही-कही जगल इतना घना था कि घोड़े को भी चलने मे तकलीफ हो रही थी। थोड़ी दूर पर बीघा-भर साफ-सुथरी जगह, उसी के बीच में घास की दो छोटी और नीची झोंपड़ी। एक मे वह आप रहता, दूसरी मे फसल। न थैला, न बोरा। जमीन पर ही चीना-दाना का ढेर लगा था। मैंने कहा—" आप इतने आलसी है पाँडेजी, मुझे मालूम न था। दो साल में आप दो बीघा जंगल भी नहीं काट सके ? " सकपकाते हुए राजू ने कहा—" समय ही बहुत कम मिलता है हुजूर! "

—" क्यों, आखिर तमाम दिन करते क्या हैं आप ? "

शर्माकर राजू चुप हो रहा। उसकी झोंपड़ी मे ज्यादा चीजे नहीं थीं। लोटे के सिवाय दूसरा कोई बर्तन भी न था। लोटा कुछ बडा था, उसी में उसकी रसोई बनती थी। रसोई में भात कहाँ, चीना-दाना उबाल लेता।

हरे सखुए के पत्ते पर उँडेल कर खाता, बर्तन की फिर जरूरत भी क्या थी! पानी का कुड पास ही था। और क्या चाहिए उसे।

झोपडी के पास ही एक तरफ सिंदूर लगी राधाकृष्ण की काले पत्थर की मूर्ति थी। समझा, राजू भक्त आदमी है। पत्थर की वेदी को फूलो से सजा रक्खा था, पास ही दो-चार पोथियाँ और किताबे धरी थी। समय कम मिलता है, यानी तमाम दिन शायद वह भजन-पूजन मे ही लगा रहता होगा। खेती कब करे?

राजू को आज ही मैंने पहली बार समझा।

हिंदी राजू पाँडे अच्छी तरह जानता था, थोड़ी-बहुत सस्कृत भी। सो भी सब समय पढता नहीं, समय मिलने पर कभी-कभी हिंदी की कोई किताब लेकर बैठता जरा देर—ज्यादातर वह ऊपर आसमान और पहाड़ की तरफ चुपचाप ताकता रहता। एक दिन देखा—छोटी-सी बही लेकर सरपत की कलम से वह न जाने क्या लिख रहा है। अच्छा, पाँडेजी कविता भी लिखते हैं क्या? मगर ऐसे लजीले और दुबके-से आदमी कि उनसे कोई बात निकाल लेना बडा कठिन काम था। अपने बारे में कुछ भी कहना गवारा नही। एक दिन मैंने पूछा—"आपके और कौन-कौन हैं पाँडेजी?"

—"सभी हैं हुजूर। तीन लड़के, दो लड़कियाँ, विधवा बहन।"

—"उनका गुजारा कैसे चलता है?"

आसमान की ओर हाथ उठाकर वह बोला—"सब भगवान् चलाते हैं। उनके मुँह मे दो दाने दे सकूँ, इसीलिए तो हुजूर की शरण में आया हूँ। जमीन तैयार कर लूँ—"

—"तैयार भी कर लें, तो दो बीघे से उतने बड़े परिवार का भरण-पोषण हो सकेगा? और उसमें भी तो आप जी-जान से जुटते नहीं?"

पहले तो राजू ने इसका जवाब ही न दिया, फिर बोला—"जिदगी के दिन ही बड़े थोडे है हुजूर। जगल काटते-काटते जाने कितनी बाते जी मे आती है, बैठकर सोचने लगता हूँ। यह जो वन-जंगल है, बहुत ही अच्छी

जगह है यह। जाने कब से तरह-तरह के फूल खिलते है, चिडियाँ चहकती है। यहाँ हवा के साथ-साथ स्वर्ग के देवता मिट्टी पर कदम रखते है। जहाँ कौड़ी का लोभ है, जहाँ लेन-देन का लेखा-जोखा चलता है, वहाँ की हवा जहरीली हो उठती है। वैसी जगह देवता नही रहते ; इसलिए जब-जब मै यहाँ कुल्हाडी उठाता हूँ, देवता उसे हाथ से छीन लेते है। कानों मे चुपचाप ऐसी-ऐसी बाते कहते है, जिससे धन-जायदाद से मन हटकर बहुत दूर चला जाता है।"

मैने समझा—राजू कवि तो है ही, दार्शनिक भी है।

मै बोला—"लेकिन पाँडेजी, देवता यह तो नही कहते कि घर खर्च मत भेजा करो, सारे घरवाले फाके किया करे। ये बेकार की बाते है। आप जी से काम कीजिए, नहीं तो मै जमीन छीन लूँगा!"

कुछ महीने यों ही बीत गए। बीच-बीच मे राजू के पास भी जाता रहा। बडा ही भला लगता था वह मुझे! नवटोलिया बैहार के उस निर्जन और घने जगल मे एक फूस की झोंपडी मे वह कैसे दिन काटता था। समझ नही पाता।

सचमुच ही वह सात्त्विक प्रकृति का आदमी था। चीना के सिवाय और कुछ वह नही उपजा सकता। सात-आठ महीने का अरसा उसी पर काटता रहा। कभी किसी से भेंट-मुलाकात नही, दो बाते करे, ऐसा कोई आदमी नही। फिर भी उसे कोई असुविधा नही थी। मजे मे रह रहा था। जब कभी भी दोपहर के समय मै उधर से गुजरता, उसे खेत पर काम करते पाता। साँझ को प्राय उसे उस बहेडे के पेड के नीचे चुपचाप बैठा पाता—कभी हाथ मे बही लिए, कभी यों ही।

एक दिन मैने उससे कहा—"पाँडेजी, आपको थोडी-सी जमीन और दिए देता हूँ, आप ज्यादा खेती करें, नही तो घर के लोग भूखो मरेंगे।"

बडा ही शांत प्रकृति का था वह। उसे कोई बात समझाने मे दिक्कत नही पड़ती थी। उसने जमीन तो ले ली ; मगर अगले छै महीनों मे खेत नहीं तैयार कर सका। सुबह से पूजा और गीता-पाठ मे ही दस बज जाते,

फिर काम पर निकलता। कोई दो घंटे मेहनत के बाद रसोई और भोजन तैयार करता, उसके बाद दोपहर भर जी-तोड मेहनत—साँझ के पाँच बजे तक। लौटकर पेड-तले बैठा जाने क्या-क्या सोचता। साँझ के बाद फिर पूजा-पाठ।

उस साल राजू ने थोडी-सी मकई उपजाई। वह फसल उसने खुद नही रक्खी। घर भेज दी। उसका बडा लडका आकर मकई ले गया। उसका लडका मुझसे मिलने आया था। उसे मैंने डाट बताई—"शरम नही आती तुम्हे, बूढे बाप को इस सूने जंगल मे भेजकर आप घर बैठे गुलछर्रे उडाते हो? तुम लोग कुछ कमाने की कोशिश क्यो नही करते?"

[तीन]

उस बार सूअरमारी गाँव मे जोरों का हैजा फैला। मुझे खबर मिली। वह गाँव अपने इलाके मे नही पडता। कोई आठ-दस कोस दूर पर था—कोसी और कलबलिया नदी के किनारे। रोजाना इतने लोग मरने लगे कि कोसी नदी मे लाशे फेकी जाने लगी—जलाने का कोई इंतजाम नही। एक दिन यह भी पता चला कि राजू पाँडे वहाँ इलाज करने के लिए गया है। मैं यह नही जानता था कि राजू चिकित्सक भी है। मैंने कुछ दिनो तक होमियोपैथी दवाओ से नाता रक्खा था। सोचा, ऐसे मे अगर लोगों के कुछ काम आ सकूँ तो अच्छा है। यहाँ तो डाक्टर-वैद कुछ है ही नही। मेरे साथ-साथ कचहरी से और भी कुछ लोग वहाँ गये। राजू पाँडे से भेंट हुई। एक बटुए में कुछ जडी-बूटी लिए वह इसके-उसके घर घूम रहा था। उसने मुझे नमस्कार किया और कहा—"हुजूर बडे रहमदिल है। आप आ गए, कुछ लोग शायद बच जाएँ।" उसने कुछ ऐसा भाव दिखाया, मानो मै जिले का सिविल सर्जन होऊँ। वही मुझे रोगियो के घर-घर ले जाने लगा।

राजू सबको उधार ही दवा दे रहा था। चंगा होने पर दाम चुकाने की शर्त थी। झोंपड़ो में गरीबी की कैसी दर्दनाक तसवीर। फूँस या खपड़े

के घर, बडे ही तग कमरे, खिडकी नदारद—धूप-हवा आने-जाने की कोई गुजाइश ही नही। जो भी घर थे, लगभग सब मे एक-दो रोगी मैले-कुचैले बिस्तर पर पडे। न डाक्टर, न दवा, न पथ्य। राजू मे जितनी शक्ति थी, वह कोशिश कर रहा था। बिना बुलाए ही वह हर रोगी के घर जा-जाकर अपनी जडी-बूटी पिला रहा था। एक रात तो वह किसी रोगी बच्चे की जगकर तीमारदारी भी करता रहा। लेकिन बीमारी घटने के बजाय बढती ही चली जा रही थी।

वह मुझे एक घर मे लिवा ले गया। घर क्या, महज एक कमरा। फूँस की छौनी। रोगी जमीन पर ताड़ की चटाई पर सोया था। उमर पचास से कम नही होगी। दरवाजे के पास एक सत्रह-अठारह साल की लडकी बैठी जार-बेजार रो रही थी। राजू ने उसे दिलासा देते हुए कहा—"रो मत बिटिया, हुजूर आ पहुँचे है, अब कोई खतरा नहीं। रोगी भला-चंगा हो जायगा।"

अपनी बेबसी को सोचकर बडा शर्मिदा हुआ मै। मैने पूछा—"यह लडकी बूढे की बेटी है, क्यो?"

राजू बोला—"नही हुजूर, यह उसकी बीबी है। इसके दुनिया मे कोई नही है। विधवा माँ थी, इसे ब्याहते ही चल बसी बेचारी। इस बूढे को बचा लीजिए हुजूर, नही तो यह लडकी कही की न रह जायगी।"

कुछ जवाब देने ही जा रहा था कि मेरी नजर रोगी के सिरहाने के पास के ताख पर पडी। लकडी का ताख, रोगी के बिस्तर से दो-तीन हाथ की ऊँचाई पर। उस पर पत्थर के बर्तन मे थोडा-सा बासी भात खुला पडा था! मक्खियाँ भिनक रही थी उस पर! क्या गजब था! घर मे एशियाटिक कालरा का रोगी और उसके पास ही बिना ढँका बासी भात!

दिन-भर रोगी के सेवा-जतन से थककर यह गरीबिन शायद नमक-मिर्च मिलाकर उसी बासी भात को चाव से खा लेगी! यही जहरीला भात, जिसके एक-एक दाने मे मौत के बीज है। उस लडकी की आँसू-भरी दो

भोली आँखो की ओर देखकर मैं सिहर उठा। राजू से मैंने कहा—"उससे कहो, यह भात उठाकर फेक दे। इस घर में कोई खाने की चीज नही रखनी चाहिए।"

भात फेक देने की जो बात आई, तो वह लडकी अचरज से हमारा मुँह ताकने लगी। आखिर वह भात फेक कैसे दे? खायगी क्या? वह थोडा-सा भात कल रात उसे ओझाजी के यहाँ से खाने को मिला था।

मुझे याद आया, अपनी तरफ जैसे पूडी-पुलाव होता है, भात इधर का वैसा ही कीमती खाना है। फिर भी मैंने जरा कडक कर कहा—"तुम इसे उठाकर फेक दो—अभी, तुरत।"

डरती-डरती वह उठी और भात को ले जाकर बाहर फेक दिया।

लाख जतन करने पर भी उसके पति को बचाया न जा सका। साँझ के बाद ही बूढ़े ने आखिरी साँस ली। वह लड़की बेजार रोई। राजू भी उसके साथ रोते-रोते बेदम था।

राजू मुझे एक और घर मे ले गया। वह उसके दूर के रिश्ते मे साला लगता था। यहाँ आने पर राजू पहले यही ठहरा था। यही खाता-पीता था। इस घर मे माँ और बेटा, दोनो को हैजा हो गया था। दोनों अगल-बगल के कमरे मे थे। यह उसे और वह इसे देखने को बेचैन। लडका महज सात-आठ साल का।

पहले लडका गुजरा। माँ के कानो मे इसकी खबर तक नही होने दी गई। मेरी दवा से माँ की हालत धीरे-धीरे सुधरने लगी। वह बार-बार अपने बेटे की खोज करती—बगल के कमरे से उसकी कोई आहट क्यों नही मिलती? कैसा है मेरा बच्चा?

हम बताते—"उसे नीद की दवा दी गई है। सो रहा है वह।"

बच्चे की लाश छिपाकर धीरे-धीरे बाहर निकाली गई।

गाँव के लोग स्वास्थ्य के नियमो के सम्बन्ध में कुछ जानते ही न थे। एक ही पोखर, उसी मे कपडे फीचते, उसी मे नहाते। मैंने लाख सिर मारा, मगर यह बात उनके दिमाग में न घुसा सका कि नहाना और पानी पीना,

बात एक ही है। जाने कितने लोग कितने परिवारों को यों ही छोडकर भाग गए। एक घर मे सिर्फ एक रोगी को ही पाया---दूसरा कोई न था। वह रोगी उस घर का घरजमाई था---बीते साल उसकी बीबी मर गई। फिर भी वह वही था---बुरी दशा थी उसकी, इसलिए या और किसी कारण से हो, ससुराल से वह कही नही गया। अभी उसे हैजा जो हुआ, तो ससुराल वाले उसे छोडकर जाने कहाँ चल दिए। राजू रात-दिन उसकी सेवा करने लगा। दवाई की व्यवस्था मैंने कर दी। आखिर वह बच गया। मै समझ गया, उसके भाग मे ससुराल के अन्न पर पलने का अभी बहुत दु ख लिखा है। राजू को अपने इलाज की कमाई बटुए मे से निकाल कर गिनते हुए देखकर मैंने पूछा---" कितनी रकम जोडी है ?" गिनकर राजू ने बताया---"एक रुपया तीन आने हुजूर।"

इतनी ही रकम मे वह मगन था। इधर के लोग मुश्किल से एक पैसा देख पाते है, उस हिसाब से एक रुपया तीन आने की कमाई कम न थी। पद्रह-सोलह दिनों से राजू को बेहद काम करना पडा---डाक्टर भी वही, नर्स भी वही।

काफी रात बीते गाँव में से रोने की आवाज उठी। फिर कोई मरा। रात को मुझे नीद नही आई। गाँव के बहुतेरे लोग नही सोए। घर के आगे लकडी के कुदे जलाकर गंधक जलाते रहे, आग के पास बैठ-बैठे बाते करते रहे। रोग और मौत, प्रत्येक व्यक्ति की जुबान पर इसके सिवा कोई बात ही नही। सबके चेहरों पर भय और आतंक की झलक---न जाने कब किसकी बारी आ जाय !

आधी रात को समाचार मिला, साँझ के समय जो लडकी विधवा हो गई थी, अब उसको हैजा हो गया। मै देखने गया। पास ही किसी दूसरे के घर की गोशाला में वह पड़ी थी। मारे डर के वह अपने घर नहीं सो सकी, लेकिन चू कि उसने हजे के रोगी को छूआ था, इसलिए किसी ने उसे अपने घर पनाह तक न दी। गोशाला के एक ओर गेहूँ की बिचाली पर एक पुराना टाट बिछा था। वह उसी पर पडी तड़प रही थी। राजू और मैंने

उस अभागिन को बचाने की बहुतेरी कोशिशे की। कही कोई लालटेन नहीं मिली, पानी नही मिला। कोई झाँककर देखने तक नहीं आया। कुछ ऐसा आतक फैल गया था कि किसी को हैजा होने पर उसकी घर की सीमा तक मे कोई पैर नही रखता था।

सबेरा होने को आया।

राजू को नाडी की बडी पहचान थी। हाथ देखकर बोला—"हुजूर, लक्षण तो कुछ अच्छा नही दीखता।"

मै ही क्या करता। डाक्टर तो था नही। पानी चढा पाता, तो कुछ उम्मीद थी। इधर वैसा कोई डाक्टर भी नही।

नौ बजे वह लडकी गुजर गई।

हम नही होते तो उसकी लाश निकाली भी जाती या नही, नही कह सकता। बडी आरजू-मिन्नत के बाद दो अहीर आए। बॉस से ढकेलते हुए वे लाश को नदी तक लुढका ले गए।

राजू बोला—"जी गई बेचारी। विधवा, फिर छोटी-सी लडकी। क्या खाती बेचारी और उसकी देख-भाल ही कौन करता।"

मैने कहा—"तुम्हारी तरफ के लोग बडे निर्दयी होते है।" मुझे एक कचोट रह गई कि मैने उस बेचारी लडकी को जतन से रक्खा हुआ दो मुट्ठी भात भी क्यों नही खाने दिया।

[चार]

सुन-सान दोपहरी मे सुदूर महालिखारूप के पहाड़ और जगल अजीब रहस्यमय से लगते। कितनी ही बार सोचा कि पहाड़ की सैर कर आऊँ; मगर फुर्सत नहीं निकल सकी। सुनता आ रहा था कि वह पहाड दुर्गम जगलो से भरा है, शंखचूड सॉपों की बहुतायत है। मुश्किल से पाई जाने वाली जंगली चद्रमल्लिका तथा भालुओं के अड्डे भरे है। पहाड पर पानी नही मिलता, फिर खौफनाक शखचूड साँपो का खतरा! सो लकडहारे भी वहाँ जाने की हिम्मत नही करते।

क्षितिज पर खिची नीली लकीर-जैसी दिखनेवाली यह शैल-माला और जगल दोपहर और साँझ को जाने कितने सपनों से मन को भर देते। एक तो यह इलाका ही इन दिनो मुझे परियो के देश-सा लगने लगा था—इसकी चाँदनी, इसकी जगली-झाडियाँ, निर्जनता, इसका नीरव रहस्य, इसका सौदर्य, इसके लोग-बाग, वन-फूलो की शोभा—सब कुछ अद्भुत से लगते। मन मे एक ऐसी गहरी शाति और आनद भर देते, जो जीवन मे और कही भी कभी नही मिला। फिर महालिखारूप की यह पर्वतश्रेणी और मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट की सीमा-रेखा और भी अद्भुत लगती। दोपहर, साँझ और चाँदनी रातो मे ये रूप-लोक की रचना करते हुए मन में उदास चिन्ता कैसे ले आते?

आखिर मै एक रोज उस पहाड़ पर जाने को निकला। नौ मील की दूरी घोडे से तै की। फिर दोनो पहाड़ो के बीच की पगडंडी से चलना शुरू किया। अगल-बगल घनघोर जगल। उस अद्भुत जगल के बीच से आँकी-बाँकी पगडडी, ऊँची-नीची। बीच-बीच मे चट्टानों मे से बहते हुए पहाडी झरने। वन्य चद्रमल्लिका के दर्शन तो नही नसीब हुए, क्योकि शरत् के दिन थे, उसके खिलने का समय नही था; मगर जंगली हरसिगार का अवर्णनीय मेला तमाम जगल मे लगा था—पेड़ों के नीचे, चट्टानो पर, झरनो के किनारे फूलों का मानो बिछौना बिछ गया था। बरसात के इन आखिरी दिनों मे जाने कितनी ही तरह के और फूल फूले थे—खिले सप्तपर्ण के वन, अर्जुन और पिपार, तरह-तरह की वन-वल्लरियाँ और आर्किड के फूल। सभी फूलों की मिली-जुली खुशबू मधुमाद्दी के समान मनुष्यों को भी नशे से मतवाला बना देती।

यहाँ रहते हुए बहुत दिन हो गए मुझे; पर यह सौदर्य-भूमि मेरे लिए अब तक अजानी ही रही। मै यहाँ डरते-डरते आया था—यहाँ कितने ही बाघ हैं, शंखचूडों का अड्डा है, भालुओं का तो लेखा ही नही; मगर इतनी दूर निकल आया, कही तो भालू की झलक तक नही मिली। लोग तिल का ताड़ बनाकर कहते हैं शायद।

पगडंडी के किनारे के जंगल क्रम से घने हो आए, मानो दोनों तरफ से राह को दबा बैठे हो। ऊँचे पेडो की डालों ने राह पर चाँदनी बिछाई। घने पेडो की काली जडों की भीड उनके नीचे भिन्न-भिन्न प्रकार के फर्न, कही-कही बडे पेडों के ही पौधे खडे थे। सामने राह उस भीड को ठेलती हुई ऊपर उठती नजर आई। जंगल की सघनता और भी श्याम हो उठी। सामने ही खडी थी पहाड़ की एक चोटी। उस पर जो पेड खडे थे, वे नीचे से सिहोड़ की नन्ही झाड़ियो जैसे दीख रहे थे। मै पहाड़ पर काफी दूर तक गया, वहाँ से राह फिर नीचे को उतर गई थी। थोड़ी दूर तक मै उतरा। एक पिपार के पेड़ से घोडे को बाँधकर मै एक चट्टान पर बैठ गया, ताकि घोडा जरा देर आराम कर ले।

पहाड़ की वह ऊँची चोटी अचानक कब बाईं ओर को मुड़ गई। पहाड़ी इलाके मे यह एक मजेदार बात मैं बराबर देखता रहा हूँ, न जाने और कहाँ कौन-सी चोटी थोडी ही दूर के फासले पर अलग-अलग नज्जारा पेश करने लगती है। अभी जिसे ठीक उत्तर की तरफ देखा, दो-चार कदम गया नही कि यह अनुभव किया कि वह जाने कब पश्चिम को मुड गई।

कुछ देर चुप बैठा रहा। पास ही कही कोई झरना बह रहा था। उसका झर-झर स्वर इस पहाड़ियों से घिरे जंगल की निस्तब्धता को और भी बढ़ा रहा था। मेरे चारों तरफ पहाड़ की ऊँची-ऊँची चोटियो और उन चोटियो पर था शरत् का नीला आकाश। न जाने कब से ये जंगल और पहाड़ ऐसे ही है। बहुत-बहुत दिन पहले आर्यो ने जब खैबर की घाटी को पार करके पहले-पहल पंजाब मे प्रवेश किया था, तब भी यह जंगल ऐसा ही था। अपनी नवीना पत्नी को सोते हुए छोड़कर जिस रात बुद्धदेव ने चुपचाप संसार का त्याग किया था, उस रात भी यह गिरि-शिखर गहरी रात की चाँदनी में इसी तरह हँसता था; तमसा नदी के किनारे पर अपनी पत्तों की झोंपड़ी मे रामायण लिखने में निमग्न वाल्मीकि ने सहसा कब चौंककर देखा कि —सूरज अस्ताचल पर पहुँच गया है, नदी के श्याम जल पर रक्तमेघों के समूह की छाया पड़ी है, आश्रम के मृग लौट आए हैं—उस दिन भी पश्चिमी

क्षितिज की अतिम रंगीन आभा से महालिखारूप की चोटियाँ ऐसी ही अनुरजित हुई थी, जैसी कि आज मेरी आँखो के सामने हो रही हैं। जानें कितने दिन पहले, जिस दिन चद्रगुप्त राजगद्दी पर पहली बार बैठे, ग्रीस के राजा हेलिओडोरस ने गरुडध्वज स्तंभ का निर्माण किया, जिस दिन राजकुमारी सयुक्ता ने स्वयवर-सभा मे पृथ्वीराज की मूर्ति के गले मे वरमाला डाल दी, सामूगढ की लडाई मे मुँहकी खाकर अभागा दारा शिकोश जिस दिन आगरा से दिल्ली भागा, चैतन्य महाप्रभु ने जिस दिन श्रीवास के यहाँ कीर्त्तन किया, जिस रोज पलासी के मैदान मे घनघोर लडाई हुई—महालिखारूप की ये चोटियाँ, यह जगल, सब-कुछ ऐसा ही था—ठीक ऐसा ही। उन दिनो यहाँ कौन लोग रहते थे? यहाँ से कुछ ही दूरी पर फूँस के कुछ घरों का एक गाँव देख आया था। लकडी के दो-एक टुकडो के सहारे बना हुआ ढेकी-जैसा कुछ था, जिससे लोग महुए का तेल निकाला करते थे। वहाँ एक बुढिया को देखा, अस्सी-नब्बे की उम्र होगी उसकी, सारा सिर सन-जैसा सफेद, तमाम बदन रूखा। धूप मे बैठी शायद वह माथे से जूँ बीन रही थी—ठीक कवि भारतचद्र द्वारा वर्णित अन्नपूर्णा जैसी। बैठे-बैठे मुझे उस बुढिया की याद हो आई। इस वन्य अचल की पुरानी सभ्यता की प्रतीक वही बुढिया है—उसी के पुरखे हजारो साल से इस इलाके मे बसते आ रहे हैं। जिस रोज महात्मा ईसा क्रूस से मारे गए थे, उस रोज भी वे लोग जिस तरह महुए के बीजों से तेल निकाल रहे थे—आज भी उसी तरह निकाल रहे है। अतीत के घने कुहरे मे हजारों साल की अवधि गुम हो गई है, मगर ये आज भी बाँसों की नलियों से उसी तरह चिडियों का शिकार कर रहे हैं। ईश्वर या संसार के बारे में उनकी विचार-धारा जहाँ-की-तहाँ है, तिल-भर भी इधर-उधर नही हुई। उस बुढिया की विचार-धारा क्या है, यह मालूम हो सके, तो मैं अपनी साल-भर की सारी कमाई देने को तैयार हूँ।

मेरी समझ मे नहीं आता कि किसी-किसी जाति मे सभ्यता का ऐसा कौन-सा भेद छिपा रहता है कि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, उन्नति

की राह से वह आगे निकलती जाती है। फिर दूसरी जाति हजारो साल के अरसे मे भी जड़ की तरह जहाँ-की-तहाँ क्यो रह जाती है? चार-पाँच हजार वर्षों की अवधि मे बर्बर आर्य जाति ने वेद, उपनिषद्, पुराण, काव्य, ज्योतिर्विद्या, ज्यामिति, चरक-सुश्रुत की चर्चा की, देशो को जीता, साम्राज्यों की नीव डाली, वेनस द्यमिलो की मूर्ति, पर्थिनन, ताजमहल और कोलो कैथिड्रल का निर्माण किया, दरबारी कानड़ा और फिफ्थ सिम्फोनी की सृष्टि की—हवाईजहाज, जहाज, रेल, बेतार, बिजली का आविष्कार किया—लेकिन पपुआ, न्यूगिनी, आस्ट्रेलिया के आदिम अधिवासी हमारे यहाँ के मुडा, कोल, नागा, कुकी लोग इन पाँच हजार वर्षो मे भी वही-के-वही क्यों रह गए है?

आज मै जहाँ बैठा हूँ, किसी अतीत युग मे यहाँ महासमुद्र लहराता था—उस पुराने महासमुद्र की लहरे कैंबियन युग के इस बालुकायम तीर पर आकर पछाडें खाती थी, जो आज पहाड़ों मे बदल गया है। घने जंगल के बीच बैठकर मै अतीत के उस नीले समुद्र का सपना देखने लगा—

पुरा यतः स्रोतः पुलिन मधुना तत्र सरिताम्

बालुका-प्रस्तर के इस शिखर पर भूले अतीत का वह सागर अपनी उन्मत्त लहरों की निशानी छोड गया है—वह निशानी बहुत ही साफ है—भूतत्त्वविद् उस निशानी को पहचान सकते है। उन दिनो आदमी नही थे, इस तरह के पेड-पौधे भी नही थे। जैसे जीव-जतु और पेड-पौधे उन दिनो थे, इन पत्थरो की छाती पर वे अपनी छाप छोड गए है—जिस किसी भी जादूघर मे उनके नमूने देखे जा सकते है।

महालिखारूप पहाड के माथे पर तीसरे पहर की धूप रगीन हो उठी। हरसिगार के वन से आने वाली महमहाती हवा मे हेमत का हलका आभास। यहाँ और देर करना उचित न था, कृष्णा एकादशी की अँधेरी रात सामने थी। जंगल मे कही स्यारो का दल हुक्का-हुआ कर उठा—कही बाघ-भालू राह न रोक ले।

लौटते समय एक चट्टान पर मैने जंगली मोर देखा। वह जोड़ा था।

घोडे से डर कर मोर तो उड भागा, लेकिन मोरनी टस-से-मस न हुई। मुझे बाघ के खतरे से चलने की जल्दी थी, देखने का अवकाश न था। फिर भी मोरनी के सामने मैं ठिठक गया। जंगली मोर मैंने देखा नही था। लोग-बाग कहते थे कि इधर मोर है , पर यकीन नही आता था। ज्यादा देर रुकने की हिम्मत नही हुई। क्या पता, यहाँ के बाघों की जो चर्चा है, कहीं वह भी मोरो की बात-जैसी ही सच न निकल आए !

सातवाँ परिच्छेद

[एक]

अपने गाँव जाने के लिए जी का छटपटाना एक अजीब अनुभूति है। जो आजीवन एक ही जगह रह जाते हैं, अपने गाँव को छोडकर कही नहीं जाते, ऐसे लोग इसके वैचित्र्य को हर्गिज नही समझ सकते। जो किसी दूर देश मे , सगे-सम्बन्धियों से अलग लम्बे दिनों तक रह चुके हैं, वे खूब समझ सकते है कि अपने देश जाने के लिए, देशभाइयों से मिलने के लिए, मन किस तरह हाहाकार करता है। ऐसे मे एक निहायत मामूली-सी घटना भी अनोखी हो उठती है। लगता है, जो कुछ गुजर चुका है, वह फिर कभी नहीं होने का—और तब सारी दुनिया उदास-सी दीखती है, अपने यहाँ की एक-एक चीज बेहद प्यारी लगने लगती है।

बरसों इधर बिताने के बाद अपनी भी ठीक वही हालत हो गई है। छुट्टी के लिए लिखने की बात बहुत बार मन मे आई, लेकिन जिम्मेदारी इतनी ज्यादा रही कि लिखने मे संकोच अनुभव किया ; परन्तु इस वीरान जंगल-पहाड़ों में महीनों और बरसों बाघ-भालू और नीलगायो के बीच बिताना भी एक कठिन बात है ! कभी-कभी जी हाँफ-सा उठता। अपनी बंग-भूमि को भूल बैठा था। जाने कितने दिन हो गए दुर्गापूजा देखे, जमाने से चड़क पूजा का ढोल भी नही सुना। मन्दिरों से उठने वाली धूप-गूगल की गंध तक नही मिली। "शाखी के प्रभात का विहग कल-कूजन सुनने को नही मिला—बंगाल की वह गिरस्ती, शात-पूत काम, चौकी पर कॉसे-पीतल के बर्तन, पीढे पर ऑकी आल्पना, ताखो पर रक्खी लक्ष्मी की पिटारी— ये मानो सुदूर अतीत के भूले हुए जीवन-स्वप्न हों।

जाड़ों के बाद गरमी के दिन आए तो मेरा मन और भी उचाट हो गया।

ऐसे ही समय मैं घोड़े पर सवार होकर सरस्वती कुंड की तरफ घूमने गया। घोड़े से उतर कर एक उपत्यका पर मैं चुपचाप खड़ा हो गया। मेरे चारों तरफ माटी के ऊँचे-ऊँचे टीले थे तथा टीलों पर झाऊ और कसाल के घने जंगल। ठीक मेरे माथे पर टँगा था थोड़ा-सा नील आसमान। काँटों से भरे एक पौधे में बैंगनी रंग के फूलों के गुच्छे लगे थे, देखने में ठीक विलायती कार्न फ्लावर के समान। उनमें से अलग एक फूल में खास कोई शोभा नहीं, इकट्ठे बहुत-से फूल एक बैंगनी साड़ी-से दिख रहे थे। वर्ण वैचित्र्यहीन अधसूखी कास के इस वन में ये थोड़े-से फूल मानों वसन्तोत्सव में मतवाले हो रहे थे और झाऊ के नीरव, रूखे अरण्य इन्हें निहायत अवज्ञा और उपेक्षा की निगाहों से देखकर मुँह फिराए प्रवीणता के धीरज में उसे बर्दाश्त कर रहे थे। उन्हीं जंगली बैंगनी फूलों ने मेरे कानों में वसंत-आगमन की वाणी सुनाई। फूल भी, कुछ नीबू के नहीं, आम की मंजरी नहीं, कामिनी फूल, रक्तपलाश या सेमर के फूल नहीं, एक नाम-गोत्र-हीन तुच्छ बेढंगे जंगली कँटीले फूल! वही फूल मुझे बाग-बगीचों में भरे वसंत के कुसुम-संभार के प्रतीक से प्रतीत हुए। देर तक वहाँ निमग्न खड़ा रहा। मैं था बंग-भूमि की संतान, कुछ जंगली फूलों द्वारा डाली सजाकर वसंत का मान रखना मेरे लिए बिल्कुल नई बात थी। मगर उस ऊँची उपत्यका के जंगल की शोभा कैसी मनोरम थी! कैसे ध्यान-निमग्न, उदासीन, विलास-हीन, सन्यासी-जैसा रूखा चेहरा था उसका, लेकिन कितना विराट्! उस अधसूखे फूल-पत्तों से रहित वन की निस्पृह आत्मा और नीचे के इन वन्य बर्बरों तरुणों के वसन्तोत्सव की आडम्बर-हीन प्रचेष्टा के उच्छ्वसित आनन्द से मेरा मन एकाकार हो गया।

अपने जीवन का वह भी एक अद्भुत क्षण था। कुछ देर तक मैं यों ही खड़ा रहा। ऊपर के उस एक टुकड़े नीले आसमान पर दो-एक नक्षत्र उग आए। ऐसे में अचानक घोड़े की टाप सुनाई पड़ी। मैंने देखा, पूरनचन्द अमीन नाढ़ा बैहार से नाप-जोख का काम खत्म करके कचहरी लौट रहा

है। मुझे देखकर वह घोड़े पर से उतर पड़ा। बोला—"हुजूर यहाँ कहाँ ?"

मैंने कहा—"यो ही घूमने आ गया था।"

वह बोला—"साँझ के समय यहाँ हर्गिज अकेले न रहे, कचहरी लौट चलिए। यह जगह अच्छी नही है। मेरे टडेल ने अपनी आँखो देखा है—उधर के उस कास-वन मे बहुत बडा बाघ था। चलिए हुजूर यहाँ से।"

पूरनचन्द के टडेल ने दूर पर गाना शुरू कर दिया था—

दया होई जी !

उस दिन से उन बैगनी फूलो पर नजर पडते ही मेरा मन बंगाल जाने के लिए न जाने क्यो रो उठता। और रोज साँझ को अमीन पूरनचन्द का टडेल छट्टूलाल रोटी बनाते समय इसी गीत को शुरू कर देता—

दया होई जी !

मुझे लगता, फागुन के आते-आते मँजराये आमो की गध-भरी छाया मे खिले सेमरों वाले नदी के इस पार खडे होकर कोयल की कूक सुनने का सुअवसर शायद इस जीवन मे कभी भी नही मिलने का—किसी दिन इसी वीरान जंगल मे बाघ-भैंसो के हाथ यो ही जान गँवानी पडेगी।

झाऊ के जंगल वैसे ही स्थिर खड़े रहते, सुदूर वन के माथे से मिला हुआ क्षितिज वैसा ही धुँधला और उदास दीखता।

ऐसे ही एक दिन, जब कि गाँव जाने के लिए जी न जाने कैसा-कैसा हो रहा था, रासबिहारीसिंह के यहाँ से होली का न्योता आया। रासबिहारी-सिंह इस इलाके का बडा ही जाबिर महाजन था। जाति का रजपूत, कारो नदी के किनारे खासमहाल का रैयत था। अपनी कचहरी से बारह-चौदह मील उत्तर-पूरब कोने पर मोहनपुरा रिजर्व फॉरेस्ट से सटा हुआ गाँव था उसका।

न्योता न मानना भी ठीक न था ; मगर उसके घर जाने की भी मेरी इच्छा न थी। इधर के जितने भी गंगोते रैयत थे, सब का महाजन वही था। गरीबो का लहू चूस-चूस कर वह आप बड़ा आदमी बना था। उसके

रौब-दाब के आगे किसी को चूँ तक करने की मजाल नही थी। तनखाह पाने वाले या जमीन जोतने वाले लठैत उसके तकाजे मे घूमा करते। हुक्म करते ही लोगो को बाँध कर हाजिर करते थे। रासबिहारी को कभी अगर यह खयाल हो जाता कि फलाँ आदमी ने उसकी इज्जत नहीं की, या जैसा चाहिए था उसका सम्मान नही किया, तो उस बेचारे की शामत ही आगई जानिए। फिर वह छल-बल-कौशल से उसे खासा सबक सिखाकर ही दम लेता था।

यहाँ आने के बाद मुझे तो लगा था कि वही इस इलाके का राजा है। गरीब रैयत उसके डर से थर-थर काँपा करते, सपन्न लोगो को भी उसके सामने कुछ कहने की हिम्मत नही पड़ती ; क्योंकि उसके लठैत बडे खूँखार थे, मार-पीट और लड़ाई-दंगे में कुशल। पुलिस के लोग भी उसके हाथ में थे। खास महाल के सर्किल अफसर या मैनेजर उसके घर पर आतिथ्य कबूल किया करते थे। फिर इस जगल मे अपने आगे वह लगाये भी किसे ?

उसने मेरे रैयतों पर भी प्रभुत्व दिखाने की कोशिश की थी ; मगर मैंने उसे वैसा करने से रोक दिया था। साफ शब्दों मे कह दिया था—"अपने इलाके मे जो जी में आवे करो, अगर मेरे रैयतों का बाल भी बाँका हुआ, तो मै उसे हर्गिज बर्दाश्त न करूँगा।" बीते साल ऐसी ही बात को लेकर उसके लठैतो और मेरे मुकुन्दी चकलादार तथा गणपत तहसीलदार के मुलाजिमों में मारपीट हो गई। पिछले सावन के महीने मे भी कुछ गोल-माल हो गया। बात पुलिस तक पहुँच गई। दरोगा ने आकर तसफिया कर दिया। तब से रासबिहारीसिंह मेरे रैयतो से छेड़-छाड़ नही करता।

उसी रासबिहारीसिंह के यहाँ से न्योता आया है। यह सुनकर मुझे हैरत हुई।

मैंने गनपतसिंह तहसीलदार को बुलवा कर उससे राय ली। वह बोला—"कहा नहीं जा सकता हुजूर, वह आदमी यकीन करने लायक नही। कोई ऐसा काम नही, जो वह नही कर सकता। किस मतलब से उसने हुजूर को बुलाया है, राम जाने। मेरे खयाल में आप न ही जायँ तो अच्छा।"

मगर मुझे गनपत की यह राय जँची नही। न जाने से रासबिहारी

अपने को अपमानित मानेगा ; क्योंकि होली राजपूतों का एक मुख्य त्योहार है। शायद वह यह भी सोच बैठे कि मैं डर के मारे उसके यहाँ नही गया। ऐसा सोचना भी मेरा अपमान है। उँहू, नसीब में चाहे जो हो, जाना जरूरी है।

कचहरी के लगभग सभी आदमियों ने मुझे रोकने की कोशिश की। बहुतेरा समझाया-बुझाया भी। बूढ़े मुनेश्वरसिंह ने कहा—"हुजूर, जा तो रहे है आप ; पर इधर के रीति-रिवाज आप नहीं जानते। यहाँ जरा-सी बात पर लोग खून कर बैठते है। जाहिलों का इलाका है यह। सब काला अच्छर भैंस बराबर है। फिर रासबिहारीसिंह तो बड़ा ही जालिम है हुजूर। अपनी जिन्दगी में उसने कितने खून किए हैं, उसका कोई लेखा-जोखा नही है ! वह क्या नही कर सकता—खून, अगलग्गी, जालसाजी—हर काम में वह पक्का है।"

सब कुछ सुनी-अनसुनी करके मै रासबिहारीसिह के घर गया। ईंट की दीवारे, खपड़ों की छौनी। आम तौर से जैसे घर इधर के संपन्न लोगो के होते है, वैसा ही उसका घर भी था। सामने बरामदा, बरामदे में कोल-तार से रंगे लकड़ी के खंभे। रस्सी से बुनी दो खाटे वहाँ बिछी थी। दो-एक आदमी बैठे हुए नल से तम्बाकू पी रहे थे।

जैसे ही मेरा घोड़ा दरवाजे पर पहुँचा जाने कहाँ से दो बार बन्दूक की आवाज हुई। रासबिहारी के कारिन्दे मुझे पहचानते थे। मै समझ गया, यह मेरा स्वागत किया गया है ; मगर खुद मकान-मालिक कहाँ है ? उसके आए बिना अतिथि के घोड़े से उतरने का रिवाज नहीं है।

जरा देर बाद रासबिहारी के बड़े भाई रासउल्लाससिंह आए। विनीत भाव से दोनों हाथ उठाकर उन्होंने कहा—"आइए, गरीब के झोंपड़े में चरण रखिए। मेरे मन की हलचल खत्म हो गई। सोचा, राजपूत जिसे एक बार अतिथि मान लेते है उसका कभी बुरा नही करते। अगर आदर से कोई मुझे घोड़े से उतारने नही आता, तो मै बैरग वापस हो जाता।

आँगन मे बहुत-से लोग इकट्ठे थे। उनमें से ज्यादा गंगोते थे। जो

मैले कपड़े उनके बदन पर थे, सब पर रंग के छीटे पड़े थे। न्योता मिला हो या न मिला हो, अपने महाजन के घर सभी होली खेलने को आ गए थे।

कोई आधे घटे के बाद रासबिहारीसिह आया और मुझे देखकर वह अवाक् हो गया। मतलब यह कि उसे स्वप्न मे भी यह भरोसा न था कि मै न्योते पर उसके घर जाऊँगा। जो भी हो, उसने मेरी खासी आव-भगत की।

जिस कमरे मे वह मुझे ले गया, उसमे गँवई बढई के हाथ की बनी बेढंगी दो-तीन कुर्सियाँ और एक बेच थी। दीवार मे सिन्दूर और चन्दन से पुती गणेश की एक मूर्ति।

कुछ ही क्षणो मे एक लड़का एक थाली लेकर मेरे सामने आ खड़ा हुआ। उस थाली मे थोड़ी-सी रोली थी, थोड़े-से फूल, कुछ रुपए, चीनी के लायचीदाने, एक ढेला मिस्री और फूल की माला थी। रासबिहारी ने मेरे कपाल पर थोडी-सी रोली मल दी, मैने भी उसके अबीर लगाया और थाली से माला उठा ली। इसके बाद क्या करना चाहिए, यह न जानने के कारण मै अनाड़ी की नाई थाली की तरफ ही ताकता रहा। रासबिहारी बोला—"ये रुपए आपकी भेट है हुजूर, यह तो लेने ही पड़ेगे।" मैंने अपनी जेब से कुछ रुपये निकाल कर उन रुपयो मे डाल दिए और कहा—"इनसे मिठाई मँगा कर सबको बाँट दीजिए।"

उसके बाद वह मुझे अपना ऐश्वर्य दिखाता फिरा। उसकी गोशाला म साठ-पैसठ गाएँ थी और अस्तबल मे सात-आठ घोडे। घोडो मे से दो शायद बहुत सुन्दर नाचते है। उसने मुझे किसी दिन उनका नाच दिखाने की बात कही। हाथी नही था, लेकिन जल्दी-से-जल्दी वह हाथी खरीदने की सोच रहा था, क्योंकि इधर हाथी न होने पर लोग सपन्न नही माने जाते। उसके यहाँ आठ सौ मन गेहूँ होता है। दोनो जून मे कोई अस्सी पिचासी आदमियो का खाना बनता है। खुद वह सुबह डेढ सेर दूध और एक सेर मिस्री का जलपान करता है। बाजार की रद्दी मिसरी वह नही

खाता। जो यहाँ मिसरी का जलपान करते है, वे बडे लोगो मे गिने जाते है। यहाँ बडप्पन का यह भी एक लक्षण माना जाता है।

उसके बाद मै एक दूसरे कमरे में ले जाया गया। इस कमरे मे दो-ढाई हजार भुट्टे लटक रहे थे। ये भुट्टे अगले साल बोने के लिए रक्खे गए थे। लोहे की चदरो को कीलो से जोड-जोड कर बनाई गई एक कडाही मुझे दिखाई गई, जिसमे डेढ मन दूध उबाला जाता है। इतना दूध उसके यहाँ रोज लगता है। एक छोटे-से कमरे मे लाठी, ढाल, बरछा-भाले, गँडासे, तलवारो की ढेरी थी। उसे बखूबी अस्त्रागार कहा जा सकता है।

रासबिहारी के छै लडके थे। सब से बडे की उम्र तीस से कम न होगी। पहले चार बेटे बाप-जैसे ही लम्बे-तगडे जवान, अभी ही उनकी मूँछ और गलपट्टे की बहार देखने लायक हो आई थी। उसके हथियारखाने और इन जवान बेटो को देखते ही मेरे जी मे आया, ये अधभूखे और कमजोर गगोते अगर रासबिहारीसिंह के डर से थर-थर काँपते है, तो इसमे ताज्जुब ही क्या !

रासबिहारी बडा ही घमडी और कठिन धात का आदमी था। फिर अजीब सजग था उसका मान का ज्ञान। पान मे जरा चूने की कमी क्या हुई, रासबिहारी का मान गया जानिए। लिहाजा उससे आचार-व्यवहार मे हमेशा चौकस रहना पडता था। बेचारे गगोते रैयत तो हर पल दुबिधा मे ही पडे रहते, न जाने कब मालिक की मानहानि हो जाय !

बर्बर प्राचुर्य से जो कुछ समझा जा सकता है, उसके जलते उदाहरण मुझे रासबिहारी के घर देखने को मिले। भरपूर दूध, भरपूर गेहूँ, भरपूर भुट्टे, भरपूर मिसरी, भरपूर मान और भरपूर लाठी-सोटे , मगर इस सब का उद्देश्य आखिर क्या हुआ ? इतने बडे घर मे न तो एक अच्छी-सी तस्वीर थी, न एक किताब थी अच्छी-सी, अच्छी कोच-आरामकुर्सियों की कौन कहे, साफ-सुथरे तकियो से सजा कोई बिछावन तक न था। दीवार मे जहाँ-तहाँ चूने के दाग, पान की पीक। घर के पीछे-पीछे जो पनाला था, उसमे गंदे पानी और कूडो का ढेर , घर की बनावट भद्दी। बच्चो को पढने-लिखने से कोई वास्ता ही नही। कपडे-जूते निहायत मोटे और गदे।

पिछले साल एक ही महीने के अन्दर चेचक से तीन-चार बच्चे जाते रहे। आखिर यह ऐश्वर्य आता किस काम है? सीधे-सादे गगोते रैयतों को पीट-पीट कर जमा की गई इस दौलत से किसे कौन-सी सुविधा मिली? हाँ, रासबिहारीसिंह का मान अवश्य बढ़ा है।

खाने की सामग्रियों का बाहुल्य देखकर मै अवाक् रह गया। भला एक आदमी इतना सारा सामान खा सकता है? थाली मे हाथी के कान-जैसी कोई पन्द्रह पूरियाँ, कटोरों मे तरह-तरह की तरकारी, दही, लड्डू, माल-पूए, पापड, इतनी तो मेरी चार जून की खूराक थी। रासबिहारी शायद अकेला ही इससे दूना खाना एक बार खा लेता है।

भोजन करके जब मै अन्दर से निकला, शाम हो रही थी। आँगन मे गगोते रैयतों की पाँत बैठ गई थी और लोग मजे मे माढ़ा-दही खा रहे थे। सब के कपड़े लाल रंग से रँगे, सबके चेहरे पर थिरकती हँसी। रास-बिहारी के भाई उन्हें खिलाने मे त्रुटि न हो, इसकी निगरानी कर रहे थे। निहायत ही मामूली खाना था, मगर उसी मे लोगो की खुशी का ठिकाना न था।

बड़े दिनो के बाद यहाँ धतुरिया का नाच देखने का मौका मिला। धतुरिया अब कुछ बड़ा हो गया था, उसका नाच भी पहले से ज्यादा सुधरा हुआ था। होली के लिए वह खास तौर से यहाँ बुलाया गया था।

धतुरिया को मैंने अपने पास बुलाया। पूछा—"मुझे पहचान रहे हो?"

वह हँसा। सलाम करके बोला—"जी, आप मैनेजर साहब है हुजूर! अच्छे हैं आप?"

उसकी हँसी बड़ी ही मीठी लगती थी मुझे और उसे देखते ही न जाने एक अनुकम्पा और करुणा का उद्रेक होता था। उसका अपना कोई न था। नाच-गाकर दस-बीस को रिझाकर उसे इसी उम्र में अपनी रोजी कमानी पडती थी और वह भी रासबिहारीसिंह जैसे धन के मद से चूर रहने वाले अरसिक के आँगन मे!

मैंने पूछा—"यहाँ तो आधी-रात तक यह जश्न रहेगा। मजूरी क्या मिलेगी तुम्हे?"

वह बोला—"चार आने पैसे और भरपेट खाना।"

—"खाने को क्या मिलेगा?"

—"माढा, दही और चीनी। शायद लड्डू भी दें। पारसाल तो लड्डू दिए थे।" ,

खाने का वक्त आ रहा था। धतुरिया मारे खुशी से फूला न समाता था। मैंने पूछा—"क्या सब जगह यही मजूरी मिलती है?"

वह बोला—"जी नहीं हुजूर। रासबिहारीसिह चूँकि बड़े आदमी है, इसलिए खाना और पैसा, दोनों देंगे। गंगोतों के यहाँ दो आने पैसे मिलते है। खाना तो नही मिलता; पर वे आध सेर मकई का सत्तू दे देते है।"

—"इतने से ुजारा हो जाता है क्या?"

—"नाच से कुछ होता-हवाता तो नहीं हुजूर, पहले जरूर कुछ हो जाता था। आज-कल लोग खुद ही तकलीफ मे है, नाच कौन देखता है? जब नाचने का बुलावा नही आता, तो खेत-खलिहानों मे मजूरी कर लेता हूँ। आखिर करूँ भी क्या हुजूर, पेट तो चलाना ही है। बड़े शौक से मैंने गया जाकर छोकड़ा-नाच सीखा था। कोई देखना ही नही चाहता—ज्यादा मजूरी जो देनी पड़ती है।"

मैंने धतुरिया को नाच दिखाने के लिए अपने यहाँ बुलाया। वह कलाकार था, सच्चे कलाकार मे जो एक निस्पृहता होती है, वह उसमे थी।

चाँदनी जब खूब निखर आई, तब मै रासबिहारीसिह के यहाँ से विदा हुआ। मेरा घोडा जैसे ही अहाते से बाहर निकला, मेरे सम्मान में बंदूक की फिर दो आवाजें की गई।

फागुन का महीना, पूनो की रात। खुले मैदान मे बालू की राह चाँदनी मे झकमका रही थी। जाने कहाँ, दूर पर एक झीगुर चाँदनी मे ऐसे बोल रहा था, मानो इस विशाल सूने प्रान्तर मे किसी पथ-भूले पथिक का आकुल कठ-स्वर हो!

पीछे से किसी ने मुझे पुकारा—"हुजूर, मैनेजर साहब.. " मैने लौट कर देखा। देखा कि धतुरिया मेरे घोडे के पीछे-पीछे दौडा आ रहा है।

मैने घोडे को रोक लिया—"क्यों, क्या है धतुरिया ?" वह हाँफ रहा था। जरा रुककर उसने साँस ली। और फिर आगा-पीछा करते हुए लजाते-लजाते बोला—"एक विनती थी हुजूर...."

मैने सान्त्वना के स्वर मे कहा—"कहो, कहो।"

—"मुझे अपने साथ एक बार कलकत्ता ले चलेगे क्या हुजूर ?"

—"वहाँ जाकर तुम क्या करोगे ?"

—"मै कलकत्ता कभी गया नही। सुना है, वहाँ गीत-नाच की बडी कद्र है। ऐसे-ऐसे नाच सीखे मैने, मगर यहाँ उस जौहर को देखने वाला कोई है ही नही। बडा दुःख होता है। जमाने से छोकडा-नाच नाचने का ही मौका न मिला—भूल जाने की नौबत आ पडी है। उसे किस मुसीबत से सीखा था मैने, वह एक सुनने ही लायक कहानी है।"

गाँव से हम बाहर निकल आए थे। चाँदनी से सारा प्रातर भरा हुआ था। मै समझ गया, देखने से रासबिहारीसिंह बिगडेगा, इस डर से धतुरिया मुझसे छिप कर मिलना चाहता है। पास ही फूलो से लदा सेमल का एक पेड था। मै उसी पेड के नीचे घोड़े से उतर पडा और एक चट्टान पर बैठ गया। बोला—"अच्छा, तुम अपनी कहानी सुनाओ।"

—"सबसे सुना करता था, गया जिले के किसी गाँव मे कोई विट्ठल दास है। गुणी आदमी है—छोकड़ा-नाच का बहुत बडा उस्ताद। मुझे यह धुन सवार थी कि चाहे जैसे भी हो, यह नाच मैं जरूर सीखूँगा। मै गया की यात्रा पर गया। विट्ठलदास की खोज में गाँव-गाँव की खाक छानी। किसी से पता न चल सका। आखिर एक रोज शाम को मै एक स्थान में ठहरा। देखा, लोग आपस मे उसी नाच की बाते कर रहे है। रात काफी जा चुकी थी। सर्दी भी पड रही थी करारी। मै जमीन पर पुआल डाले एक कोने मे पडा था। छोकडा-नाच का जिक्र जो सुना, सो उछल कर उठ बैठा। उनके पास जा बैठा। कितनी खुशी हुई, कहने की बात नही हुजूर !

मानो कोई रियासत मिल गई। उनसे विट्ठलदास का पता मिल गया। वहाँ से सत्रह कोस दूर तिनटंगा नाम की बस्ती मे उनका घर था।"

एक तरुण शिल्पी की शिल्प-शिक्षा के आकुल आग्रह की कहानी सुनने मे बहुत अच्छी लग रही थी। मैंने कहा—"फिर ?"

—"मै पैदल ही वहाँ पहुँच गया। देखा, बूढे-से थे वे। चेहरे पर सफेद दाढी। मुझसे उन्होने पूछा—"तुम्हे क्या चाहिए ?" मैंने कहा—"मै छोकडा-नाच सीखने आया हूँ।" सुन कर वे हैरान-से हो गए। बोले—'आज-कल के लड़के इसे पसन्द भी करते है ? इसे तो लोग कब के भुला बैठे है।' मैंने उनके पॉव पकड लिए। कहा—'मैं इसी के लिए बहुत दूर से आपकी सेवा मे आया हूँ—मुझे तो सिखाना ही पडेगा।' उनकी ऑखो मे ऑसू भर आए। कहा—'मेरे वश मे सात पुश्त से इस नाच की परम्परा चली आ रही है। मगर मेरे कोई संतान नही। इतनी उम्र हो आई, इस बीच कोई दूसरा मुझसे सीखने को भी नही आया। तुम्ही पहले आदमी हो। खैर, तुम्हे मै अवश्य सिखाऊँगा।' कितनी कठिनाइयों से तो मैंने उसे सीखा, उसे इन गंगोतों को दिखाकर होगा भी क्या ? कलकत्ता में गुण की कद्र होती है। वहाँ मुझे आप ले चलेंगे हुजूर ?"

मैंने कहा—"किसी दिन मेरे यहाँ आना, तब बातें होगी।"

धतुरिया आश्वस्त होकर लौट गया।

जी मे आया कलकत्ता में इतने कष्ट से सीखा हुआ इसका यह गँवई नाच देखेगा ही कौन और यह बेचारा अकेले वहाँ कर भी क्या सकेगा ?

———

आठवाँ परिच्छेद

[एक]

प्रकृति अपने भक्तो को जो दान देती है, वह अनमोल होता है ; मगर उसका दान बहुत दिनों तक उसकी सेवा किए बिना नही मिल सकता। और प्रकृति ईर्ष्यालु भी कितनी होती है—अगर आप उसे चाहते हैं, तो महज उसी को चाहते रहिए, कहीं दूसरी तरफ निगाह गई कि वह अपना घूँघट नही खोल सकती।

लेकिन प्रकृति में ही डूबे रहिए, तो उसके सर्वविध आनन्द का, सौन्दर्य का, अनोखी शाति का वरदान आप पर इतनी वर्षा करेगा, इतनी वर्षा करेगा कि आप पागल हो उठेंगे। दिन-रात नाना रूपों मे उसकी मोहिनी प्रकृति आपको मुग्ध करती रहेगी, नई दृष्टि देगी, मन की आयु को बढा देगी, अमरलोक के आभास से अमरत्व तक ले जायगी।

कुछेक बाते बताऊँ। इन अनुभूतियों के लिए पन्ने-पर-पन्ने लिख जाइए; पर वे पूरी नही लिखी जा सकती। कहने की बाते रह ही जाती है। और इन बातों के सुनने वाले भी कम ही होते है। हृदय से प्रकृति को प्यार करने वाले आज-कल है भी कितने ?

इस वनभूमि के नवटोलिया बैहार मे जहाँ-तहाँ दुधली के फूल बिखेर कर वसन्त अपने आगमन की सूचना देता। देखने मे ये फूल होते भी बडे खूबसूरत है—नक्षत्र-जैसी आकृति, पीला रग ; लत्तड़-जैसी उसकी डंठले माटी को जकड़े दूर तक फैली रहती हैं और उसकी गाँठ-गाँठ मे फूल उठते है ये फूल ! सुबह मैदान में, रास्ते के दोनो किनारों पर इन फूलो से प्रकाश बिखरा रहता ; लेकिन जैसे-जैसे धूप तेज होती जाती, सिमट कर ये फूल फिर कली की शक्ल मे आ जाते और दूसरे दिन फिर वही कलियाँ खिल पडती।

पलाशो की बहार मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट मे या अपनी जमीदारी की हद से बाहर महालिखारूप की तराई में देखने योग्य होती। अपने यहाँ से ये जगहें काफी दूर थीं—घोड़े से जाने में तीन-चार घंटे लग जाते। उन जगहों में सखुए के फूलों की खुशबू हवा को मतवाली बनाए रखती, फूले सेमल के वन क्षितिज की रेखा को रंगीन किए रहते ; मगर कोयल की कूक, पपीहे की पुकार यहाँ सुनने को नही, मिलती। इस वीरान, जन-हीन प्रातर मे रहना शायद नही भाता।

कभी-कभी बगाल के लिए मन तडप उठता। बगाल के गाँवों मे होने वाली वसंत की शोभा कल्पना में आती—याद आती पोखर से नहाकर भीगी कपडों मे लिपट कर लौटती हुई किसी तरुणी वधू की तसवीर—खेतों के पास फूलों से भरा घेटूवन, नीबू-फूलों की खुशबू से मोहमयी छाया भरा अपराह्न। बाहर जाकर अपने देश को कितना ज्यादा पहचान सका! देश मे रहते हुए उसके लिए ऐसी मनोवेदना का कभी अनुभव नही कर सका। यह अनुभूति जीवन की एक मूल्यवान अनुभूति है, जिसे इसका स्वाद न मिला, समझिए कि वह अभागा एक बहुत वडी अनुभूति से वंचित रह गया।

लेकिन जो बात मै वास्तव मे बताना चाह रहा हूँ, तरह-तरह से कहकर भी उसे बता नही पा रहा हूँ। वह है इस प्रकृति की रहस्मययी असीमता, दुरधिगम्यता, विराटत्व और डर से वदन को छम-छम कराने वाले सौन्दर्य की बात। जिसने उसे नहीं देखा, उसे कैसे समझाऊँ कि वह क्या होता है ?

नवटोलिया बैहार के सुदूर व्यापी झाऊ और कसाल के जंगल मे अकेले घोड़े की पीठ पर जाते-जाते निस्तब्ध दुपहरिया के माहौल मे यहाँ की प्रकृति के इस रूप ने मेरे सारे हृदय को एक रहस्यमयी अनुभूति के आच्छन्न कर दिया है; कभी तो वह आई भय के रूप में, कभी एक निस्पृह, उदास और गंभीर मनोभाव के रूप में, तो कभी आई जाने कैसे-कैसे मधुर सपनों एवं देश-विदेश की नर-नारियो की वेदना के रूप में। मानो वह कोई मौन

संगीत हो——नक्षत्रों की क्षीण ज्योति में है जिसका ताल, चाँदनी रात की अलौकिकता, झींगुरों की तानों और वेगवान उल्कापुच्छ के प्रकाश में है जिसकी लय-संगति।

जिन्हें अपनी दुनिया बसानी हो, उनके लिए उस रूप का न देखना ही बेहतर है। प्रकृति के उस मोहक रूप की माया मनुष्य को संसार-विरागी बना देती है, उसे लापरवाह, खानाबदोश, हैटी जान्सटन, मार्कोपोलो, हडसन, शैकलटन बना देती है——घर-गिरस्ती नहीं करने देती। जिसने भी एक बार उसकी पुकार सुनी, उस अनवगुंठिता मोहिनी को एक बार आँखों देखा, उसके लिए घर-गिरस्ती करना नामुमकिन है, एकदम असम्भव।

काफी रात गए कमरे से बाहर निकल कर मैंने अँधेरे प्रांतर या छाया-हीन चाँदनी रात के रूप को प्राय देखा है। उसके उस सौन्दर्य पर पागल हो जाना पड़ता है——कहने में मैं अतिरंजना नहीं कर रहा, मेरा खयाल है, कमजोर दिलवालों को वह रूप देखना ही नहीं चाहिए, वह रूप सर्व-नाशी है, सबके लिए उसका धक्का सँभालना संभव नहीं।

मगर यह बात भी सही है कि प्रकृति का वह रूप देखना एक सौभाग्य की बात है। जहाँ-तहाँ ऐसा सुनसान विशाल वन-प्रांतर, पहाड़ियों की दूर प्रसारी पंक्ति, झाऊ और कसाल के जंगल मिलते भी कहाँ है? फिर कहीं मिले भी, तो उनके साथ गहरी निशीथिनी की नीरवता और उसके अंधकार या ज्योत्स्ना का संयोग भी होना चाहिए। अगर इतने सुयोग सबको सुलभ होते, तो यह दुनिया कवि और पागलों से भर नहीं गई होती?

एक घटना सुनाऊँ कि मैं ने एक दिन किस तरह प्रकृति के उस रूप के दर्शन किए। पूर्णियाँ से मुझे वकील का तार मिला कि दूसरे दिन मुझे वहाँ हाजिर रहना है, नहीं तो एक बहुत बड़े मामले में अपनी हार हो जायगी।

पूर्णियाँ वहाँ से पचपन मील दूर था। रात को गाड़ी सिर्फ एक ही जाती थी और जब तार मिला, उसके बाद कटोरिया स्टेशन जाकर उस गाड़ी को पकड़ सकना संभव ही नहीं था।

नै किया कि घोडे से तुरन्त रवाना हो जाऊँ। लेकिन एक तो बडी लम्बी दूरी, फिर खतरो से भरी राह, खासकर रात को। लिहाजा यह भी निश्चय किया कि मेरे साथ तहसीलदार सुजनसिह भी चलेगा।

शाम होते ही दोनो घोडे से रवाना हो गए। कचहरी के अहाते से निकल कर जगल मे पहुँचते ही जरा देर मे तीज वदी का चाँद उग आया।- मद्धिम चाँदनी मे वन-प्रातर और भी अद्भुत दिखने लगा। मै और सुजन-सिह। दोनो पास-पास चल रहे थे। ऊबड-खाबड राह। सफेद बालू चाँदनी मे चिकिचिक कर रहा था। कही-कही झाडियाँ मिलती—झाऊ और कसाल का ही जगल यहाँ-वहाँ। सुजनसिह बाते करता जा रहा था। चाँदनी निखरती आ रही थी और जगल, रेती, धीरे-धीरे स्पष्ट होती जा रही थी। जगल का मस्तक-प्रदेश बडी दूर तक किसी एक सरल रेखा-सा दौड गया था, जहाँ तक निगाह जा रही थी, एक ओर धू-धू प्रातर और दूसरी ओर जगल और जगल। बाई तरफ पहाडियो की कतार। निर्जन, नीरव। आदमी का नाम तक कही नही। न कोई शोर, न कोई शब्द। मानो किसी अचीन्हे ग्रह की सूनी वन-वीथी मे हम दो, महज दो जीव चले जा रहे हो।

एक जगह अचानक ही सुजनसिह ने घोडे को खडा कर दिया। क्यो आखिर? बगल के जंगल से एक सूअरी अपने नन्हे बच्चो की जमात लिए हमारा रास्ता काटकर सामने से दूसरी तरफ चली गई। सुजनसिह ने कहा—"फिर भी गनीमत है हुजूर, मैने तो समझा था, जगली भैसा न हो कही।" हम मोहनपुरा जगल के करीब जा पहुँचे थे। यहाँ जगली भैसो का पल-पल पर खतरा था। उस दिन भी एक आदमी का काम तमाम कर दिया था भैसे ने।

जरा ही दूर गए होगे कि चाँदनी मे दूर पर काला-काला सा सचमुच ही कुछ दिखाई पडा।

सुजनसिह बोला—"घोडे को रोक ले हुजूर, भय से भडक जायगा।"

रुका। मगर देर तक देखकर पता चला, वह न तो हिलता है, न डुलता है। सँभल-सँभल कर समीप पहुँचा। देखा, वह कसाल की एक झोपड़ी

थी ! हमने घोड़े को एड लगाई। निखरी-बिखरी चाँदनी से खिली दुनिया—न जाने कौन-सी साथी-विहीन चिड़ियाँ जंगल मे या कही टी-टी पुकार रही थी—घोडों के खुर से बालू बेतरह बिखर रहा था ; मगर रुकने की गुजाइश न थी—दे दौड़, दे दौड

देर तक लगातार बैठे रहने से रीढ की हड्डी दुखने लगी थी, जीन गरम हो गई थी, घोड़ा छाड़तक से दुलकी चाल पर आ उतरा था। फिर मेरा घोड़ा डरता भी बहुत था, लिहाजा सावधानी से दूर तक निगाह रखते हुए चलना पड रहा था। कही एक-ब-एक अगर रुक पड़े, तो उसकी पीठ से छिटक कर दूर न जा पड़ूँ इसकी आशंका थी।

इस जंगल में राह का कोई ठीक-ठिकाना नही। कसाल के माथे पर गाँठे बाँध कर राह का निशान बना दिया गया था। उसी से राह का अंदाज किया जाता। एक बार सुजनसिह ने कहा—"लगता है, राह यह नहीं है हुजूर, हम भटक गए है।"

मैंने सतभैये को देखा और ध्रुवतारे का पता किया। पूर्णियाँ अपने यहाँ से ठीक उत्तर पडता था। सुजनसिंह को समझा कर कहा—"हम ठीक जा रहे है।"

वह बोला—"जी नही, कोसी पार करनी है, पार करके तब उत्तर सीधे उत्तर जाना है। अभी हमे उत्तर-पूरब कोने से कतरा कर निकलना चाहिए।"

आखिर राह मिल गई।

चाँदनी और भी निखर आई थी। कैसी अद्भुत थी चाँदनी ! कैसा रूप रात का ! निर्जन रेती में, जगली झाऊ की वनवाहिनी में, जिसने कभी उसे नही देखा, वह जान भी कैसे सकता है कि क्या शक्ल होती है उस चाँदनी की। ऐसे उन्मुक्त आकाश के नीचे—छायाविहीन उदास गंभीर चाँदनी रात मे वन, पहाड और प्रांतर के पथ पर, रेती मे इस ज्योत्स्ना को देखा ही कितनों ने है ? और उसमे जो दौड़ लगा रहा

था ! दोनों घोडे दौडते-दौडते हाँफ उठे। सर्दियो की रात में भी हमारे बदन मे पसीना छूट रहा था।

एक सेमल के नीचे दसेक मिनट रुक कर हमने सांस ली। सिर्फ दस मिनट। एक छोटी-सी नदी पास ही कोसी से जा मिली थी। सेमल का पेड फूलो से लदा था। यहाँ पर जंगल ने हमे कुछ इस तरह घेर लिया था कि कही कोई राह नही दिखाई पड रही थी, यद्यपि वहाँ पेड-पौधे निहायत ही छोटे-छोटे थे। एक सेमल ही उन सब में ज्यादा ऊँचा था और जंगल में सब से ऊँचा सिर किए खड़ा था। हम दोनों को बेहद प्यास लग आई थी।

चाँदनी फीकी पडने लगी थी। वन-वीथी में अँधेरा—पच्छिम क्षितिज में शैलमाला के पीछे आखिरी रात का चाँद छिपने लगा। छाया लम्बी हो आई। चिडियों चुनमुन की कोई काकली नही, केवल छाया और छाया। प्रांतर अन्धकार—जंगल अंधकार। सुबह के आस-पास की हवा काफी सर्द हो उठी। रात के करीब चार बज रहे थे। शका हो रही थी कि इस अँधियारी में कही जंगली हाथियों की कोई टोली न आ धमके ! मधुवनी के जंगल मे हाथी भी रहते है !

अब दो पहाड़ियों के बीच-बीच से राह थी। पहाड़ियो पर पत्र-विहीन पौधों की नंगी डालों पर फूलों की बहार, कही-कहीं रक्तपलाश के पेड़ों की भीड़। सुबह के समय चाँद डूबे अँधियारे में अजीब-सा दीख रहा था जंगल। पूरब की तरफ लाली हो आई। प्रभाती हवा, चिडियों का कल-रव सुनाई देने लगा। घोड़े पसीने से लथ-पथ थे। वह तो गनीमत थी कि घोडे अच्छे थे, तब ही तो ऐसे रास्तो पर लगातार दौड़ते ही आए। साँझ के चले-चले सुबह हो आई, मगर राह का कही अन्त नहीं था। बस वैसे ही जंगल और पहाड, पहाड और जंगल।

सामने जो पहाड था, उसके पीछे से सिंदूर के गोले-सा सूरज निकलने लगा। पास ही एक बस्ती मिली। वहाँ हमने थोडा-सा दूध खरीद कर पिया। और दो घंटे चलकर हम पूर्णियाँ पहुँचे।

वहाँ मैने काम अनमना-सा ही निबटाया, क्योकि चित्त तो लगा था राह की शोभा मे। सुजनसिह काम खत्म होते ही चल पड़ना चाहता था; मगर चाँदनी रात मे राह की विचित्र शोभा देखने के लोभ से मैने उसे रोका।

आखिर शाम को ही रवाना हुआ। उस दिन चाँद जरा देर से उगा जरूर, मगर भोर-भोर तक चाँदनी रही। और क्या गजब की चाँदनी! कृष्णपक्ष के स्तिमित आलोक मे वनो, पहाडो पर चाँदनी ने मानो एक शात किन्तु अद्भुत और अजाने स्वप्नलोक की रचना कर दी हो! कास के वही, वैसे ही जगल, वही ऊँचे-नीचे रास्ते, पहाडो की तलहटी पर वही पीले-पीले फूलो का मेला—मानो बहुत दूर का कोई नक्षत्रलोक हो, मानो हम मृत्यु-पार के किसी अनचीन्हे देश मे अशरीरी होकर उडे जा रहे हो—उडे जा रहे हो भगवान् बुद्ध के उस निर्वाणलोक मे, जहाँ चाँद तो नही उगता, मगर जहाँ अँधेरा भी नही होता।

बहुत बहुत दिनो के बाद जब इस लापरवाह और आजाद जिन्दगी को छोड़कर दुनियादारी मे पैठा, तो कलकत्ता की तग गलियो मे भाडे के मकान मे बैठा अपनी स्त्री की सिलाई की मशीन की घिच-घिच मे जाने कितनी ही बार इस रात की बात सोचता रहा, सोचता रहा इस अपूर्व आनन्द की, चाँदनी नहायी रहस्यमयी इन वन-पक्तियो की बात, रात के अतिम प्रहर में चाँद-डूबे अँधियारे मे पहाड पर सफेद डठलो पर फूले इन फूलो की बात, सूखे कास-वन से उड़कर आती हुई सौंधी-सौंधी महक की बात! जाने कितनी बार कल्पना मे घोडे की पीठ पर सवार होकर चाँदनी रात मे मै पूर्णियाँ गया हूँगा।

[दो]

आधा चैत बीता होगा कि एक दिन समाचार मिला—सीतापुर बस्ती मे कोई राखाल बाबू बंगाली डॉक्टर थे, वे रात को एकाएक मर गए।

इसके पहले इनका नाम मैने कभी नही सुना था, न ही यह पता था

कि ये उस बस्ती मे रहते थे। अब जाना कि वे बीस वर्षो से इसी गॉव मे है। इलाके में उनका नाम-गाम अच्छा था, घर-द्वार भी बनवाया है न, बाल-बच्चे भी वही है।

अबंगाली इलाके मे एक बगाली सज्जन का देहान्त हो गया। उनके बाल-बच्चो की क्या हालत है, कौन उन सबकी देख-भाल करता है, उनके संस्कार या श्राद्ध-शान्ति का क्या हो रहा है, इन बातो को जानने के लिए मेरा जी मचल उठा। वहाँ जाकर उस [illegible] परिवार की खोज-खबर लेना मुझे अपना कर्त्तव्य-सा लगा।

पता चला, वह बस्ती यहाँ से कोई बीस मील दूर है। तीसरे पहर मै वहाँ पहुँचा। पूछ ताछ करके डॉक्टर के घर तक गया। दो तो बडे-बडे कमरे थे, तीन छोटे-छोटे। बाहर एक बैठक थी, जैसी कि इधर आम तौर से होती है। उसके तीन ओर दीवारे न थी। देखकर जान सकना कठिन था कि यह किसी बंगाली का घर है। बैठक की रस्सी की चारपाई से लेकर महावीरी झडा तक, सब इसी देश के ढग के थे।

मैने आवाज दी। एक बारह-तेरह साल का लडका बाहर निकला। मुझसे उसने ठेठ हिन्दी मे पूछा—"आप किसे ढूँढ रहे है ?"

उसकी शक्ल से जरा भी पता नही चलता था कि वह किसी बंगाली का लडका है। माथे पर यह लम्बी चुटिया! हाव-भाव तक बिहारी बालकों-जैसा कैसे हो गया ?

मैने अपना परिचय दिया। कहा—"तुम्हारे घर में जो बड़े आदमी हों, उनको बुला लाओ।"

उसने बताया, "लड़को मे बडा वही है। उससे छोटे और दो भाई है। घर में दूसरा अभिभावक नही।"

मैने कहा—"मै तुम्हारी मॉ से कुछ बाते करना चाहता हूँ। उनसे पूछ आओ।"

जरा देर मे वह लडका बाहर आया। मुझे अन्दर लिवा ले गया। डॉक्टर बाब की पत्नी की उम्र कम ही लगी, कोई तीस के करीब। अभी-

अभी विधवा हुई हैं। रोते-रोते आँखें सूज गई थीं। निहायत गरीब की गिरस्ती-जैसे सरो-सामान। एक तरफ अनाज रखने की छोटी-सी कोठी; बरामदे मे दो-एक खाट, फटी-पुरानी कथरी, पीतल की कलसी, एक गड-गड़ा, टीन का बक्स। मैंने कहा—"मैं एक बंगाली हूँ। पडोस मे ही रहता हूँ। राखाल बाबू के देहान्त की खबर सुनकर आया हूँ। यह मेरा कर्त्तव्य था। मेरे लायक कोई सेवा हो, तो आप नि.संकोच कहे। किवाड़ की आड़ में खड़ी हुई वह चुपचाप रोने लगी। मैंने उन्हे दिलासा दिया और फिर से अपने आने का कारण बताया। अब वह मेरे सामने आई। रोते-रोते बोली—"आप मेरे बड़े भाई के समान है। हमारे इस घोर सकट काल मे ईश्वर ने आपको यहाँ भेजा है।"

बातों-ही-बातों मे मैंने जाना कि यह परिवार यहाँ बिल्कुल असहाय है। राखाल बाबू साल-भर से ज्यादा बीमार रहे थे। जो भी कुछ घर की जमा-पूँजी थी, सब उनके इलाज और गिरस्ती के खर्च मे चुक गई। अब श्राद्ध हो सके, इसका भी ठिकाना नही।

मैंने पूछा—"राखाल बाबू यहाँ है तो बरसो से, कुछ जोड़ा नहीं था क्या उन्होंने ?"

उनकी स्त्री का लाज-संकोच बहुत हद तक जाता रहा था। उनके चेहरे से लगा, इस प्रयास मे और संकट मे मुझे पाकर उन्हे मानो मँझधार में किनारा मिल गया हो।

उन्होने कहा—"मै बता नही सकती, पहले वे क्या कमाते थे। मेरे ब्याह को पन्द्रह साल हुए। मेरी सौत के मरने के बाद उन्होंने मुझसे शादी की थी। मैंने तो यही देखा कि किसी तरह गिरस्ती चल जाती है। यहाँ डॉक्टर को लोग शायद ही फीस के रुपये देते है। गेहूँ या मकई देते है। पिछले साल माघ में उन्होने खाट पकडी थी। तब से फूटी पाई भी नही रही; लेकिन इधर के लोग भले है। जिनके भी पास जो पावना था, सब बदले में गेहूँ, मकई, उडद पहुँचा गए। इसीसे अब तक गुजारा चला, नहीं तो भूखों मर जाने की नौबत थी।"

—"आपका मैका कहाँ है ? वहाँ खबर भेज दी गई है क्या ? "

वह कुछ देर तक चुप रही। फिर बोली—"खबर देने लायक वहाँ कुछ भी नही है। मैंने अपना मैका कभी नही देखा। सुना-भर था कि मुर्शिदाबाद जिले में है। छुटपन से मै साहबगज मे अपने बहनोई के यहाँ रही। माता-पिता नही थे। मेरे ब्याह के बाद मेरी वह दीदी भी जाती रहीं। बहनोई ने दुबारा शादी की है। उनसे अब अपना नाता भी क्या ? "

—"राखाल बाबू के कोई सगे-सबंधी कही नही है ?"

—"अपने सगे कुछ हैं तो, घर पर सुना था, पर न उन लोगो ने कभी खोज-खबर ली, और न यही कभी वहाँ जाते थे। उनसे बनती नही। लिहाजा उन्हें खबर देना-न-देना एक-जैसा है। शायद काशी मे मेरे कोई ममिया ससुर है; मगर मुझे उनका भी पता नही मालूम।"

बडी असहाय दशा। सगा-सबधी कोई नही। अपने-अपनो से रहित इस दूर देश मे कई नाबालिग लडको वाली इस औरत की दशा पर मै मर्माहित हो गया। तत्काल जो-कुछ करना चाहिए था, करके मै लौट आया। अपने सदर दफ्तर को लिखकर सौ रुपये की मदद मँगवाई और श्राद्ध का ठिकाना कर दिया।

इसके बाद भी मै वहाँ कई बार गया। स्टेट से उनके लिए दस रुपए माहवार की मदद दिलाई। पहली बार के दस रुपए लेकर मै स्वयं उन्हे देने गया था। दीदी मेरी बड़ी खातिर करती, स्नेह-आत्मीयता की बातें करती। इसी लोभ से, मौका मिलते ही मै वहाँ जाया करता था।

[तीन]

लवटोलिया के उत्तर की तरफ एक बडा-सा जलाशय है। ऐसे जलाशय को इधर के लोग कुड कहते है। इस जलाशय का नाम था 'सरस्वती-कुड'।

इस कुड के उस पार तीन तरफ घना-जंगल था, वैसा जंगल अपने महाल या, लवटोलिया मे कही नही ! इसमे विशाल-विशाल पेड़ थे।

पानी के पास होने की वजह से हो या और किसी कारण से भी हो, इस जंगल मे अजीबोगरीब लताएँ और तरह-तरह के वन-फूलो की भरमार थी। इस जगल ने विशाल सरस्वती-कुड को तीन ओर से आधे चॉद के आकार मे घेर रक्खा था। एक ओर खाली पडा था, जहॉ से पूरब का दूर तक फैला नीला आसमान और पर्वतमाल दिखाई पडती थी। फलस्वरूप पूरब-पच्छिम कोने पर कही बैठकर दाएँ-बाएँ देखने से सरस्वती-कुड के सौदर्य की अपूर्वता ठीक समझ मे आ सकती थी। बाई ओर देखने से नजर धीरे-धीरे घने जगल की गहरी श्यामलता मे अपने आपको भुला बैठती और दाऍ और देखने से निर्मल नील जल के उस पार का दूर प्रसारी आकाश तथा धुँधली गिरिमाला की छवि मन को गुब्बारे की तरह फुलाकर पृथ्वी से दूर उडा ले जाती।

बहुत बार मै यहॉ की एक चट्टान पर जाकर बैठा रहता। कभी-कभी दोपहर को जगल में घूमा करता। बडे-बडे पेडो के नीचे बैठा-बैठा चिडियो का कल-कूजन सुना करता। पौधे बटोरा करता, तरह-तरह के वन-फूल चुना करता। जितनी तरह की चिडियो की बोली यहॉ सुनने को मिलती, अपने महाल मे उतनी कही भी नसीब न थी। इतनी चिडियॉ यहॉ शायद इसलिए थी कि यहॉ फलों की बहुतायत थी, या ऊँचे पेडो की फुनगियों पर घोसला बनाने की सहूलियत थी। इस जगल मे फूल भी बहुत प्रकार के खिलते थे।

कुड के किनारे का यह घना जंगल लगभग तीन मील से ज्यादा लम्बा था। चौडाई कोई डेढ मील की होगी उसकी। कुड के किनारे-किनारे पेड़ों की सघन छाया मे शुरू से आखिर तक एक पगडडी थी। मै उसी पर घूमा करता। पेड-पौधो की फॉको से जहॉ-तहॉ कुड का सुनील जल और उस पर औधे पडे विशाल आकाश की परछॉई तथा दिगंत मे खोई शैल-माला दिखाई पड़ती। फुर-फुर हवा बहती, चिडियो की ताने सुनाई पडती, वन-फलो की मीठी खुशबू आती रहती।

एक रोज मै पेड़ की एक डाल पर जा बैठा। इस आनन्द की तुलना

असंभव है। माथे के ऊपर पत्रो की हरियाली का प्रसार, उनकी फाँकों मे से झाँकता हुआ आसमान का एक टुकडा ! एक लत्तड़ में फूलो के झूलते हुए गुच्छे। नीचे ओदी जमीन पर कुकुरमुत्ते ! ऐसी जगह, कि सिर्फ सोचते हो रहने का जी चाहता, कितनी अनुभूतियाँ जो भीड लगा बैठती मन मे ! मन के अतल मे डूबी एक प्रकार की अतिमानस चेतना अन्तस्तल की गहराई मे ऊपर उफन आती—आती गहरे आनन्द के रूप में। मानो एक-एक लता-वृक्ष के हृदय की धडकन को अपनी छाती के रक्त-स्पदन मे अनुभव कर रहा होऊँ।

अपनी जमीदारी के इलाके मे चिडियो की यह विविधता देखने को नही मिलती। वह जैसे एक दूसरी ही दुनिया हो। उसके पेड-पौधे, जीव-जन्तु सब जुदा ढग के। जब वसत के आगमन के प्रमाण प्रकट हो जाते हैं, तब लवटोलिया मे एक भी कोयल की कूक नही सुनाई पडती, चीन्हा-जाना कोई फूल खिला हुआ नजर नही आता। वह मानो एक रूखी और कठोर भैरवी मूर्ति हो। सोम्य और सुन्दर तो है, मगर उसमे माधुर्य नही। उसकी विशालता और रूखापन ही मन को अभिभूत करता। कोमल वर्जित मालकौस या चौताल का ध्रुपद, मिठास के पर्दे से कोई नाता नही रखता— स्वर के गंभीर-उदात्त स्वरूप से मन को एक दूसरे ही स्तर पर ले जाता है।

इस हिसाब से सरस्वती-कुड को ठुमरी कहे, मीठे स्वर की मधुर और कोमल विलासिता से मन को आर्द्र और स्वप्नमय बना देता। फागुन-चैत की सूनी दोपहरी मे तीर-तरु की छाया मे बैठकर चिडियों के गीत सुनते हुए मन कहाँ और कितनी दूर जो चला जाता ! फूले जगली नीमों के फूल की खुशबू हवा मे खिर जाती, जलज लिली खिलते। जाने कब तक वहाँ बैठता और साँझ होने पर वहाँ से लौटता।

रैयतों को जमीन देनी थी, इसलिए नाढा बैहार मे नपाई का काम जारी था। अमीनो को काम समझाने के लिए मुझे वहाँ प्राय जाना पडता। लौटते समय सिर्फ सरस्वती-कुड की वनभूमि मे पेडों की छाया में जरा

घूम लेने के लोभ से ही पूरब-दक्खिन की ओर से दो-तीन मील का चक्कर काट कर जाता ।

उस दिन कोई तीन बजे मै लौट रहा था । तीखी धूप से जले-तपे मैदान को पार करके पसीना-पसीना होकर मै उस जगल की घनी छाँह से होता हुआ, कुड के किनारे तक गया—मैदान जहाँ खत्म होता है, वहाँ से कुड का किनारा डेढ मील से कम न होगा, कही-कही तो बल्कि और ज्यादा पडता । घोडे को पेड की एक डाल से बाँध दिया और छाया सघन एक पेड की छाँह मे आयल क्लाथ बिछाकर सो गया । झुरमुटो से मै चारो तरफ से इस तरह घिरा था कि कोई मुझे देख नही सकता । दो ही एक हाथ ऊपर डाल-पत्ते । काठ-जैसी मोटी कोई लतड थी, जिसने खुद ही जगह-जगह जुडकर छत-सी बना रक्खी थी ।—जाने कौन-से पेड से सेम-जैसे बडे-बडे फल मेरी छाती से प्राय सटे-सटे झूल रहे थे । और भी एक पेड था, जाने कौन-सा पेड, उसके डाल-पत्तो ने उस कुज के प्राय आधे हिस्से को घेर रक्खा था, उसमे नन्हे-नन्हे फूलो की भरमार थी । इतने नन्हे फूल कि पास गए विना दीखते भी नही, मगर कितनी गहरी और मीठी सुवास ! उस अजाने फूल की खुशबू से वह सूना कुज जैसे महमहा उठा था !

सरस्वती-कुड जगली चिडियो का बहुत बडा अड्डा है—यह पहले ही कह चुका हूँ । इस जगल मे चिडियाँ भी कितनी तरह की थीं, कितने रंग-ढंग की ! श्यामा, हरट्टी, तोते, फेजन्ट-क्रो, पोडकी, हरियल—और भी जाने क्या-क्या ! पेड़ो पर चील, बाज, कुल्लो—कुंड के पानी मे बगले, सिल्ली, बतखें, कोए, माणिक पछी जैसी जलचर चिड़िया—कुड का ऊपरी भाग उनकी कल-काकली से मुखर हो उठा था । उनके उल्लास-भरे कूजन से कान बचाना मुहाल था ! बेहद तंग करते । बहुत बार तो आदमी की परवाह भी न करते । देख रही हैं कि मै वहाँ सोया हूँ, लेकिन दो-ही-एक हाथ के फासले पर जुटकर किच्-किच् शुरू कर दी, मेरी खाक भी परवाह न की !

उनकी यह लापरवाही मुझे बड़ी भली लगी। मैने उठकर भी देखा, उन्हें कोई खौफ-खतरा नही। बहुत जोर मारा, तो जरा खिसक गई—उडी नही। जरा देर मे फिर नाचती-गाती करीब आ गई।

जंगली हिरन पहले-पहल मैने यही देखा। मैने सुना तो था कि अपने जंगल मे हिरन है, मगर कभी आँखो से नही देख पाया था। लेटा था। अचानक कुछ आहट मिली। मै उठ बैठा। सिरहाने की तरफ जो झाँका, तो देखा कि घनी झाडी के एकात मे एक हिरन खडा है। गौर से देखा, हिरन बडा नही था, हिरनौट था। मुझ पर निगाह पडते ही वह अपनी दो बडी-बडी आँखो मे अबोध विस्मय लिए देखता रहा, सोचने लगा—आखिर यह कौन-सा जीव है!

आध मिनट बाद ओर अच्छी तरह देखने के लिए वह जरा आगे बढ आया। उसकी आँखो मे मानव-शिशु-जैसी साग्रह कौतूहल-दृष्टि थी। कह नही सकता, वह और भी समीप आता या नही; मगर मेरे घोडे ने इतने मे अपना पैर झाड दिया। चकित और भीत हरिन-शावक भागकर झाड़ी मे घुस गया, शायद वह अपनी माँ को यह खबर देने चल दिया हो।

मै और भी कुछ देर तक वहाँ बैठा रहा। पेड़ो की फाँको मे से कुड का सुनील जल दिखाई पडता था, जो आधे चाँद के आकार मे सुदूर गिरि-माला के कदमों तक फैला था—आसमान खुला, कहीं भी बादल का नाम नही। जलचर पंछियो ने आपस मे चोचबाजी करके बेहद शोर करना शुरू कर दिया। एक गभीर और प्रोढ माणिक पछी ने पेड की फुनगी पर से रह-रह कर आजिजी दिखानी शुरू की। बगुलो ने किनारे के पेडो की डाल पर पचायत-सी बिठाई थी—दूर से ऐसा लग रहा था, मानो सफेद फूल खिले हों।

धूप धीरे-धीरे लाल हो उठी।

पहाड़ियो पर जैसे ताँबा बिखर गया हो। डैने फैलाकर बगले उड़ने लगे। धूप पेड़ों की फुनगी पर जा सिमटी।

चिडियों की चहक बढ़ गई, साथ ही बढ़ गई उस अजाने वन-फूल

को मीठी खुशबू। तीसरे पहर की छाया मे वह सुगंध मानो और भी गहरी, और भी मधुर हो उठी। एक नेवला सिर उठाए हुए दूर खडा मुझे देख रहा था।

कैसी निभृत शान्ति ! कैसा अजीब सुनसान ! कोई साढे तीन घंटे तो मुझे यहाँ हो गए, लेकिन इन चिडियों की बोली के सिवाय दूसरा कोई शब्द ही नही, उनके पैरो की खरौच से पत्तो या सूखे पत्तो के गिरने की आवाज। बस। आदमी की कही गन्ध तक नही।

पेडो की चोटियो की अजीबोगरीब बनावट। शाम की रगीन धूप से उनकी और भी अनोखी शोभा निखर आई। कितने पेडो से कितनी लताएँ लिपटी है; इस तरह की लता को इधर भियोटा लता कहते है, मैने उसका नाम रक्खा भौटा-लता। यह लता जिस पेड से टिकेगी, उसकी गाँठ-गाँठ को लपेट लेगी। इन्ही दिनो इस लता मे फूल खिलते है। जंगली जूही-जैसे छोटे-छोटे फूल · उतने बडे पेड को फूलो ने अपनी आभा से प्रकाशित कर रक्खा था। मजे की खुशबू, सरसो के फूल-जैसी, मगर उतनी तेज नही।

हरसिंगार के पेडो की भरमार। कही-कही तो तादाद मे इतना ज्यादा, कि लगता, यह हरसिगार का ही जंगल है। शरत्काल के सबेरे नीचे की चट्टानो पर ढेर-के-ढेर हरसिगार के फूल चू-चू पडते थे। उन चट्टानों के आस-पास एक तरह की लम्बी और रूखी घास, उनके साथ मैना-काँटा का गठबंधन—काँटा, घास और चट्टान, सब पर ढेर-के-ढेर हरसिगार। सर्द और छायागहन स्थान होने के कारण सुबह को झरे फूल बिलकुल सूख नही गए थे !

जाने कितनी तरह से इस कुड को मैने देखा ! लोग-बाग कहते थे, कुंड के पास के जंगल मे बाघ है। चाँदनी रात को उसकी ज्योत्स्ना-स्नात शोभा देखने के लोभ से कार्त्तिकी पूर्णिमा की रात को तहसीलदार बनवारीलाल की आँखो मे धूल झोककर आजमाबाद कचहरी जाने के बहाने लवटोलिया डिहि होता हुआ मै वहाँ पहुँच गया।

बाघ तो नही देख पाया, लेकिन मुझे सचमुच ही ऐसा लगा कि चाँदनी मे नहाए इस कुड मे मायाविनी वन-देवियाँ जल-केलि को आती होगी। चारो तरफ सन्नाटा, केवल पूर्वी किनारे के घने जगल मे सियार बोल रहे थे। दूर की गिरि-माला और जगल धुँधले दिखाई दे रहे थे। हिम-शीतल हवा मे पौधो और भ्रमर-लतिका के फूलो की भीनी खुशबू। मेरे सामने बिछी थी वन और पहाडो से घिरे कुड की तरग-विहीन छाती पर हेमन्ती पूनो की टह-टह चाँदनी, खुली, छायाहीन पानी पर पडी, नन्ही लहरो पर प्रतिफलित होनेवाली अपार्थिव देवलोक की चाँदनी। पेडो से भ्रमर-लतिकाएँ लिपटी थी, उनमे बेशुमार सफेद फूल खिले थे। लग रहा था, जैसे परियो के श्वेत वस्त्र उड रहे हो।

झीगुर-जैसा ही कोई दूसरा कीडा लगातार चीख रहा था। कभी-कभी पत्ते गिरने की आवाज, कभी-कभी पत्ते हिलाते हुए जगली जीव-जन्तु के भागने की आहट ...

हम सबके सामने तो वन-देवियाँ नही आ सकती। कब, कितनी रात गए आती है, कौन जाने! उस सर्दी मे ज्यादा देर तक रुकना सभव नही था, सो लगभग घटा-भर रहकर मैं लौट आया।

सरस्वती-कुड मे परियाँ आती है, यह मैंने यही सुना था।

सावन के महीने मे उत्तरी सीमा के पैमाइश-कैंप मे मुझे एक रात बितानी पडी थी। मेरे साथ था रघुबरप्रसाद अमीन। वह पहले सरकारी नौकर था। इन जगलो से उसका परिचय कोई बीस साल का था।

सरस्वती-कुड का जिक्र आते ही उसने कहा—"हुजूर, वह तो माया-कुड है। रात को उसमे हूर-परियाँ उतरती है। चाँदनी रात मे वे अपने कपड़े पास की चट्टानो पर उतार कर रख देती है, फिर जल-केलि के लिए पानी मे उतरती है। ऐसे वक्त जो उन्हे देख लेते है, उन्हे भुला-फुसलाकर वे पानी मे डुबा मारती है। चाँदनी रात मे कभी-कभी उन परियो के मुख-मंडल नील जल मे खिले कमलो के समान दिखाई पडते है। मैंने तो अपनी आँखो से कभी नही देखा, पर हेड सर्वेयर फतहसिह ने एक बार देखा था।

एक दिन काफी रात बीते वे इसी कुड के पास से जगल की राह अपने कैंप को लौट रहे थे। दूसरे दिन सबेरे कुड मे उनकी लाश तैरती पाई गई। मछलियो ने उनके एक कान का ही सफाया कर दिया था। हुजूर, आप इस तरह वहाँ न जाया करे।"

इसी कुड के किनारे एक रोज एक अजीब आदमी से मुलाकात हो गई। मै सर्वे-कैंप से इसी रास्ते से धीरे-धीरे लौट रहा था। देखा, जगल मे कोई आदमी मिट्टी खोदकर न जाने क्या कर रहा है। पहले तो सोचा, वह मिट्टी खोदकर भुँइ कोहडा निकाल रहा होगा। यह कोहडा लगता तो लत्तड ही में है, लेकिन मिट्टी के अन्दर। ऊपर से उसका सुराग ही नही लग सकता। चूँकि वैदो को वह दवा के काम लगता है, इसलिए अच्छी कीमत पर बिक जाता है। मुझे कौतूहल हुआ। पास पहुँचकर मै घोड़े से उतर पडा। कहाँ का कोहड़ा, वह तो माटी गोड़ कर कोई बीज बो रहा था।

मुझे देखकर वह सकपका गया और अप्रतिभ होकर मेरी ओर ताकने लगा। काफी उम्रवाला आदमी था—सिर के बाल कच्चे-पक्के थे। उसके पास टाट की एक थैली थी, जिसमें से फावड़े का जरा-सा हिस्सा बाहर झाँक रहा था। बगल मे खंती पड़ी थी, जहाँ-तहाँ कागज के मुड़े सिकुड़े टुकड़े पड़े थे।

मैंने पूछा—"आप क्या कर रहे है यहाँ ?"

उसने पूछा—"हुजूर क्या मैनेजर बाबू है ?"

—"हाँ। और आप ?"

—"नमस्ते हुजूर ! मेरा नाम युगलप्रसाद है। नवटोलिया मे आपके जो पटवारी है बनवारीलाल, मै उनका चचेरा भाई हूँ।"

मुझे याद आ गया, पटवारी ने कभी बातों-बातों मे अपने चचेरे भाई का जिक्र जरूर छेडा था। आजमाबाद कचहरी मे, यानी जहाँ मै था, मुहर्रिर की एक जगह खाली थी। उसी सिलसिले मे उसकी बात आई थी। मैंने ही एक अच्छे आदमी की तलाश के लिए उससे कहा था। बनवारी-

लाल ने दुःख जाहिर करते हुए कहा था––"आदमी तो उसका अपना चचेरा भाई ही है, लेकिन अजीब-सा है। अजीब खयाली और लापरवाह। वरना कैथी का उतना सुन्दर हरूफ लिखने वाला और पढ़ा-लिखा आदमी इस इलाके में कम ही है।"

मैंने पूछा था—"क्यो, वह करता क्या है ?"

बनवारी ने कहा था—"वह कुछ न पूछिए हुजूर, जाने कितनी ऐसी आदते हैं उसकी। इधर-उधर भटकते चलना भी उसका एक मर्ज है। करता-धरता कुछ नही, शादी-ब्याह किया है, मगर गिरस्ती नहीं देखता, जगल की खाक छाना करता है, लेकिन साधु-सन्यासी भी नही है, जाने क्या है, कैसा है !"

ओह हो, तो यही बनवारी का चचेरा भाई है !

मेरा कौतूहल और भी बढ गया। पूछा—"यह क्या बो रहे हो ?"

वह लुक-छिप कर मानो काम कर रहा था और पकड़ाई मे आ गया, उसने कुछ शर्मिंदा और अप्रतिभ होकर कहा—"कुछ नही हुजूर, एक पेड का बीज बो रहा था।"

मै अचरज मे आ गया। किस पेड़ का बीज ? जमीन उसकी अपनी नही—घनघोर जगल। इस जंगल में कौन-से पेड़ का बीज रोप रहा है और ऐसे रोपने की सार्थकता भी क्या है ? मैंने उससे यही पूछा।

बोला—"बीज बहुत तरह के है हुजूर। पूर्णिया मे मैंने एक साहब की कोठी में एक खासी अच्छी लता देखी थी—बडे ही खूबसूरत फूल लगे थे उस पर ! उसके बीज भी है, और-और फल-फूलो के भी बीज दूर-दूर से खोज-ढूँढ़ कर लाया हूँ। इन जंगलों में "से पेड नहीं है, इसीलिए रोप रहा हूँ। दो-एक साल में उनकी शोभा निखर आयगी।"

उसके इस अच्छे मतलब से उस पर मुझे श्रद्धा हो आई। बिना किसी स्वार्थ के एक इतने बडे जंगल की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए वह अपना समय और पैसा खर्च कर रहा है, जिस जमीन पर उसका जरा भी हक नही—अजीब है !

उसे मैने बुलाया और दोनो एक पेड़ के नीचे बैठे। उसने कहा—"यह काम मै आज से नही, बरसो से कर रहा हूँ हुजूर, लवटोलिया के जगल मे फूलो के जो पौधे या लत्तड आप देख रहे है, उन सब के बीज आज से दस-बारह साल पहले मैने कुछ तो पूर्णिया से और कुछ दक्खिन भागलपुर की लक्ष्मीपुर स्टेट के जगल से लाकर लगाए थे। अब तो उनके जगल ही हो गए है।"

—"तुम्हे यह काम बहुत पसन्द है, क्यो ?"

—"लवटोलिया के बैहार का जगल बहुत सुन्दर है हुजूर—इन छोटे-छोटे पहाडो और जगलो मे तरह-तरह के फूलो का मेला लगाने का मुझे बडा शौक रहा है।"

—"कौन-कौन से फूल लाते रहे ?"

—"पहले हुजूर को यह सुना लूँ कि मेरा जी इधर कैसे लगा। मेरा घर पडता है धरमपुर इलाके मे। वहाँ जगली भाँडी के फूल बिलकुल नही मिलते थे। मै छुटपन मे अपने गाँव से दस-पन्द्रह कोस दूर कोसी के किनारे-किनारे भैसे चराया करता था। उधर जहाँ-तहाँ उस फूल की निखरी हुई शोभा देखा करता था। मैने उसके बीज लाकर अपने यहाँ लगाए। अब यह हालत है कि अपने यहाँ रास्तो के किनारे, लोगो के घर के पिछवाडे, जगल-झाड़ में, जहाँ देखिए इस फूल की भरमार हो गई है। बस, तभी से मेरे दिमाग मे यह बात घर कर गई कि यहाँ जो लता-फूल नही है, उन्हे ला-ला कर लगाऊँगा। तमाम जिन्दगी यही करता रहा हूँ, अब तो मै इस काम मे डूब ही गया हूँ।"

सचमुच युगलप्रसाद इधर होने वाले बहुतेरे फूलो और खूबसूरत लताओ की जानकारी रखता था। इसका वह एक विशेषज्ञ था, इसमे मुझे कोई संदेह नही रहा। मैने पूछा—"एरिस्टलोकिया लता को जानते हो तुम ?"

मैने उसे उस लत्तड़ के फूल का हवाला दिया। सुनकर वह बोला—

"हस-लता ? हस की शक्ल के फूल जिसमे लगते है ? वह लता इधर की नही है। मैने पटना मे बाबुओ के बाग मे उसे देखा है।"

उसकी जानकारी पर हैरत हुई। सौन्दर्य के ऐसे पुजारी मिलते ही कितने है ? जगलो मे लता और फूल के बीज बोने मे उसका अपना कोई स्वार्थ नही, कौडी की आमदनी नही होती इससे, आप बेचारा निहायत गरीब, फिर भी जगल की शोभा-सुषमा बढाने के लिए ऐसा अथक उत्साह और अटूट उद्योग !

उसने कहा—"सरस्वती-कुड-जैसा खूबसूरत जगल इस इलाके मे और कही नही है बाबूजी। बेहिसाब पेड है और कुड के पानी की शोभा ! क्या कहना है उसका ! अच्छा , यह तो बताएँ, कुड मे कमल लगाऊँ तो लगेगे ? धरमपुर के तो अनेक पोखरो मे कमल है। सोच रहा था, लाकर लगाऊँ।"

मैने मन-ही-मन उसकी सहायता का संकल्प किया। सोचा, हम दो जने मिलकर जंगलो का नई-नई लताओ , पेड़ो और फूलो से शृंगार करेंगे। उस दिन से मुझे तो इसका नशा-सा सवार हो गया। मुझे खबर थी कि युगलप्रसाद को रोटी के भी लाले पडे है, गिरस्ती बेहद तकलीफ से चलती है। मैने सदर से लिखा-पढी की और आजमाबाद कचहरी मे उसे दस रुपये की मुहर्रिर की एक जगह दिलाई।

उसी साल मै कलकत्ता से साटन के विदेशी वन-फूलों के बीज ले आया। डूअर्स पहाड से जगली जूही की लता के टुकडे लाए और सरस्वती-कुड के आस-पास लगाए। युगलप्रसाद के उत्साह और आनन्द का क्या पूछना ! मैने उसे सिखलाया कि तुम्हारे इस आनन्द और उत्साह की खबर कचहरी के लोगो को न लग सके। नही तो तुम्हारा तो जो होगा, हो होगा, लोग मुझे भी पागल बना छोडेगे। दूसरे ही साल बरसात मे पेड और लताएँ गजब की बढ गई। कुड के पास की जमीन काफी उपजाऊ थी और जो पौधे मैने लगाए थे वे यहाँ की आब-हवा के अनुकूल थे। हाँ, साटन के बीजो की जो पुडियाँ थी , उनमे जरा गोलमाल हो गया। पुड़ियो पर फूलो

के नाम और किसी-किसी पर उसका मुख्तसर में परिचय भी दिया था। रंग और शकल में अच्छा समझकर जिन बीजो को लगाया, उनमें से ' व्हाइट विम ', ' रेड कैस्पियन ' और ' स्ट्रिचवार्ट ' ही बेतरह बढ़े। ' फॉक्सग्लाव ' और ' उड्ऐनिमोन ' भी बुरे नही हुए ; लेकिन लाख प्रयत्न करने पर भी ' डॉग रोज ' और ' हॉनीसाक्ल ' के पौधे न बचाए जा सके।

पीले धतूरो जैसे एक प्रकार के पौधे कुड के किनारे-किनारे लगाए गए थे। उनमे बड़ी जल्दी फूल आए। युगल पूर्णियाँ के जंगल से जो वैरा लता के बीज लाया था, सात ही महीने मे उनकी लताओ ने बहुतेरे पेड़ों को छा लिया। इसके फूल देखने मे जितने सुन्दर होते है, उतनी ही मीठी होती है उनकी खुशबू।

हेमंत के शुरू-शुरू मे एक दिन नजर आया, उस लता मे बेशुमार कलियाँ लगी है। मैंने युगल से यह जो कहा, तो उसने कलम फेंकी और आजमाबाद से सात मील सरस्वती-कुड तक दौडा-दौड़ा गया।

मुझसे उसने कहा—" हुजूर, लोग कहते थे, यह लता बढेगी, फैलेगी सब होगा ; पर फूल नही लगेगे। सब मे शायद फूल नही लगते ; मगर देखिए, कितनी सुदर कलियाँ लगी है।

पानी मे ' वाटर क्रोफ्ट ' की जडे लगाई थी। वह तो इस कदर फैलने लगा कि युगलप्रसाद को फिक्र हो आई, कही यह कमल को न दबोच बैठे।

इच्छा थी बोगेनविलिया लता मॅगाने की भी ; लेकिन लगा, शहरों के बाग-बगीचो से उसका इतना घना संबध है कि कही कुड की वन्य प्रकृति को वह नष्ट न कर दे। युगल की भी यही राय हुई, उसने भी मना किया।

इसके लिए पैसे भी कुछ कम नही खरचे। एक दिन गनौरी तिवारी ने बताया—" कारो नदी के उस पार जयंती पहाड पर एक अजीब किस्म के फूल होते है—इधर उन्हे दूधिया फूल कहते है। पत्ते उसके होते हैं हलदी के पौवे-जैसे चौडे-चौडे, पौधा भी करीब-करीब इतना ही बड़ा—लंबे डंठल कोई तीन-चार हाथ ऊपर तक जाते है। एक-एक पेड़ में वैसे चार-पॉच डठल लगते है और एक-एक डठल मे चार-पाँच पीले-पीले फूल लगते

है। फूल देखने में तो सुदर होते ही है, खुशबू भी बड़ी अच्छी होती है। रात को उससे दूर-दूर तक महमहा उठता है। इस फूल का एक भी झाड जहाँ लग गया कि देखते-ही-देखते वहाँ दो-तीन साल में घनघोर जंगल होगया समझिए।"

गनौरी तिवारी से सुना और मेरी नीद हराम हो गई। ये पौधे लाने ही पड़ेगे। उसने बताया, बरसात से पहले वह नही लाया जा सकता। उसकी जडे लानी है—पानी बिना वे मर जायँगी।

रुपये-पैसे देकर मैंने युगल को भेजा। उसने जयती पहाड़ के दुर्गम जगल से बड़ी-बडी मुश्किल से दूधिया की दस-बारह गडे जड़ों का किसी तरह इंतजाम किया।

नवाँ परिच्छेद

[एक]

लगभग तीन साल निकल गए।

इस तीन साल के अरसे में मुझमे बहुत परिवर्तन आ गया। लवटोलिया और आजमाबाद की वन्य-प्रकृति ने मेरी आँखो मे न जाने कैसा माया-काजल आँज दिया कि शहर को मै करीब-करीब भूल ही गया। निर्जनता के मोह ने, तारो से भरे उदार आकाश के मोह ने मुझे इस बुरी तरह जकड लिया कि बीच मे एक बार कई दिनों के लिए पटना जो गया, तो वहाँ की कोलतार पुती बँधी-बँधाई सडकों के सँकरे दायरे से लवटोलिया बैहार आ जाने के लिए जी छटपटाने लगा—प्याले के समान उलटे पड़े नीले आसमान के नीचे, जहाँ मैदान और मैदान है, जगल और जंगल है, जहाँ बनाई हुई सड़के नही, ईंटो के बने मकान नहीं, मोटर के भोपू की भद्दी आवाज नही, गहरी नीद के अवधान मे जहाँ दूर जंगल मे सियारों की टोली प्रहर की सूचना देती है, या नीलगायों की भागती जमात के खुरों की आवाज या भैसो का गर्जन सुनाई पडता है।

ऊपर से बार-बार तकाजे आने लगे थे कि रैयतों को जमीन क्यों नही दी जा रही है। मै खूब समझता था कि मेरा यहाँ यही प्रमुख काम था ; पर मेरी इच्छा रैयत बसा कर प्रकृति के ऐसे एकांत निकुंज को नष्ट करने की नही हो रही थी। आखिर जो जमीन लेंगे, वे उसे पेड-पौधों से सजाने के लिए तो लेगे नही—लेगे और उसे साफ-सुथरी करेंगे, अनाज उपजाएँगे, घर-द्वार बनाकर रहेगे—यह निर्जन शोभामय वन-प्रांतर, जंगल, कुड, पहाड़ियाँ, सब जनपद में बदल जायँगी। लोगों की भीड़ से डरकर वन-लक्ष्मियाँ हाँफती हुई भाग खड़ी होंगी। मनुष्य आकर इस माया-कानन की माया को भी मिटा देगे। इसकी सुंदरता भी बर्बाद कर देगे।

उस जनपद की तसवीर मै अपनी आँखो से साफ देख रहा था। पटना, मुंगेर या पूर्णियाँ जाते हुए इधर-जैसे जनपद हर जगह मिलते थे। बदसूरत घरों की भीड, एकमंजिला या दुमजिला, फूँस के छप्पर, सीझ के काँटे, गोबर के ढेर से घिनाये गोहाल, रहट से पानी निकालना, मैले कपड़ो से लिपटे नर-नारियों की भीड़, मदिर मे उडते हुए महावीरी झंडे, गले में चाँदी की हँसुली डाले नंग-धडंग बालक-बालिकाओं के धूलि-धूसरित दल सड़क पर खेल मे मस्त।

यह सब देकर बदले में क्या मिलेगा!

ऐसी विशाल, रोक-बंधन-हीन उद्दाम सौंदर्यमयी अरण्यभूमि देश की बहुत बड़ी दौलत हुआ करती है। और कोई देश होता, तो कानून द्वारा यहाँ नेशनल पार्क बनाकर रखता। कामों से थके-हारे शहर के लोग समय-समय पर यहाँ आकर प्रकृति के साहचर्य से अपने श्रांत-क्लात मन को ताजा बनाकर लौटते। मगर यहाँ तो ऐसा होने से रहा, जमीन जिसकी है, वह रैयतों को न देकर इसे यो कैसे छोड देगा?

मै यहाँ रैयत बसाने के लिए ही आया था—मगर इस अरण्य-प्रकृति को ध्वंस करने के लिए आकर अनोखी सुंदरी इस वन्य नायिका के प्रेम मे फँस गया। यदा-कदा घोड़े पर जब मै छाया-गहन तीसरे पहर या मुक्ता-शुभ्र चाँदनी रात में घूमने निकलता, तब चारो तरफ देखकर बार-बार यही जी मे आता कि ये सब मेरे ही हाथों से नष्ट होंगे? चाँदनी में खोया-खोया-सा उदास और सुनसान प्रांतर! इस चतुरा सुदरी ने किस तरह से मुझे मोह रक्खा है!

मगर जो काम करने आया था, उसे करना ही था। माघ के अंत मे पटना से छट्ठूसिंह नाम का एक रजपूत आया। उसने हजार बीघा जमीन के लिए अर्जी दी। मै काफी पेशोपेश में पड गया। हजार बीघे मे तो काफी जगह बर्बाद हो जायगी, जाने कितनी सुदर झाड़ियाँ, और लता-वितान कट जायँगे!

छट्ठूसिंह कचहरी का चक्कर काटने लगा। मैंने उसकी दरखास्त को सदर मे भेज दिया—इस विनाश मे कुछ तो देर हो जाय।

[दो]

एक दिन दोपहर के बाद लवटोलिया के जंगल से उत्तर नाढा बैहार होकर लौट रहा था। देखा, रास्ते के किनारे कोई पत्थर पर बैठा है।

मैंने उसके समीप जाकर घोडे को रोका। वह आदमी साठ से कम का न होगा। कपड़े मैले, बदन पर एक फटी-सी चादर।

इस सुनसान मैदान मे आखिर वह कर क्या रहा है? उसने मुझसे पूछा—"आप?"

मैंने कहा—"मै यहाँ के जमीदार का एक कारिन्दा हूँ।"

—"तो क्या आप मैनेजर बाबू है?"

—"हाँ मै मैनेजर हूँ। कोई काम है?"

वह उठ बैठा। जैसे आशीर्वाद कर रहा हो, इस ढग से उसने हाथ ऊपर उठाया। उसने कहा—"जी, मेरा नाम मटुकनाथ पांडे है। ब्राह्मण हूँ। हुजूर के ही पास जा रहा था।"

—"मेरे पास? क्यों?"

—"हुजूर मैं बेहद गरीब हूँ। आपका नाम सुनकर बड़ी दूर से पैदल ही आ रहा हूँ। तीन दिनों तक चलता ही रहा हूँ—आपकी दया से जीविका का अगर कोई हीला हो जाय।"

मुझे कौतूहल हुआ। पूछा—"ये तीन दिन जो आप जंगलो की राह चलते रहे, सो खाया क्या?"

मटुकनाथ की मैली चादर की कोर मे उड़द का सत्तू बँधा था। उसे दिखाते हुए वह बोला—"सेरभर सत्तू लेकर घर से निकला था। वही खाता आ रहा हूँ। रोजी की खोज मे निकला हूँ हुजूर। सत्तू तो खत्म हो आया—ईश्वर फिर कुछ बदोबस्त कर देंगे।"

चादर के कोने मे सत्तू बाँधकर आजमाबाद और नाढा बैहार के

जन-शून्य प्रांतर मे वह किस रोजगार की उम्मीद लेकर आया है, मै यह नहीं समझ सका। मैंने कहा—" भागलपुर, मुगेर, पूर्णियाँ जैसे बडे-बड़े शहरों के होते हुए इस जगल में कैसे आ निकले पाडेजी ? यहाँ क्या होना है। आदमी कहाँ है यहाँ—कुछ देगा भी तो कौन ?"

उसने निराशा भरी निगाह से मुझे देखते हुए कहा—" यहाँ जीविका का कोई ठिकाना नही होगा बाबू ? फिर मै जाऊँ कहाँ ? शहर में मै किसी को नही जानता, वहाँ की राह-बाट का भी पता नही, डर लगता है। इमीसे इधर आया हूँ।"

वह मुझे बडा भला, भोला और बेचारा लगा। मै उसे साथ-साथ कचहरी तक लिवा ले गया।

कई दिन बीत गए, मै मटुकनाथ को कोई काम न दिला सका। देखा, वह कोई काम भी नही जानता, मामूली ही संस्कृत पढ़ी थी। वह पंडित-पुजारी का काम कर सकता था। टोल मे लड़कों को पढ़ाया करता था। वह मेरे सामने संस्कृत के श्लोक पढ़कर मेरा मनोरंजन करने की कोशिश करने लगा।

एक दिन उसने कहा—" हुजूर, मुझे कहरी के पास थोड़ी-सी जमीन देकर एक सस्कृत पाठशाला ही खुलवा दे। "

मैंने कहा—" उस पाठशाला मे आखिर पढेगा कौन पंडितजी ? ये जगली भैसे और नीलगाएँ क्या भट्टी और रघुवंश समझेगी ? "

मटुकनाथ बड़ा सीधा-सादा आदमी था। शायद बिना कुछ सोचे-समझे ही उसने यह बात कह दी थी। मैंने सोचा—अब समझकर वह इससे जरूर बाज आएगा। लेकिन दो-चार दिन मौन रखकर उसने फिर वही प्रस्ताव रक्खा। बोला—" मिहरबानी करके मुझे संस्कृत पाठशाला खुलवा दे हुजूर। एक बार कोशिश तो कर देखूँ। न होगा, तो मै जाऊँगा कहाँ ? "

अजीब मुसीबत। आदमी यह खब्ती तो नहीं है ! उसके चेहरे को देखकर दया हो आती। बड़ा ही सरल आदमी—तीन-पाँच नही जानता।

अबोध-सा आदमी—मगर इतनी उम्मीदें लेकर जाने किसके भरोसे यह यहाँ आ गया है?

मैंने उसे बहुतेरा समझाया कि मैं जमीन देता हूँ, खेती करो, जैसे राजू पाँड़े करता है। उसने निहोरा करके कहा—"परंपरा से पंडिताई करता आया हूँ, खेती का क-ख भी नहीं जानता, जमीन लेकर करूँ तो क्या करूँ?"

यों मैं कह सकता था कि पंडिताई करने वाला आदमी यहाँ मरने को आ क्यों गया? लेकिन कड़वी बात कहते न बनी। वह मुझे बड़ा भला लगा था। आखिर उसे मैंने एक घर बनवा दिया। कहा—"यही पाठशाला हुई। अब आप जानो कि पढ़नेवाले मिलते भी हैं या नहीं।"

मटुकनाथ ने पूजा-पाठ किया, दो-तीन ब्राह्मणों को भोजन कराया। इस तरह संस्कृत पाठशाला की प्रतिष्ठा हुई। इस जंगल में वैसा कुछ मिलना-जुलता भी तो नहीं। मटुक ने मकई के आटे की मोटी-मोटी पूरियाँ बनाईं। अपने हाथों, जंगली तोरई भूनी, बथान से भैंस का दूध लाकर दही जमाया। यही ब्राह्मण-भोजन की सामग्री। निमंत्रितों में अवश्य मैं भी था।

पाठशाला खोलकर कुछ दिनों तक को मटुकनाथ ने बड़ा मजा किया। ऐसे-ऐसे जीव भी दुनिया में रहते हैं।

सुबह की आह्निक-पूजा करके वह खजूर के पत्तों की चटाई बिछाकर पाठशाला में बैठ जाता और 'मुग्धबोध' की प्रति सामने खोलकर सूत्रों की आवृत्ति करता जाता, ठीक जैसे किसी को पढ़ा रहा हो। इतने-जोर-जोर से पढ़ता कि अपने दफ्तर में बैठा मैं उसे साफ सुन लेता था।

तहसीलदार सज्जनसिंह कहता—"ये पंडितजी भी खासे पागल ही हैं। जरा रवैया देखिए हुजूर!"

इसी तरह दो महीने कटे। मटुकनाथ सूने घर में उसी उत्साह से अपनी पाठशाला चलाता रहा। एक बार सुबह, एक बार तीसरे पहर। इतने में आ गई सरस्वती-पूजा। हर साल दावात-पूजा करके ही वाग्देवी की अर्चना कचहरी में होती थी, मूर्ति यहाँ बनवाई भी कहाँ से जाती? मुझे पता चला,

मट्टुकनाथ अपनी पाठशाला मे अलग से पूजा करेगा, अपने हाथो शायद सरस्वती की प्रतिमा भी बनाएगा।

इस साठ साल के बूढे के उत्साह और धीरज की बलिहारी !

हँसते हुए उसने कहा—"यह पूजा मेरी पैतृक पूजा है बाबूजी। मेरे पिताजी अपनी पाठशाला मे हरसाल मूर्ति बनवाकर पूजा किया करते थे। अब मेरी पाठशाला मे—" मगर पाठशाला कहाँ ?

अवश्य मट्टुकनाथ ने यह बात कही नही।

[तीन]

सरस्वती-पूजा के कोई दस दिन बाद एक रोज मट्टुकनाथ ने आकर मुझे बताया—"पाठशाला मे एक छात्र भर्ती हुआ है। वह आज ही कही से आया है शायद ! "

उसने छात्र को मेरे आगे लाकर खडा किया। चौदह-पद्रह साल का एक साँवला-दुबला-सा लडका, मैथिल ब्राह्मण, बड़ा ही गरीब, जो कपडे पहने था, उनको छोडकर दूसरा कोई कपड़ा ही न था उसके पास।

मट्टुकनाथ के उत्साह की न पूछिए। खुद को रोटी नही मिलती; मगर तुरत उसने उस छात्र के भरण-पोषण का भार उठा लिया। यह उसकी वंशगत प्रथा थी। अब तक पढनेवाले छात्रो के अभाव उसके यहाँ की पाठशाला की तरफ से ही मिटाए जाते रहे थे, सो पढने के लिए आनेवाले छात्र को उससे लौटाते न बना।

एक-दो महीने के अंदर और भी दो-एक छात्र आ जुटे। एक जून सब भोजन करते, एक जून नही। प्यादे चदे से लाकर मकई का सत्तू, आटा, माढा दिया करते। मै भी कुछ मदद कर देता। छात्र जंगल से बथुए का साग ले आते और उसी को उबालकर उसी पर एक शाम काट लेते। मट्टुक-नाथ का भी यही हाल था।

रात के दस-ग्यारह बजे तक पाठशाला के सामने एक बहेड़े के पेड़

के नीचे मै मटुकनाथ को पढाते देखता। या तो अँधेरे मे या चाँदनी रात मे। तेल भी नही जुटता था रोशनी के लिए।

एक बात पर मुझे अवश्य ही अचरज हुआ कि पाठशाला के लिए जमीन और घर की प्रार्थना के सिवाय उसने कभी भी मुझसे पैसो की मदद नही माँगी। यह भी कभी नही कहा कि हुजूर, गुजारा नही होता, आप कोई और उपाय कर दे। वह किसी से भी कुछ नही कहता था। प्यादे लोग अपनी मर्जी से जो चाहे दे देते थे।

बैसाख से लेकर भादो तक उसकी पाठशाला मे छात्रो की संख्या काफी हो गई। माँ-बाप द्वारा घर से निकाले कोई दस-बारह गरीब लडके—मुफ्त मे भोजन मिलेगा, इस लोभ से—जाने कहाँ-कहाँ से आकर उसमे दाखिल हो गए। इधर तो कौओं के मुह से ऐसी बात फैलती है! देखकर लगा, ये लडके पहले भैंस चराते थे। बुद्धि का पैनापन किसी मे न था और वही पढने चले थे काव्य और व्याकरण! दरअसल बेचारे मटुकनाथ को सीधा पाकर उसके कंधो पर सवार होकर मुफ्त खाने को आ गए थे वे, मगर मटुकनाथ को इन बातो का खयाल ही नही था, छात्र जुट गए, उसे इसीकी बेहद खुशी थी।

एक दिन खबर मिली, टोल के छात्र आज भूखे ही रह गए है, और मटुकनाथ भी। खाने को कुछ नही मिला।

मैंने बुलवाकर मटुकनाथ से पूछा।

खबर सही थी। सिपाहियो ने जो थोडा-सा आटा और सत्तू दिया था, वह कई दिन पहले ही चुक गया था। कई रोज रात को सीझे हुए बथुए के साग पर रहना पडा। आज वह भी नसीब नही हुआ। और बथुए का साग खा-खाकर कई छात्रों की तबीयत भी खराब हो गई थी। छात्र अब उसे खाना भी नही चाहते थे।

—"तो अब क्या कीजिएगा पाँडेजी?"

—"मेरी तो अक्ल काम नही करती हुजूर! इतने छोटे-छोटे लड़के —भूखे रहेगे..."

मैंने अपने यहाँ से उन लोगो के लायक दो-तीन दिन का सामान दिलवाया—चावल, दाल, आटा, घी। कहा—"ऐसे पाठशाला नही चलने की पाँडेजी। इसे बंद कर दीजिए। आप उन्हे खिलाएँगे क्या और खुद क्या खाएँगे?"

मैंने समझा, मेरी बात से पाँडेजी का जी दुख गया। वह बोला—"ऐसा भी होता है हुजूर! चली-चलाई पाठशाला उठा दूँ? यह तो मेरा अपौती रोजगार है।"

मटुकनाथ आदमी सदानंद है, ये बाते उसे समझाना बेकार है। मैने देखा, उन छात्रो के साथ वह मजे मे है।

मटुकनाथ की कृपा से हमारी वन-भूमि का एक हिस्सा मानो ऋषि का आश्रम हो उठा था। छात्रगण जोर-जोर से 'मुग्धबोध' के सूत्र रटा करते। कचहरी के मचान पर से फले कद्दू-कोहडे चुरा ले जाते, डाल-पत्ते नष्ट करते हुए फूल चुरा ले जाते, यहाँ तक कि कचहरी के लोगो की दूसरी चीजें भी धीरे-धीरे गायब होनी शुरू हो गई। प्यादे आपस मे कहने-सुनने लगे कि यह कारगुजारी पाठशाला के लड़को ही की है।

एक दिन नायब का बक्स खुला पाया गया। उसमे से किसीने कई-एक रुपए और घिसी-घिसी-सी सोने की एक जो अँगूठी थी, गायब कर दी थी। बडी हलचल मच गई। कई दिन बाद वह अँगूठी एक छात्र के पास पाई गई। उसने उसे कमर के एक बटुए मे छिपाकर रक्खा था। किसी ने देख लिया और खबर कर दी। चोरी के माल सहित वह पकड़ा गया।

मैंने मटुकनाथ को बुलवाया। हकीकत मे वह बेचारा बडा भला था। उसकी भलमनसाहत का लाभ उठाकर लडके मनमानी कर रहे थे। सो पाठशाला तोडने की जरूरत तो नही थी, मगर दो-एक छात्रों को हटाए बिना भी काम नही चल सकता था। मैंने कहा—"जो छात्र रह जायँ, मै उन्हे जमीन देता हूँ। एडी-चोटी का पसीना एक करके उसमे मकई, चीना—यह सब उपजाएँ। उसी से गुजारा करे।"

मटुकनाथ ने छात्रो से यह कहा। बारह लड़के थे, उनमे से आठ तो

यह सुनते ही चल दिए। चार रह गए। मेरा खयाल है, वे भी कुछ पढने के खयाल से नही रहे, रहे इसलिए कि और कोई चारा ही नही था। पहले भैस चराया करते थे, अब न होगा तो खेती कर लेगे। तब से उसकी [illegible] एक तरह से अच्छी ही चलने लगी।

[चार]

छट्‌ठूसिह तथा दूसरे रैयतो को कोई डेढ हजार बीघा जमीन दे दी गई। नाढा बैहार की भूमि ही ज्यादा उपजाऊ थी, इसलिए यह सारी जमीन लोगो को उसी मे से दी गई। यहाँ की प्रातर-सीमा के वन बडे रम्य थे। बहुत बार उधर से गुजरते हुए मेरे जी मे होता था, नाढा बैहार का यह जंगल दुनिया का एक ब्यूटी स्पाट है—वह ब्यूटी स्पाट अब गया!

दूर से ही नजर आता, जगल मे आग लगाई गई है। बिना थोडा-बहुत जलाए उस घने जंगल को काटना मुश्किल था; लेकिन वन भी सभी जगह तो नही था, दिगत-व्यापी प्रातर के किनारे-किनारे था जगल, प्रातर के बीच क्वचित्-किंचित् कही-कही झाडियाँ, जाने कैसी-कैसी लताएँ कौन-कौन-से जगली फूल।

मै बैठा-बैठा जगल के जलने की चट्-चट् आवाज सुनने लगा। कितनी शोभामयी लताएँ खाक हो गई—यही सोचता रहा। न जाने कैसी तकलीफ होती थी, इसीलिए उस तरफ को नही जाता। देश की एक इतनी बडी दौलत, जो चिरकाल तक मनुष्य के मन को शाति और आनंद दे सकती थी, एक मुट्‌ठी गेहूँ के बदले उसे विसर्जन कर देना पडा!

कातिक के आरभ मे एक दिन मै उस जगह को देखने गया। सारे मैदान मे सरसो बोया गया था, बीच-बीच मे बस्ती बस गई थी। इसी बीच में गाय-भैस और स्त्री-पुत्रों के साथ लोग-बाग गाँव बसाकर रहने लगे थे।

जाड़े के बीचो बीच जब उस फूली हुई सरसो से चारो तरफ उजाला-सा फैल गया, तब आँखो के आगे जो अपूरब नजारा पेश हुआ, उसकी तुलना नहीं हो सकती। डेढ हजार बीघे का वह विशाल प्रातर सुदूर क्षितिज के

छोर तक पीले गलीचे से जैसे ढँक गया हो, न कहीं फाँक, न कोई व्यवधान—ऊपर इंद्रनीलमणि-सा फैला नीला आसमान, उसके नीचे पीली-पीली धरती, जहाँ तक नजर जा सके। मैंने सोचा—चलो, यह भी बुरा नही हुआ।

एक रोज मै उन नए गाँवो को देखने गया। एक छट्ठूसिह को छोड़कर बाकी सब गरीब लोग। एक रात्रि-पाठशाला खोलने की बात सोची। सरसो के खेतों के पास बहुतेरे लड़के-लड़कियो को खेलते देखकर उसकी जरूरत महसूस हो आई।

लेकिन कुछ ही दिनो मे नए रैयतो ने गोल-माल शुरू कर दिया। ये जरा भी शातिप्रिय नही थे। एक दिन मै अपनी कचहरी मे था। खबर मिली कि नाढा बैहार के रैयतो ने आपस मे दंगा-फिसाद शुरू कर दिया है। चूँकि खेतो में मेड न थी, इसीलिए झगडे की शुरूआत हुई। जिसके नाम पाँच बीघे जमीन थी, उसने दस बीघे पर दखल जमाना चाहा। यह भी पता चला कि सरसो की फसल तैयार होने के कुछ दिन पहले ही छट्ठू-सिह ने अपने यहाँ बहु-से रजपूत लठैत बुलवाकर रक्खे थे। क्यो बुलवाए इसका असली मतलब अब समझ मे आया। तीन-चार सौ बीघे में तो उसकी अपनी फसल थी, उसके सिवा नाढा बैहार के डेढ हजार बीघे की खेती मे से जितना भी हो सके, वह लाठी के जोर से हथिया लेना चाहता था।

अमलो ने मुझे बताया—"यहाँ का यही रवैया है हुजूर, 'जिसकी लाठी, उसकी फसल।'"

जो बेचारे कमजोर पडते थे, वे मेरे पास आकर रोने लगे। गरीब गगोते थे ये। इन्होने जंगल काटकर महज़ दस-पांच बीघे जमीन मे खेती की थी और उसी के भरोसे बाल-बच्चो सहित खेतो के आस-पास ही घर-द्वार बनाकर बस गए थे। अब एक प्रबल व्यक्ति के जुल्म से उनके सारे वर्ष की मिहनत का फल जा रहा था।

मामला क्या है, यह देखने के लिए मैंने कचहरी के दो प्यादों को वहाँ भेजा था। वे भागे-भागे आए और बोले—"भीमदास टोला की उत्तरी सीमा पर जोरो का दंगा हो रहा है।"

तहसीलदार सज्जनसिह तथा कचहरी के सभी सिपाहियों को लेकर मै उसी दम रवाना हो गया। दूर से ही हो-हल्ला सुनाई पडा। वैहार के बीच मे एक पतली-सी नदी बहती थी। लगा, यह हो-हल्ला ज्यादा उसी तरफ हो रहा था।

नदी के किनारे पहुँचकर देखा--उसके दोनों ही किनारो पर लोग इकट्ठे है। साठ-सत्तर आदमी इस पार और उस पार छट्ठूसिह के तीस-चालीस रजपूत लठैत। लठैत इस पार आने की ताक मे थे। इस पार के लोगो ने उन्हे रोकने की कोशिश की थी। इस पार के दो-एक आदमी इस कोशिश मे घायल भी हो चुके थे। घायल होकर वे नदी मे गिर पडे थे। छट्ठूसिह के लोगो ने उनमे से एक की गर्दन को गँड़ासे से काट लेना चाहा था। ये लोग भिड़कर उसे छीन लाए थे। नदी मे नाम को ही पानी था, फिल्ली भी नही डूबती थी। एक तो पहाड़ी नदी, फिर जाडा खत्म हो रहा था।

हम लोगो को देखकर लोगो ने दगा बद किया। दोनो तरफ के लोग मेरे पास आए। दोनों ही पक्षों ने अपने को युधिष्ठिर और दूसरे को दुर्योधन बताया। उस गुलगपाडे मे न्याय-अन्याय समझ सकना कठिन था। मैंने दोनों ही दलों के लोगों को इसके लिए अपनी कचहरी मे आने को कहा। जो घायल थे, उन्हे लाठी की मामूली-सी चोट लगी थी--जख्म गहरा न था। उन्हें भी मै कचहरी ले आया।

छट्ठूसिह के दलवालों ने बताया, वे लोग दोपहर के बाद कचहरी में हाजिर होंगे। मैंने समझा--बात आई-गई हो गई, लेकिन हकीकत मे तब भी मै उन्हे पहचान नही पाया था। दोपहर के जरा देर बाद ही खबर मिली वहाँ फिर से दंगा शुरू हो गया है। सिपाहियो को लेकर फिर मै दौड़ा। नौगछिया थाना वहाँ से पन्द्रह मिल पर था। थाने मे खवर देने के लिए घोड़े से एक आदमी को भेज दिया। पहुँचकर मैंने देखा, जैसा सवेरे था, वैसा ही हाल। छट्ठूसिह ने इस समय और भी बहुत-से लोग जुटा रक्खे थे। मालूम हुआ कि रासबिहारीसिंह राजपूत और नंदलाल गोलावाला छट्ठूसिह की

मदद कर रहे थे। छट्ठूसिंह खुद सरजमीन पर मौजूद न था, उसका भाई गजाधरसिंह कुछ दूर पर घोडे पर सवार खड़ा था। उसने मुझे जो देखा, सो खिसक पडा। अबकी बार मैंने राजपूत दल के दो आदमियो के हाथो मे बंदूकें देखी।

उस पार से राजपूतों ने चिल्लाकर कहा—"आप हट जाएँ हुजूर, हम जरा इन गंगोतो को सबक सिखा दें।"

मेरे हुक्म से मेरे साथ के लोग दोनो दलो के बीच जा खड़े हुए। मैंने बता दिया कि थाने मे खबर भेज दी गई है। अब तक दारोगा-सिपाही आधी दूर आ गए होंगे। और ये बंदूकें किनकी है? अगर बंदूक छोडी गई, तो उन्हे जेल जाना ही पडेगा, खैर नही।

जिनके हाथों मे बदूकें थी, वे दोनो आदमी पीछे हट गए। गंगोतो को बुलाकर मैंने कहा—"देखो, झगड़ा फिसाद की कोई जरूरत नहीं, अपने-अपने घरों को लौट जाओ। मै यहाँ हूँ। मेरे आदमी यहाँ रहेंगे। अगर तुम्हारी फसल लूटी जायगी, तो मै जिम्मेदार हूँगा।

गंगोतो के सरदार ने मेरी बात मानी। अपने लोगों के साथ वह कुछ दूर पर एक बकाइन के पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ। मैंनेकहा—"वहाँ भी मत रुको—सीधे घर चले जाओ। पुलिस आ ही धमकी समझो।"

मगर राजपूत इतने से मानने वाले न थे। वे उस पार आपस मे न जाने क्या राय-मशविरा करने लगे। मैंने तहसीलदार से पूछा—"सज्जन-सिंह, माजरा क्या है? हम पर तो धावा नहीं होनेवाला है?"

तहसीलदार ने कहा—"हुजूर, यह जो नंदलाल ओझा आ जुटा है खतरा उसीका है। वह कंबख्त पूरा डाकू है, डाकू!"

—"तो सावधान रहो। किसी को उस पार मत जाने दो। किसी कदर दो घंटे सँभाल लो, इतने मे पुलिस आ पहुँचेगी।"

राजपूतों ने आपस मे तै क्या किया, पता नही। कुछ लोग मेरे पास आए। बोले—"हुजूर, हम लोग उस पार जायँगे।"

मैंने पूछा—"क्यों?"

—"क्यो क्या, हमारी क्या उस पार जमीन नही है ?"

—"ये सारी बाते पुलिस को बताना, आ ही रही है। मै इधर आने की इजाजत नही दे सकता।"

—"हमने ढेर-के-ढेर रुपए सलामी देकर जो जमीन ली है, वह क्या बर्बाद होने देने के लिए ही ? यह तो आपका अन्याय है, जुल्म है।"

—"इस जुल्म की शिकायत भी पुलिस से करना।"

—"तो हमे आप उस पार बिलकुल भी नही जाने देगे ?"

—"पुलिस के आने से पहले नही। अपने इलाके मे मै मार-पीट की नौबत नही आने दूँगा।"

इतने मे हमारी कचहरी के और भी आदमी आ जुटे और उन्होने अफवाह उडा दी कि पुलिस के लोग आ रहे हैं। एक-दो करके धीरे-धीरे छट्ठूसिह की जमात के लोग खिसकने लगे। उस समय के लिए तो झगड़ा-लड़ाई समाप्त हो गया। मगर वैही जो उसका सूत्रपात हुआ, सो दिन-दिन बढता ही चला गया। मै समझ गया कि छट्ठूसिह-जैसे जालिम राजपूत के हाथो इतनी ज्यादा जमीन बेच देने का ही यह नतीजा है। सारे झगड़े-फिसाद की जड़ यही है। मैंने एक दिन उसे बुलवाया। वह साफ इनकार कर गया कि इन बातो की उसे कतई जानकारी नही। बोला—"मेरा ज्यादा समय छपरे मे बीतता है। मेरे कारिन्दे क्या करते हैं, उसको मै क्या जानूँ ?"

मै ताड गया, आदमी यह एक ही काइयाँ है। सीधी तौर से काम बनने का नही। अगर उसे सबक देना है, तो और ही उपायो की शरण लेनी पडेगी।

तब से मैंने गगोतो के सिवा किसी भी दूसरे रैयत को जमीन देना बिलकुल बद कर दिया, लेकिन जो गलती एक बार कर चुका था, उसका कोई प्रतिकार किए न हो सका। नाढ़ा बैहार की शाति सदा के लिए जाती रही।

[पाँच]

अपने बारह मील के रकबे मे फैले जंगली मौजे के उत्तर मे कोई छै सौ एकड जमीन में रैयत बस गए थे। पूस के आखिरी दिनो एक बार उधर जाने की जरूरत पडी। गया। देखा—लोगो ने इलाके की शकल ही बदल डाली है।

फुलकिया बैहार से बाहर निकला कि सामने क्षितिज तक फैला हुआ फूली हुई सरसों का खेत नजर आया। जहाँ तक आँख जा पाती थी, सामने दाएँ-बाएँ ऐसा मालूम होता था, मानो किसी ने पीला फूल कढा हुआ गलीचा बिछा दिया हो—न ओर-छोर, न बाधा-बधन। जंगल के छोर से लेकर वह क्षितिज के समीप तक की नीलगिरि-माला में जाकर मिल गया था। ऊपर शीतकाल का निर्मेघ नील गगन। ऐसे अनोखे खेतो के बीच-बीच मे रैयतों के कसाल के झोपड़े खड़े थे। पता नही, ऐसी करारी सर्दी मे ये बाल-बच्चो के साथ इन झीने झोपडों मे कैसे रह लेते थे।

फसल पकने में देर नही थी। जगह-जगह से कटनियो की जमात इसी बीच में जुटने लगी थी। इन मजूरों की जिदगी भी अजीब होती है। ये पूर्णियाँ तराई तथा जयंती पहाड़ के आस-पास और उत्तरी भागलपुर से यहाँ आते है और बाल-बच्चो सहित आते है। झोपड़े डालकर रहते है, खेतों मे फसल काटते है, उसी की जो मजूरी मिलती है, उससे गुजर-बसर करते है। कटनी खत्म हो जाने पर वापस चले जाते है, अगले साल फिर आते है। कटनी मजूरो में अनेक जाति के लोग रहते है, लेकिन सबसे ज्यादा रहते है गंगोते। छत्री, भूमिहार और मैथिल ब्राह्मण भी इनमे होते है।

यहाँ फसल कटते समय खेतो मे ही मालगुजारी वसूलने का रिवाज है, इसलिए कि यहाँ के लोग इतने गरीब है कि फसल घर उठ जाने के बाद मालगुजारी चुकाना उनके लिए मुमकिन नही होता। इसी सिलसिले मे मुझे खुद भी कई दिनों तक फुलकिया बैहार मे रहना पडा।

तहसीलदार ने कहा—"तो आपके लिए वहाँ तबू खडा करवा दूँ ?"

—"दिन-भर मे कसाल का एक झोपडा क्यो नही बनवा देते ?"

—"ऐसी सर्दी मे उसमे रह सकेंगे हुजूर ?"

—"बखूबी रहूँगा। बनवा दो।"

वही किया गया। पास-पास कसाल के तीन-चार छोटे-छोटे झोपडे डाले गए। एक मेरे सोने के लिए, एक रसोई और एक दो-तीन प्यादों के रहने के लिए। इस तरह के झोपडों को इधर के लोग 'खोपडी' कहते है। इसमें न तो होता है दरवाजा, न होती है खिडकी। अदर जाने-आने के लिए सामने की तरफ खुला होता है। बंद करने की गुजाइश नही होती। हू-हू करके हिम-शीतल हवा के झोके आते रहते है। दरवाजे के बदले जो खुली जगह होती है, वह इतनी नीची होती है कि सिकुड कर अदर दाखिल होना पडता है। सूखा कसाल गाढा करके बिछा दिया गया, उस पर दरी और दरी पर डाल दिया गया मेरा बिछावन। मेरे लिए जो झोपडा बना, वह सात हाथ लंबा और तीन हाथ चौडा था, मगर ऊँचाई उसकी मुश्किल से तीन हाथ की होगी। खडा होना मुहाल।

मगर मुझे यह झोंपडा अच्छा लगा। इतना आराम तो मुझे कलकत्ता मे तीन या चार मजिल के मकान मे रहकर भी नही मिला। यह हो सकता है कि बहुत दिन से यहाँ रहते-रहते मै जंगली होता जा रहा हूँ। मेरी रुचि, मेरा दृष्टिकोण, भला-बुरा लगना, सब पर इस खुली वन्य प्रकृति का थोडा-बहुत प्रभाव पडा था। कौन कह सकता है कि मेरा यह अच्छा लगना उसी की बदौलत था या नही ?

उस झोपडे मे दाखिल होते ही जो चीज मुझे अच्छी लगी, वह थी ताजे कसाल की बू, जिससे झोपडा बना था। दूसरी चीज थी, झोपड़े के झरोखों से सोये-सोये दीखते रहनेवाले सरसो के दिगंत-विस्तृत पीले फूलो से भरे खेत। यह दृश्य अनोखा ही था। लगता था कि जैसे मै किसी संसार-व्यापी पीले गलीचे पर पडा हूँ। तेज हवा मे सरसो के फूलों की तीखी गध भरी थी।

सर्दी भी खासी पड़ी। पछुआ एक दिन को भी बंद नहीं हुई। उससे जलती धूप भी गल कर ठंढा पानी हो जाती थी। बैहार मे जो बेर का जंगल

था, उसके पास से घोड़े पर लौटते हुए मैं सुदूर तिरासी-चौका की नील चोटी पर जाड़े का सूर्यास्त देखा करता। अग्नि कोण से नैऋत्यकोण तक सारा पश्चिमी आसमान रंग उठता। ऐसा लगता, जैसे पिघली आग के समुद्र मे प्रकाड अग्नि गोलक-जैसा सूरज उतर पडता। मै मानो पृथ्वी की आह्निक गति को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, यह विशाल धरती जैसे पूरब से पश्चिम को घूमती चली आ रही है। ज्यादा देर तक ताकते रहने से भ्रम होता। सचमुच ही लगता कि पश्चिमी क्षितिज के छोर की धरती उस विदु की तरफ घूमती आ रही है, जिस पर मैं खड़ा हूँ।

धूप के मिटते ही कड़ाके की सर्दी पडने लगती। तमाम दिन कड़ी मेहनत करने और घोड़े से यहाँ-वहाँ जाने-आने के कारण हम भी थक जाते। शाम को झोंपड़े के आगे आग जलाकर उसी के पास बैठा करते।

अंधकार से ढँके वनों के ऊपर जलनेवाले अनगिन तारे न जाने कितनी दूर-दूर के विश्व के ज्योति-दूत के रूप मे धरती के लोगो की आँखों के आगे प्रकट होते। ये नक्षत्र बिजलीबत्ती-से झकमक जलते—बंगाल में मैंने वैसी कृत्तिका, वैसा सप्तर्षिमंडल कभी नही देखा था। बराबर देखते-देखते उनसे मेरा गहरा परिचय हो गया था। नीचे गाढा अँधेरा, जंगल, सूनापन, रहस्यमयी रात और सिर के ऊपर मेरे रोज-रोज का साथी ज्योतिर्लोक! कभी-कभी अंधकार के समुद्र मे चाँद का टुकड़ा ऐसा दिखाई देता, जैसा कि बहुत दूर के रोशनी-घर मे प्रकाश! और उस गाढ़े अँधियारे को आग के तीर से चाक-चाक करता हुआ यहाँ-वहाँ उल्का-पात। जिधर देखो, उधर ही, दक्खिन, उत्तर, ईषाण, नैऋत्य, पूरब, पश्चिम—हर तरफ। यह एक, वह एक और फिर वह एक—हर मिनट पर, हर सेकिंड पर।

कभी-कभी गनौरी तिवारी या और बहुत-से लोग मेरे झोंपड़े मे आ जुटते। तरह-तरह की बातें छिड़ती। यही एक दिन मैंने एक गज़ब की कहानी सुनी। बातों-ही-बातों में उस रोज शिकार के किस्से शुरू हो गए। अचानक मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट के जंगली भैंसे की बात उठ आई। इत्तिफाक से चरी की डाक बोलने के लिए दशरथसिंह झंडावाला उस

दिन वही आया हुआ था। कभी इस आदमी ने जंगलों की खूब खाक छानी थी। उसका नाम अच्छे शिकारियों में था। उसने बताया—भैंसों के शिकार में मैंने एक बार 'टॉड़बारो' देखा था हुजूर!

मुझे याद आया, गोनू महतो ने एकबार टाँड़बारो का जिक्र किया था। मैंने पूछा—"वह क्या?"

—"बात बहुत पहले की है हुजूर—उस समय कोसी वाला पुल नहीं बना था। कटोरिया में जोड़ा खेप लगा करता था, पैसेंजर और माल, दोनों एक साथ पार होते थे। मैं और छपरा का छट्ठूसिंह, उन दिनों दोनों घोड़े के नाच के पीछे पागल थे। छट्ठूसिंह छत्तर (सोनपुर) के मेले से घोड़ा लाया करता और उन्हे नाच सिखा कर हम ज्यादा दाम पर बेचा करते थे। घोड़े का नाच दो तरह का होता है—जमैती और फरैती। जो घोड़ा जमैती में पक्का होता, उसकी कीमत ज्यादा मिलती। जमैती नाच सिखाने में माहिर था छट्ठूसिंह। तीन-चार वर्षों में हम दोनो ने इससे अच्छा कमाया।

"एक बार छट्ठूसिंह की राय हुई कि लाइसेंस लेकर ढोलबज्जा जंगल से भैंसे पकड़े जायँ और उसी का कारोबार करें। ढोलबज्जा दरभंगा महाराज का रिजर्व फारेस्ट था। सब इन्तजाम किया गया। जंगल का जो अमला था, उसकी जेब गरम करके परमिट अदा किया। सब हो-हवा जाने के बाद मैं कई दिनों तक घनघोर जंगल की खाक छानता रहा, सिर्फ यह जानने के लिए कि भैंसों के जाने-आने की राह किधर और कौन-सी है। उतना बड़ा जंगल, मगर क्या मजाल कि एक भी भैंसा दिखाई पड़ता! हार-थक कर एक संथाल की मदद ली। उसने हमें बाँसों की एक झाड़ी दिखा कर कहा—'देखिए, गहरी रात हुए भैंसे इसी रास्ते से पानी पीने जाते हैं।' हमने उस रास्ते को दूर तक काफी गहरा खोदा और उस पर बाँस और मिट्टी डाल कर फंदा तैयार किया। अगर इससे होकर भैंसों की टोली जायगी, तो वह गिर कर गढ़े में फँस जायगी।

"उस संथाल ने हमारे फन्दे देखे और कहा—'तुमने हिकमत तो खूब

लगाई, मगर मैं कहे देता हूँ, ढोलबज्जा जंगल के भैंसों को तुम हर्गिज नही मार सकते। यहाँ टाँड़बारो है।'

"हम तो अवाक् रह गए—'यह टाँड़बारो क्या बला है?'

"उस बुड्ढे संथाल ने बताया—'टाँड़बारो, जंगली भैंसों का देवता है। उसके रहते भैंसों का बाल भी बाँका नही हो सकता।'

"छट्टूसिंह अड़ गया—'ये बेकार की बातें है, हम नही मानने के। हम रजपूत है, संथाल नहीं है।'

"उसके बाद हम पर जो गुजरी, उसे सुनकर आप दंग रह जायँगे हुजूर! आज भी उसकी याद आते ही मेरे रोंगटे खडे हो जाते हैं। हम गहरी रात को बाँसों की एक झाड़ी के पास दुबके खड़े थे, चुपचाप—चूँ तक भी नही की हमने। हमे भैंसों के पैरों की आहट सुनाई दी, वे फंदों की तरफ आ रहे थे। बहुत ही करीब आ गए, कोई पचास हाथ के फासले तक। अचानक फंदे के पास, करीब दस हाथ की दूरी पर एक काला-कलूटा, बेहिसाब लम्बा आदमी हाथ उठाए खड़ा दीख पड़ा। इतना लम्बा था वह कि लगा उसका सिर बाँस की फुनगी से जा सटा है। उस पर नजर पड़ते ही भैंसे ठिठक गए और वे धीरे-धीरे बिखर कर जिधर-तिधर चले गए। फंदे की सीमा तक भी कोई न आया। अब आप यकीन करें या न करें हुजूर, आँखों देखी बात है।"

उसके बाद भी हमने दूसरे शिकारियो से पूछ-ताछ की। उन्होंने भी साफ कह दिया—"ढोलबज्जा में भैंसों को पकड़ने की उम्मीद छोड़ दो। टाँड़बारो एक का भी रोंआ तक न छूने देगा।" हमारे परमिट के रुपए पानी में गए, भैंसा हम एक भी न फँसा सके।

उसका किस्सा खत्म हो जाने पर लवटोलिया के पटवारी ने कहा—"टाँड़बारो के किस्से तो हम भी बचपन से सुनते आ रहे है। वह जंगली भैंसों का देवता है और सदा इसके लिए सतर्क रहता है कि भैंसों के प्राण अकारथ न जायँ।"

कहानी सच्ची है या झूठी, मुझे यह जानना जरूरी न था। मैं तो ऊपर

निगाह उठाए अँधेरे आसमान पर प्रकाश के खड्गवाले कालपुरुष को देखने लगा, स्तब्ध पड़े जंगल के ऊपर अँधेरा आकाश औंधा पड़ा था! दूर कहीं जंगल मे से वनकुक्कुट बोल उठा—अधेरा और निस्तब्ध आकाश, अँधेरी और निस्तब्ध पृथ्वी—जाडे की इस रात मे दोनो एक दूसरे के पास पहुँच कर मानो कुछ कानाफूसी कर रहे हो—दूर मोहनपुरा जगल की श्याम सीमा-रेखा की ओर ताकते हुए इस अनोखे वन-देवता की बात याद आते ही मेरा शरीर सिहर उठता। इस तरह के किस्से ऐसे ही जंगलो मे जाड़े की रातो मे आग तापते हुए ही सुनने मे अच्छे लगते है।

दसवाँ परिच्छेद

[एक]

पूरे पन्द्रह दिन तक यहाँ मैंने जंगली जीवन बिताया, जैसा कि गंगोते या इधर के गरीब भूमिहार बिताया करते थे। स्वेच्छा से कहना तो गलत होगा, बहुत कुछ लाचारी से ही इस तरह रहना पडा। आखिर इस जगल में मिलता भी क्या, और लाया भी कहाँ से जाता ? रूखा भात और जंगली परोल की तरकारी पर गुजर। प्यादे मीठे आलू ले आते जंगल से, कभी-कभी उसी की भुजिया। न मछली, न माँस, न दूध—कुछ नही।

इस जगल मे सिल्ली और मोर की कमी जरूर नही थी , मगर उन्हें मारने को जी नही चाहता था। बंदूक थी, फिर भी निरामिष भोजन ही चलाता रहा।

फुलकिया बैहार मे बाघ का खतरा था। एक दिन की घटना सुनाऊँ।

हड्डी तोड़ने वाली सर्दी की रात। दस बजे तक मैंने सारे काम-काज खत्म कर दिए और जरा जल्दी ही सो गया। अचानक जाने कितनी रात गए लोगों की चीख-पुकार से नीद उचट गई। जंगल के किनारे कही इकट्ठे होकर लोग शोर मचा रहे थे। मै उठ बैठा। रोशनी की। प्यादे पास के झोंपड़े में सोए थे—वे भी बाहर निकल आए। सब मिलकर सोचने लगे—आखिर माजरा क्या है? इतने मे एक आदमी दौड़ा-दौड़ा आया और बोला—"मैनेजर बाबू, जरा अपनी बंदूक लेकर जल्दी चले, बाघ एक नन्हे-से बच्चे को उठा ले भागा है।"

जंगल के पास ही एक खेत में डोमन गंगोता की झोंपड़ी थी। उसकी स्त्री छै महीने के बच्चे को लेकर झोंपड़ी में सोई हुई थी। जाड़ा बेतरह पड़ रहा था, सो अन्दर आग जला रक्खी थी। धुआँ भीतर घुमड़ न उठे; इसलिए

झोंपड़ी का दरवाजा जरा खोल दिया गया था। उसी से बाघ अन्दर दाखिल हो गया और बच्चे को ले भागा।

मगर बाघ ही था, यह कैसे पता चला ? गीदड भी तो हो सकता है ! जहाँ यह घटना हुई थी, वहाँ पहुँच कर जरा भी शक नहीं रह गया। खेतों की नर्म मिट्टी पर बाघ के पजों की छाप पड़ी थी।

मेरे प्यादे और पटवारी अपने गाँव की बदनामी नहीं फैलने देना चाहते थे। उन्होने विश्वासपूर्वक कहा—"यह बाघ यहाँ का नही हो सकता हुजूर, यह रिजर्व फारेस्ट का बाघ है, बेशक वही का है। जरा पंजा देखिए, कितना बडा है !"

बाघ कही का हो, उससे क्या आता-जाता है। मैंने कहा—"लोगों को इकट्ठा करो। मशाल लेकर चलो, जंगल में देखें।" रात का आलम, बाघ का वह खौफनाक पंजा जो देखा, तो सब मारे डर के थर-थर काँपने लगे थे। जंगल में कौन जाय, किसे अपनी जान भारी है। मैंने गरज-बिगड़ कर मुश्किल से दसेक आदमियों को तैयार किया। उनके हाथो में मशालें दीं और कनस्तर पीटते हुए जंगल मे खोज-ढूँढ की ; मगर सब बेकार।

दूसरे दिन, दिन के दस बजे वहाँ से कोई दो मील की दूरी पर उस बच्चे की लहू-लहान लाश एक आसान पेड़ के नीचे पडी पाई गई।

उसके बाद उतरी अँधियारी पाख की भयावनी काली-काली रातें !

मैंने बाँकेसिह जमादार को बुलवा लिया। वह शिकारी था और बाघों का अता-पता जानता था। उसने बताया—"आदमखोर बाघ एक नम्बर का धूर्त होता है हुजूर। देखिएगा, और कई लोगों को मार खाएगा। सावधानी से रहना चाहिए।"

इसके ठीक तीन दिन बाद बाघ जंगल के किनारे से एक चरवाहे को ले भागा। अब तो लोगों ने सोना भी हराम कर लिया। रात को एक अजीब तमाशा ! इतने बड़े बैहार के झोंपड़ों में तमाम रात कनस्टर पीटने की आवाज , कसाल की सुलगती हुई आग। मै और बाँकेसिह एक-एक पहर पर बन्दूक की आवाज करने लगे। और उत्पात क्या केवल बाघ ही का था ?

एक दिन रिजर्व फारेस्ट से जंगली भैंसों की जमात आकर खेतों मे पिल पड़ी और फसल को तहस-नहस करके चली गई।

मेरे झोंपड़े के आगे सिपाहियों ने आग जला रक्खी थी। मैं जब-तब उसमें लकड़ी डाल दिया करता। बगल के झोंपड़े में प्यादे आपस मे बातें कर रहे थे। मैं झोंपड़े मे सोया हुआ था। सिरहाने की तरफ के झरोखे से अंधकार से ढँका दूर तक फैला प्रांतर और तारों की मंद जोत में जंगल की धुँधली सीमा-रेखा दीख रही थी। ऊँपर आसमान की तरफ देखकर ऐसा लगा, मानो मृत नक्षत्रलोक से तुषारवर्षी हिमशीतल बयार की लहरें पृथ्वी की ओर लपकी चली आ रही हैं। तोशक-तकिया जैसे पानी हो गया हो, आग ठंडी पड़ती आ रही थी, ऐसी करारी सर्दी! और ऊपर से बैहार से आने वाली कन्कन् हवा के प्रबल झोके!

लेकिन इधर के लोग इस सर्दी मे कैसे रह लेते हैं, खुले आसमान के नीचे मामूली-से झोंपड़ों के अन्दर सीली हुई जमीन पर रात कैसे गुजारते हैं? फिर फसल जोगने की यह जिम्मेदारी, जंगली भैसों का उत्पात, जंगली सूअरों की हरकतें—बाघ का भी खतरा। बंगाल के किसान भला इतनी तकलीफ उठा सकते हैं? उतनी उपजाऊ जमीन और उत्पातरहित परिवेश के होते हुए भी उनके कष्ट नहीं कटते।

दक्खिन भागलपुर से कुछ कटनिए आए हुए थे। वे मजूर बाल-बच्चों सहित मेरे झोंपड़े से जरा ही दूर पर टिके थे। मैं एक दिन साँझ को उधर से लौट रहा था। देखा—झोंपड़े के सामने बैठकर सब लोग आग ताप रहे हैं।

मेरे लिए इन लोगों की दुनिया बिल्कुल अपरिचित और अज्ञात थी। सोचा—जरा इसे भी क्यों न देख लें।

मैं उनके पास गया। पूछा—"क्यों भैया, क्या हो रहा है?"

उनमें से एक बूढ़ा था, मेरा सवाल उसी से था। वह उठ खडा हुआ। सलाम करके उसने मुझसे आग तापने का अनुरोध किया। ऐसा रिवाज था इधर का। जाड़ों में आग तापने के लिए कहना भद्रता मानी जाती।

बैठ गया मै। झोपड़े मे झाँक कर देखा—बिछावन या असबाब नाम की कोई चीज उनके पास नहीं थी। झोंपडे के अन्दर जमीन पर थोड़ी-सी सूखी घास पड़ी थी। बर्त्तन के नाम पर काँसे का एक बड़ा-सा कटोरा और एक लोटा था। कपड़े जो उनके बदन पर थे, उतने ही ; उसके सिवाय एक टुकडा भी नही। खैर, कपडा इतना ही सही, मगर रजाई-कथरी कहाँ है ? इस भयंकर जाड़े में ये रात को ओढते क्या है ?

मैंने उनसे यही सवाल किया।

बूढे का नाम था नकछेदी भगत। जात का वह गंगोता था। उसने कहा—" रजाई क्या, झोंपडे के कोने में वह उडद का भूसा जो ढेर लगा पडा है ! "

मै कुछ समझ नही सका। पूछा—" क्या रात को भूसे से आग जलाते हो ? "

नकछेदी मेरे सीधेपन पर हँसा।

—" जी नहीं। बच्चे रात को उसी मे घुस कर सो रहते है और हम-लोग भी उसी को अपने ऊपर डाल लेते है। देखिये न, न भी होगा, तो पाँच मन भूसा है कम-से-कम। बड़ी गर्मी होती है इसमें, दो कंबलों मे भी इतनी गर्मी नहीं होती। फिर हमे कंबल नसीब भी कहाँ होता है ? "

इतने में एक बच्चे को उसकी माँ भूसे के उसी ढेर में गर्दन तक घुसा कर सुला आई। केवल उसके मुँह को बाहर रहने दिया। मै सोचने लगा—वास्तव में एक आदमी आदमी के बारे में जानता भी कितना है ? मैं ही क्या कभी इन बातों की जानकारी रखता था ? आज मानो मै वास्तविक भारत के स्वरूप को पहचान रहा हूँ।

आग के दूसरी ओर एक जवान लड़की कुछ पका रही थी। मैंने पूछा—" क्या रसोई बन रही है ? "

नकछेदी ने कहा—" घाटा। "

—" यह घाटा क्या होता है ? "

वह लड़की न जाने मेरे बारे मे क्या सोचने लगी कि शाम को अचा-

नक ये बगाली बाबू कहाँ से आ टपके—कुछ जानते ही नही ! इन्हें दुनिया की खाक भी खबर नही ! वह खिलखिला कर हँस पडी। बोली—"घाटा क्या होता है, यह भी नही जानते आप बाबूजी ? घाटा. . . उबली मकई। चावल उबालने से जैसे भात तैयार होता है, वैसे ही मकई उबाल कर घाटा बनता है।

मेरी अज्ञता पर उसे दया आई। उसने थोडा-सा घाटा हाँड़ी में से निकाल कर मुझे दिखलाया।

—"इसे कैसे खाते है ?"

अब तो मेरे प्रश्नो का जवाब वह लड़की ही देने लगी। हँसती हुई वह बोली—"नमक के साथ, साग के साथ ; और कैसे ?"

—"साग बन गया ?"

—"इसके बाद साग चढाऊँगी। मटर का साग तोड कर रक्खा है।"

वह लडकी थी खूब सप्रतिभ। पूछा—"आप कलकत्ता रहते है ?"

—"हाँ।"

—"कैसी जगह है कलकत्ता ? अच्छा, सुनते है वहाँ कोई पेड नही है ? वहाँ सारे ही पेड-पौधे काट डाले गए है ?"

—"यह किसने कहा तुमसे ?"

—"हमारी तरफ का एक आदमी वहाँ काम करता है, उसी ने कहा था। अच्छा, है कैसी जगह वह ?"

मैंने उस सरल बालिका को यह समझाने की भरसक कोशिश की कि आधुनिक युग का एक बडा शहर क्या होता है। वह कितना समझ सकी, यह नही कह सकता। बोली—"कलकत्ता देखने की इच्छा तो बड़ी होती है, मगर कौन दिखायगा ?"

उसके साथ मैंने और भी बाते कीं। रात ज्यादा हो गई, अँधेरा गाढ़ा हो आया। उन लोगों की रसोई तैयार हो गई। उस लडकी ने झोंपड़े के अन्दर से काँसे के उस बड़े कटोरे को निकाला और उसी मे माड-भात-जैसी

उस चीज को ढाल दिया। ऊपर से उस पर थोड़ा-सा नमक भुरभुरा दिया। चारों तरफ से बैठकर बच्चे खाने लगे।

मैंने पूछा—"यहाँ से तुम लोग अपने घर वापिस जाओगे?" नकछेदी बोला—"घर लौटने में अभी काफी देर है। यहाँ से धान काटने के लिए धरमपुर जायँगे। धरमपुर मे धान होता है, यहाँ नही होता। धान की कटाई खत्म हो जायगी, तो गेहूँ काटने के लिए मुंगेर जायँगे। गेहूँ की कटाई समाप्त होते-होते जेठ का महीना आ जायगा। तब खेड़ी काटने के लिए फिर आपही के इलाके मे लौटेंगे। उसके बाद कुछ दिनों की छुट्टी। श्रावन-भादों मे फिर मकई। मकई के बाद उड़द और उड़द के बाद धरमपुर-पूर्णियाँ में कतिकी धान। हम साल-भर इसी तरह यहाँ से वहाँ वहाँ से यहाँ चक्कर काटा करते हैं। जब जहाँ जो फसल होती है, जाते हैं। न जाएँ, तो पेट का गुजारा कैसे चले बाबूजी?"

—"तुम्हारे घर-द्वार नहीं है?"

अबकी बार वह लड़की बोली। चौबीस-पच्चीस की उम्र। तन्दुरुस्त, पालिश किया हुआ-सा काला रंग, सुडौल बनावट। बात करने में चुस्त, दक्खिनी बिहार की गँवई भाषा उसके मुँह से बड़ी फबती थी।

वह बोली—"घर-द्वार है क्यों नही बाबूजी, है सब-कुछ, मगर वही बैठे रहने से तो अपना गुजारा नही चल सकता। अपने घर हम गर्मियो के अन्त में जायँगे और आधे सावन तक रहेंगे। फिर परदेश का चक्कर, चाकरी ठहरी परदेश की। और परदेश के मजे भी बहुत है। फसल कट जाने दीजिए न, यहीं जानें कहाँ-कहाँ के लोग आयँगे—गाने-बजाने वाले, नचनिए, बहुरूपिए, आपने क्या नहीं देखा? देखें भी कहाँ से भला, आपका सारा इलाका तो जंगल था, महज इसी बार तो यहाँ खेती हुई है। बस और पन्द्रह दिन की देर है, यही तो उनके कमाने-खाने का समय है।"

चारों ओर सन्नाटा। दूर की किसी बस्ती में लोग अँधेरे में कनस्तर पीट रहे थे। मैं सोचने लगा—जंगली जानवरों से भरे इस जंगल के खुले झोंपड़ों में ये बाल-बच्चों को लेकर कैसे रह लेते हैं, इनके साहस की बलि-

हारी है! कई दिन पहले की तो बात है, बाघ एक औरत के बगल से बच्चे को उठा ले गया—फिर इन्हें कैसा भरोसा है? मगर एक बात मैंने पाई इनमें, इन्होंने उस घटना को कुछ महत्त्व ही नही दिया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। वैसा डर भी न था उनमे। मैंने कहा—"जरा होशियार रहना। पता है तुम्हें कि आदमखोर बाघ का खतरा बढ़ गया है? ये आदमखोर बाघ बड़े खौफनाक होते हैं, बड़े चालाक। दरवाजे पर आग जला कर रक्खो और अन्दर रहो। जंगल करीब ही है, रात का वक्त जो ठहरा—"

वह लड़की बोली—"इसके हम अब आदी हो गए है बाबूजी, पूर्णियाँ में, जहाँ हम हर साल धान काटने जाया करते हैं, पहाड़ से जंगली हाथी उतरा करते हैं। वह जंगल तो और भी भयंकर है। धान के दिनों मे तो हाथी की हरकतें ज्यादा बढ़ जाती है।"

उसने आग मे झाऊ की कुछ और सूखी टुकड़ियाँ डाल दी और सामने की तरफ सरक कर बैठती हुई बोली—"उस बार हम लोग अखिलकूचा पहाड़ के नीचे ठहरे थे। एक रात को मैं झोपड़े के बाहर रसोई बना रही थी। अचानक सामने नजर जो गई, तो देखा कि महज पचास हाथ के फासले पर चार-पाँच जंगली हाथी खड़े हैं—अँधेरे में खड़े हुए देखने मे काले पहाड़-से लग रहे थे। मालूम होता था, मानो वे झोंपड़े की तरफ ही आ रहे हों। मैंने नन्हे को गोदी मे उठाया, बड़ी बच्ची का हाथ थामा, और रसोई छोड़ कर उन्हे झोंपड़े के अन्दर रख आई। आस-पास न कोई आदमी था, न आदमजाद। बाहर निकली, तो हाथी जैसे ठिठक कर खडे हो गए थे। मारे डर के मेरी बोलती बन्द। हाथी ज्यादा देख नही पाते, इसी से खैरियत हुई, वे गंध से दूर के लोगों का अंदाजा लगा लेते हैं। उस समय हवा का रुख शायद दूसरी तरफ को था। जो भी हो, हाथी दूसरी तरफ चले गए। पूछिए मत बाबूजी, वहाँ भी तमाम रात हाथी के डर से लोग इसी तरह कनस्तर पीटते रहते हैं, आग जलाए रहते हैं। यहाँ जंगली भैंसों का भय, वहाँ बनैले हाथियों का खतरा। अब तो इस सबके हम आदी हो गए हैं बाबूजी!"

रात ज्यादा हो गई थी मै लौट आया।

दो हफ्ते के अन्दर फुलकिया बैहार की शकल ही बदल गई। सरसो पकी और न जाने कहाँ-कहाँ से विभिन्न वर्ग के लोग वहाँ आ-आकर जुटने लगे। बोरे और तराजू बाट लिए पूर्णियाँ, मुगेर और छपरा से मारवाडी खरीदार आए। उनके साथ कुलियो और गाडीवानी करने वालो का दल भी आया। हलवाइयो ने झोपडे डाल कर दूकान खोल दी। वे तेज भाव मे पूरी-कचौरी, लड्डू और कलाकद बेचने लगे। तरह-तरह की मनिहारी की चीजें, काँच के बर्त्तन, खिलौने, सिगरेट, छीट, साबुन ले-ले कर फेरीवाले आए।

नाच-तमाशा दिखाकर पैसा कमाने वाले न जाने कितनी तरह के लोग पहुँच गए। नाचवाले नाच दिखाते, राम-सीता बनकर भक्तों की भेट लेते, पंडाजी हाथ मे सिन्दूर पुती हनुमानजी की मूर्ति लिए दक्षिणा वसूलते। यह समय हर किसी के रोजगार का समय था।

पिछले साल जिस फुलकिया बैहार के जंगली मैदान से शाम होते ही लौटने मे डर लगता था, अबकी बार उसी की यह आनन्द से खिली मूर्ति देखकर तबीअत बाग-बाग हो गई। चारों तरफ बालक-बालिकाओं की खुशी की किलकारी, कलरव, सस्ते भोपू की पो-पों, झुनझुने की आवाज, नाचवालों के घुँघरुओं की ध्वनि—मानो बैहार-भर में एक विशाल मेला लग गया हो।

बैहार की आबादी भी बहुत बढ गई थी। रातो-रात वहाँ न जाने कितने झोपडे और छप्पर वाले घर खड़े हो गए। घर बनाने मे यहाँ खास कोई लागत नही लगती। कसाल, झाऊ या केद की लकड़ियाँ तो जंगल से मिल ही जाती है। कसाल बाँट कर रस्सी बन जाती है, काफी मजबूत रस्सी, और मेहनत तो लोग-बाग खुद ही कर लेते हैं।

तहसीलदार ने आकर कहा—"बाहर से जो लोग आकर यहाँ पैसे पैदा कर रहे है, उनसे जमींदार का लगान अद करना चाहिए। आप

बाजाब्ता दफ्तर लगाएँ, मै एक-एक करके सब को आपके सामने हाजिर करूँगा। आप जैसा भी उचित समझे, उसी हिसाब से कुछ लगान बाँध दें।'

इस सिलसिले मे कितने ही प्रकार के आदमी देखने का सुयोग मिला। सुबह से दस बजे तक और तीन बजे से शाम तक रोज कचहरी करता।

तहसीलदार ने बताया—"ये लोग यहाँ ज्यादा दिनो तक नही रहेगे हुजूर! फसल तैयार होने पर खरीद-बिक्री खत्म हुई नही कि ये चलते बनेगे। इनसे लगान पहले ही वसूल कर लेना पड़ेगा।"

एक दिन मैने एक मारवाड़ी महाजन को खलिहान मे अनाज तौलते देखा। मुझे ऐसा लगा कि ये भोले रैयतों को तौल मे ठगा करते है। मैने पटवारी-प्यादों से उनके बाटों की जाँच करने को कहा। फिर क्या था, रोज वे दो-चार महाजनो को मेरे सामने पकड़ कर लाने लगे। किसी के बाट गलत थे, तो किसी की तराजू में जालसाजी थी। मैने वैसे लोगों को इलाके से बाहर निकलवा दिया। कम-से-कम मेरे यहाँ तो गरीबों की इतनी मसक्कत की कमाई को लोग न लूटें, इसी खयाल से मैने ऐसा किया था।

और केवल ये महाजन ही क्यो, देखा, बहुत तरह के लोग इन्हे लूट खाने के लिए घात लगाए बैठे रहते है।

नकद कारोबार तो यहाँ बहुत ही कम होता था। फेरीवालों से इन्हे कुछ लेना होता, तो ये बदले मे सरसों देते और बहुत ज्यादा सरसो दे देते, खासकर औरते। इनकी औरते बडी सीधी और सरल होतीं, उन्हें झूठ-सच बताकर एक का चार वसूल कर लेना बहुत ही आसान काम था।

मर्द लोग भी पक्के दुनियादार नही थे। वे विलायती सिगरेट खरीदते, जूता-कुरता लेते। फसल की कीमत घर आते ही उनके और औरतो के दिमाग फिर जाते। औरते रंगीन कपडो, काँच और एनामेल के बर्त्तनों की फरमाइश करती। हलवाई के यहाँ से लड्डुओ के दौने-पर-दौने जाने लगते। नाच-गीत मे ही वे न जाने कितने पैसे फूँक देते। ऊपर से रामजी और हनुमानजी की दंडवत ! उसके सिवाय जमीदार और महाजन के अमले अलग। मैने यह देखा कि घोर जाड़े की रातें जग-जग कर, बनैले सूअर

और भैंसो के उत्पात से बड़े-बड़े कष्टो से बचाकर, बाघ और साँप के खतरे में अपनी जिन्दगी डाल कर साल-भर मे ये जो भी कमाते, उसे इन पन्द्रह दिनों मे उड़ा देने में इन्हे कुछ नहीं खलता। मजे मे फूँक देते।

एक ही अच्छी बात मुझे इनमे दीखी कि ये लोग ताडी या शराब नहीं पीते थे। नशे का रिवाज भूमिहार या गगोतों मे नही था। हाँ, भंग इनमें से बहुत-से लोग पीते थे। मगर भंग खरीदने की इन्हे जरूरत नही थी; लवटोलिया और फुलकिया बैहार में भंग का जंगल था, उसी के पत्ते ये लोग नोच लाते थे। कौन देखता है?

मुनेश्वरसिंह ने एक दिन खबर दी—"लगान देने के डर से एक आदमी भागा जा रहा है। हुक्म हो, तो उसे पकड़वा मँगाएँ।"

मुझे अचरज हुआ—"दौड़ कर भागा जा रहा है?"

—"घोडे की तरह बेतहाश भागा जा रहा है हुजूर! अब तक तो बड़े कुंड को पार करके जंगल के किनारे जा पहुँचा होगा।"

मैंने उस धूर्त को पकड़ लाने का आदेश दिया। कोई घंटे-भर में चार-पाँच आदमी मिलकर उसे मेरे सामने ले आए।

उस पर नजर जो पड़ी, तो मेरे मुँह से बोल न निकला। साठ से कम तो किसी हालत में उसकी उम्र न होगी। सारा सिर सफेद हो गया था, गाल की खाल सिकुड़ गई थी। देखकर ऐसा लग रहा था, जाने कब से उसे दाना नही नसीब हुआ। यहीं शायद उसे बहुत दिनों के बाद भरपेट खाने को मिला था।

पता चला, वह 'माखनचोर नटुआ' बनता था। इन्हीं दिनों में उसने बहुत पैसे कमाए थे। वह ग्रांट साहब के बरगद के नीचे झोंपड़े में रहता था। इधर कई दिनों से प्यादों ने लगातार तकाजे किए, क्योंकि फसल तैयारी का समय बीत चला था। उसने आज ही पैसे चुकाने का वायदा किया था। दोपहर को एकाएक प्यादों को खबर मिली कि वह अपना बोरिया-बधना समेटे नौ-दो-ग्यारह हो रहा है। मुनेश्वरसिंह सुराग लेने निकला। देखा—वह तो बैहार पार कर चुका है। पूर्णियाँ की तरफ

रवाना हो गया है। इसे देखते ही उसने दौड़ लगाई। बाद में जो हुआ, वह सामने है।

मुझे प्यादों के बयान पर जरा सन्देह हुआ। सन्देह यह कि 'माखन-चोर नटुआ' के मानी तो हुए बालकृष्ण, भला यह बुड्ढा कैसे बनता होगा? फिर यह झुलझुल बुड्ढा बेतहाशा दौड़ भी कैसे रहा होगा?

मगर सबने हलफ उठाकर बताया कि बात सही है। मैंने उससे कड़क कर पूछा—"तुमने यह दगाबाजी की बात कैसे सोची? तुम्हें पता नहीं था कि जमींदार का लगान भी देना पड़ता है? क्या नाम है तुम्हारा?"

हवा के झोंके से ताड़ का सूखा पत्ता जैसे काँपता है, भय के मारे वह वैसा ही काँप रहा था। फिर प्यादे तो एक की ग्यारह करने वाले, पकड़ लाने को कहो तो बाँध लाए। मैं समझ गया कि इस बूढे से उन लोगों ने भद्र और नम्र व्यवहार बिल्कुल नहीं किया। उसकी हालत ही यह बता रही थी।

उसने काँपते हुए अपना नाम बताया दशरथ।

—"जात? घर कहाँ है?"

—मैं भूमिहार ब्राह्मण हूँ हुजूर। घर मुंगेर जिला पड़ता है—साहबपुर कमाल।"

—"तुम आखिर भाग क्यों रहे थे?"

—"जी नहीं हुजूर, भागूँ क्यों भला?"

—"खैर, लगान दे दो।"

—"कुछ बचा नहीं हुजूर, लगान कहाँ से दूँ? नाच दिखाकर सरसों मिली थी। उसी को बेंचकर खाना-खूराक चलाता रहा। हनुमानजी की किरिया।"

प्यादों ने कहा—"सरासर झूठ हुजूर, इसकी बातों में न आएँ। पैसे इसने खासे कमाए हैं और इसके पास ही में हैं। आज्ञा हो, तो तलाशी लें इसकी?" उसने हाथ बाँधकर, गिड़गिड़ा कर कहा—"हुजूर, मैं खुद ही बताए देता हूँ कि मेरे पास कितने पैसे हैं।"

उसने कमर में से एक बटुआ निकाल कर उँड़ेल दिया और बोला—"देख ले हुजूर, कुल तेरह आने पैसे हैं। अपना कोई नही है, मुझे दे भी कौन? खलिहानो मे नाच दिखा-दिखा कर जो थोड़ा-सा जोड़ लिया है, बस। अब जब तक गेहूँ नही कटते, तब तक यही संबल है। गेहूँ कटने के अभी तीन महीने हैं। कमाई से दो मुट्ठी खाने भर को मिल जाता है। प्यादे लगान के आठ आने माँग रहे थे। फिर तो मेरे पास सिर्फ पाँच ही आने रह जाते हैं। इन पाँच आनों पर तीन महीने कैसे कटेंगे हुजूर?"

मैंने कहा—"हाथ मे तुम्हारे जो पोटली है, उसमे क्या है, निकालो।"

उसने पोटली खोलकर दिखाई। उसमे से निकला टीन में मुड़ा एक छोटा-सा आईना, पन्नी का मुकुट—मोरपंखीवाला, गाल रँगने का रंग, नकली मोती की माला—सारे ही सामान उसके कृष्ण बनने के थे।

वह कहने लगा—"बाँसुरी तो है ही नही हुजूर। टीन की भी एक बाँसुरी लूँ, तो आठ आने से कम की नही आती। यहाँ तो मैंने सरपत की बाँसुरी से ही काम चलाया। ये गंगोते हैं, इनकी आँखों मे धूल झोंकना आसान है; मगर हमारे मुगेर के लोग बडे इल्मवाले है, बाँसुरी न रहे तो हँसेंगे और पैसे न देंगे।'

मैंने कहा—"खैर, लगान नही दे सकते, तो उसके बदले मे तुम नाच ही दिखा जाओ।"

बूढ़े को मानो मुट्ठी मे स्वर्ग मिल गया। उसने साज-सिंगार किया—मुँह मे रग मला, माथे में मोरपंखेवाला मुकुट पहना और फिर जब वह बारह साल के बालक-जैसी भाव-भंगिमा दिखाता हुआ नाचने और गाने लगा, तो मै सोच न सका कि हँसूँ या रोऊँ।

मेरे प्यादे मुँह पर कपड़े डाल कर हँसी रोक रहे थे। यह 'माखन-चोर नटुआ' का नाच उनकी निगाह मे एक जानमारू तमाशा हो गया। सामने रहे मैनेजर बाबू, उनके सामने न तो जी खोलकर हँसते बन रहा था, न हँसी का दुर्दम आवेग दबाए दब रहा था। बुरा हाल था सब का।

ऐसा अजीब नाच मैंने अपने जीवन में नही देखा था। साठ साल का

बूढ़ा बालक की तरह कभी तो रूठ कर मुँह फुलाए जननी यशोदा से दूर हट जाता, कभी भर-पेट हँसकर चुराए हुए मक्खन को साथियों मे बाँटता; चूँकि यशोदा ने उसके हाथ बाँध दिए, इसलिए कभी आँखे पोंछता हुआ सिसक-सिसक कर रोता। यह सब देख कर हँसते-हँसते उनके पेट मे बल पड़ गए। सचमुच ही देखने की चीज थी वह नाच।

बूढ़े का नाच खत्म हो गया। मैंने तालियाँ पीटी और उसकी भरपूर प्रशसा की। कहा—"दशरथ, अपनी जिन्दगी मे मैंने ऐसा नाच नही देखा, बड़ा ही अच्छा नाचते हो तुम। जाओ तुम्हारा लगान माफ कर दिया गया और ये दो रुपए मेरी तरफ से लो, बख्शीश। वाह, खूब नाच दिखाया!"

दस-बारह दिन के अन्दर-अन्दर फसल की खरीद-फरोख्त खत्म हो गई। जो जहाँ से आए थे, चले गए। केवल वे जोतदार लोग ही रह गए, जिन्होंने यहाँ घर बना लिया था। जो दूकानें आई थी, उठ गई। नाचवाले, फेरीवाले कही और चले गए रोजगार की तलाश में। जो कटाई करने वाले अब तक इन नाच-तमाशों के लुत्फ उठाने को ही रुक गए थे, उन्होंने भी कूच करने की तैयारी कर ली।

[दो]

एक दिन टहल कर लौटते समय मै नकछेदी तिवारी के झोंपड़े में उससे मिलने गया।

साँझ हो चली थी। दूर-दूर तक फैली हुई फुलकिया बैहार की हरी वन-रेखा मे सूरज का लाल गोला डूब रहा था। यहाँ का सूर्यास्त, खास तौर से जाड़े के मौसम मे ऐसा सुन्दर और अपूर्व होता कि बहुत बार मै महालिखारूप के पहाड़ पर जाकर इस अद्भुत दृश्य को देखने की प्रतीक्षा मे बैठा रहता।

नकछेदी तुरन्त खडा हो गया और कपाल तक हाथ ले जाकर मुझे सलाम करके बोला—"अरी मंची, बाबू साहब के बैठने के लिए कुछ बिछा दे।"

नकछेदी के यहाँ एक प्रौढा स्त्री थी, वह उसकी स्त्री होगी, ऐसा अनु-मान कर लेना स्वाभाविक था , मगर वह हमेशा बाहर के ही काम-काजों मे जुटी रहती। लकडी काट लाना, भीमदास टोले के कुएँ से पानी भर लाना——यही सब काम थे उसके। मची उस लडकी का नाम था, जिसने उस दिन मुझे जंगली हाथी का किस्सा सुनाया था। उसने मेरे लिए कसाल की बुनी एक चटाई लाकर डाल दी। और गर्दन हिला-हिला कर अपनी दक्खिनी बिहार की ‘ छिकाछिकी ’ भाषा के सुन्दर लहजे मे बोली—— “ बैहार का मेला कैसा लगा बाबूजी ? मैंने कहा था कि तरह-तरह के नाच-तमाशे आएँगे, तरह-तरह की चीजे आएँगी, देख लिया न आपने ? बहुत दिनो के बाद आए आप, बैठिए। हम तो अब जाने ही वाले है यहाँ से। ”

मै झोपडे के सामने अधसूखी घास पर चटाई खीच कर बैठा, जिससे ठीक सामने से सूर्यास्त को देख सकूँ। चारो तरफ के जगल पर एक हलकी रगीन आभा पड रही थी——सारे बैहार मे फैली थी एक अवर्णनीय शाति, नीरवता।

मची को उत्तर देने मे शायद जरा देर हो गई मुझे। न जाने उसने फिर मुझसे क्या पूछा। उसकी ‘ छिकाछिकी ’ पूरी तरह समझ में नही आती थी, सो मैंने एक दूसरे प्रश्न से उसे दबाने की कोशिश करते हुए कहा—— “ तुम लोग कल ही जा रहे हो ? ”

——“ जी हाँ। ”

——“ कहाँ ? ”

——“ पूर्णियाँ-किसनगंज। ”

वह फिर बोली——“ नाच-तमाशा कैसा लगा आपको ? अब की बार तो खासे अच्छे-अच्छे गाने वाले आए थे। एक दिन झल्लू टोले के उस बड़ी बकाईन के नीचे बैठकर एक आदमी ने मुँह से ही ढोलक बजाई थी। सुनी थी आपने ? बड़ी बेहतरीन बजाई थी। ”

मैंने गौर किया——मंची को नाच-तमाशे मे महज बच्चों-जैसा मजा

आता ह। उसने खुशी और उत्साह के मारे जो-जो देखा था, सब सुनाना शुरू कर दिया।

नकछेदी बोला—"रहने भी दे अपना पचडा, बाबूजी कलकत्ता रहते है, तुझसे बहुत-बहुत ज्यादा देखा है इन्होंने। इसे ये नाच-तमाशे बहुत पसन्द है बाबूजी, इसी के लिए तो हम लोग यहॉ अब तक रुक गए थे। इसने कहा—'यह सब कुछ देख लेगे, फिर चलेगे।' निहायत बचपना है इसमे अब भी।"

आज तक मैने पूछा नही था कि मची नकछेदी की कौन होती है, सोचता था, लडकी ही होगी। अभी जो उसने कहा, तो फिर कोई सन्देह ही नहीं रह गया।

मैने पूछा—"तुमने अपनी बेटी को ब्याहा कहाँ है?" नकछेदी ताज्जुब से बोला—"बेटी! मेरे बेटी कहॉ हुजूर?"

—"और यह मची? मंची तुम्हारी बेटी नही है?"

मेरी बात पर सबसे पहले मंची खिलखिला कर हँस पड़ी। नकछेदी की प्रौढा स्त्री भी मुँह मे अँचरा डाले झोपड़े के अन्दर चली गई।

नकछेदी अपमानित-से स्वर मे बोला—बेटी क्या हुजूर? यह तो मेरी दूसरी बीबी है!"

मैने कहा—"ओह!"

फिर कुछ देर सभी चुप रहे। मै तो ऐसा अप्रतिभ हो गया कि क्या कहूँ, कोई बात ढूँढे न मिलने लगी।

मंची ने पूछा—"आग जला दूँ, जाडा बहुत है।"

जाडा सचमुच ही ज्यादा था। चक्का अस्त होते-होते जैसे हिमालय टूट पड़ता था। पूरब के आकाश का निचला भाग सूर्यास्त की आभा से रँग गया था, ऊपर घना नील।

झोंपड़े से जरा दूर पर कसाल की झाड़ी थी, मंची ने उसमे आग लगा दी। झाड़ी धाँय-धाँय करके जल उठी। हम लोग उसी जलती हुई झाड़ी के पास जा बैठे।

नकछेदी ने कहा—"अभी निहायत बच्ची है हुजूर, चीजें खरीदने का झोंक तो बेहद है इसे। यही समझिए कि मजूरी की कोई आठ-दस मन सरसों मिली थी इस बार। उसमे से तीन मन तो इसने शौक की चीजें खरीदने मे ही खत्म कर दी। मैंने कहा—'इतनी मसक्कत की कमाई तू इन चीजो मे क्यो बर्बाद करती है ?' औरत की जात, सुनती नही। रो पड़ती है, आँसू बहाने लगती है। लाचार कह देता हूँ—'लो बाबा, लो'।"

मैंने मन-ही-मन सोचा, जवान बीबी के बूढे पति के लिए इसके सिवाय दूसरा चारा भी क्या है ?

मंची ने कहा—"क्यो, मैंने तो कह दिया है कि गेहूँ की कटाई के समय मेले मे मैं कुछ भी न लूँगी। उम्दा चीजें कुछ सस्ती मिल गईं—"

नकछेदी ने नाराज होकर कहा—"सस्ती मिली ? काइयाँ दूकान-दार और फेरीवालों ने बेवकूफ औरत समझ कर ठग लिया है तुझे—सस्ती मिल गई है ? पाँच सेर सरसों मे एक कंघी दी है बाबूजी। पिछले साल तिरासी रतनगज के खलिहान में—"

मची ने कहा—"खैर, मैं चीजें ही आपके सामने ले आती हूँ बाबूजी, आप ही बताएँ, सस्ती मिली है या नही—"

और वह लपक कर झोपड़े मे गई और कसाल की एक बन्द पिटारी लेकर बाहर आई। उसमे से एक-एक चीज निकाल कर मेरे सामने करीने से रखने लगी।

—"यह रही कंघी। कितनी बडी है ! ऐसी कंघी क्या पाँच सेर सरसों से कम मे भी मिल सकती है ! जरा रंग तो देखिए, कितना उमदा है इसका ! मजे की चीज है न बाबूजी ! यह साबुन है, कितनी बेहतरीन खुशबू है इसमे ! इसकी भी पाँच सेर सरसों ली थी। आप ही कहे, सस्ती है या नहीं ?"

सस्ती कहाँ थीं चीजे ? ऐसा रद्दी साबुन, कलकत्ता मे एक आने से ज्यादा नहीं लगेगा एक टिकिया का और पाँच सेर सरसों की कीमत सस्ती

भी हो, तो साढे सात आने से कम नही। असल में ये गँवई औरते चीजों की कीमत तो जानती नही, जो चाहे, इन्हे आसानी से ठग सकता है।

मची ने और भी बहुत-सी चीजें दिखलाईं, खुशी से कभी यह, तो कभी वह, दिखाने लगी। जूडे की कीले, नकली पत्थर की अँगूठी, चीनी मिट्टी के खिलौने, एनामेल की तश्तरी, लाल फीते—ऐसी ही चीजे। औरतों की प्रिय वस्तुओं की सूची सभी जगह , सभी समाज मे प्राय एक ही-सी होती है। गँवई मची और उसकी पढ़ी-लिखी बहनों मे ज्यादा फर्क नही। चीजों के सचय और उन पर अधिकार करने की प्रवृत्ति दोनों की ही प्रकृति-प्रदत्त है। बूढा नकछेदी गुस्सा भी हो तो क्या हुआ?

मगर मुझे इसकी थोडे ही खबर थी कि दिखाने लायक जो सबसे बेहतरीन चीज थी, उसे आखिर मे दिखाने के लिए मंची ने दबा रक्खा था!

अब उसने उसी चीज को नाज-भरे आनन्द आग्रह के साथ मेरे सामने रख दिया—वह थी नीले-पीले हिलाज की एक माला।

उसके चेहरे पर खुशी और गर्व की देखने लायक हँसी निखर आई। अपनी पढी-लिखी दूसरी बहनो की तरह उसने मन के भावो को छिपाना तो सीखा नही था, सो इन सारी मामूली चीजो के अधिकारजनित उच्छ्वसित आनन्द मे एक निर्मल और बनावट-विहीन नारी-आत्मा झाँकने लगी। हमारे सभ्य समाज मे नारी-मन की ऐसी स्वच्छ अभिव्यक्ति देखने का सुयोग शायद ही मिलता हो।

—"अच्छा बताइए तो, ये सब चीजें कैसी है?"

—"निहायत अच्छी!"

—"क्या कीमत हो सकती है इसकी? आप लोग कलकत्ता मे पहनते तो होगे इसे?"

कलकत्ता में इसके व्यवहार की हमे जरूरत नही पड़ती, कोई नही पहनता, फिर भी मुझे लगा, ज्यादा-से-ज्यादा भी होगा, तो इसका दाम छै आने से हर्गिज अधिक न होगा। मैंने पूछा—"कितना लिया उसने, सो बताओ।"

—"सत्रह सेर सरसों। इसमे बाजी मेरी रही कि नही ?"

वह बेतरह ठगी गई है, अब यह बताने से लाभ क्या था ? ऐसा ही होता है। नाहक ही नकछेदी की झिडकियाँ खिलाकर उसके मन की इस अनोखी खुशी को बर्बाद करने की मुझे क्या गरज पडी थी।

दरअसल यह सब कुछ मेरी ही अनभिज्ञता की बदौलत संभव हो सका है। मुझे चाहिए था कि फेरीवालो के दर-दाम का खास खयाल रक्खूँ। लेकिन मै था नया, यहाँ की इन बातो की मुझे जानकारी भी क्या थी ? मुझे तो इतना भी मालूम नही था कि फसल तैयार होते समय ऐसा मेला लगता है ! आइदा ऐसी धाँधली न हो, इसका प्रबन्ध करने का मैने निश्चय कर लिया।

दूसरे दिन सबेरे नकछेदी अपनी दोनो स्त्रियों और बाल-बच्चो के साथ यहाँ से चला गया। जाने से पहले लगान चुकाने के लिए वह मेरे झोंपडे मे आया था, साथ मंची भी आई थी। मैने देखा—मंची के गले में वही माला है। उसने मुस्कुराकर कहा—"भादों मे मकई काटने को फिर आऊँगी बाबूजी। आप रहेगे तो ? हम जंगली बहेडे का अचार डाला करते है—आपके लिए मै लेती आऊँगी !"

मंची मुझे अच्छी लगी थी। उसके चले जाने से मै दुखी हुआ।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

[एक]

अबकी बार मुझे एक अजीब जानकारी प्राप्त हुई।

खबर मिली कि मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट से दक्खिन में पन्द्रह-बीस मील पर सखुए और बीडी के पत्ते का बडा-सा जगल कलक्टरी से नीलाम किया जायगा। मैंने अपने हेड आफिस को इसकी सूचना दी। तार द्वारा आदेश मिला, जैसे भी हो, उस जंगल को नीलामी मे बडी-से-बड़ी बोली बोल कर ले लो।

लेने के पहले जंगल को एक बार अपनी आँखो से देखना जरूरी था। क्या है, नही है—यह जाने बिना बोली बोलना मुझे मजूर नही था। नीलाम की तारीख भी समीप थी, सो तार पाने के दूसरे ही दिन मै वहाँ से चल पडा।

मेरे कुली वगैरह मेरा सामान लेकर पहले ही चल पडे थे। मोहनपुरा की हद पर कारो नदी पार करते समय उनसे भेट हो गई। साथ मे बनवारी लाल पटवारी था।

पतली-सी पहाडी नदी। घुटने-भर पानी पत्थरो पर से झिर-झिर कर बह रहा था। हम दोनों घोड़े पर से उतर पडे। पत्थरों पर घोडे के फिसलने का खतरा था। दोनों किनारों पर बालू के ऊँचे कगारे थे। उन पर भी घोड़ो से चढ़ते नही बनता था—घुटने तक वे बालू मे डूब जाते। जब तक मै उस पार की सख्त समतल जमीन पर पहुँचा, दिन के ग्यारह बज रहे थे। बनवारी पटवारी बोला—"रसोई यही बन जाती, तो अच्छा था हुजूर, आगे पता नही, पानी मिलेगा भी कि नही।"

नदी के दोनों किनारो पर जनहीन जगल था। यही गनीमत थी कि जंगल बड़ा नहीं था, छोटे-छोटे केद, पलास और सखुए के पेड चट्टानो की भरमार, आबादी का कही नामोनिशान भी नही।

भोजन का काम जल्दी ही खत्म कर लिया गया, लेकिन फिर भी वहाँ से रवाना होने मे मुझे एक बज गया।

बेला खत्म होने को आई, मगर जगल का फिर भी खात्मा नही हो रहा था। मेरे जी मे आया—'और आगे जाने की बेकार कोशिश न करके किसी बड़े पेड के नीचे पडाव डाल देना ही बेहतर है।' बीच मे दो जगली बस्तियाँ मिली जरूर थी, एक कुल पाल और दूसरी बुरुडि ; लेकिन उस समय दिन के लगभग तीन बजे थे। अगर यह मालूम होता कि शाम तक इस जंगल का अन्त नही होने का, तो रात वही बिताने की सोची जाती।

शाम होते-होते जगल और भी घना मिलने लगा। पहले जरा छिछला-छिछला-सा था, अब ऐसा मालूम होने लगा, मानो चारों तरफ से बडे-बडे पेड़ों की भीड ने पतली पगडडी को दबोच दिया हो। अभी-अभी जहाँ मै खड़ा हूँ, वहाँ चारो तरफ ऊँचे-ऊँचे पेड खडे है, आसमान नही दिखाई पडता, रात का अँधेरा अभी से ही घनीभूत हो उठा।

कही-कही जगल की शोभा देखने ही योग्य थी ! जाने कौन-से सफेद फूलो के गुच्छों से जंगल प्रकाशित हो उठा था। नीले आसमान के नीचे छाया-सघन अपराह्न मे ये फूल वन के माथे पर निखर आए थे, मनुष्य की नजरों की ओट मे सभ्य जगत् से दूर। पता नही, यह इतना सौन्दर्य किसके लिए बिछाया गया था ! बनवारी ने बताया—'यह जंगली तेउडी के फूल है—इसी समय खिलते है।' जिधर देखता, उधर ही पेडो और झाडियो के ऊपर नीलापन लिये तेउडी के श्वेत फूलो ने अपनी शोभा बिखेर रखी थी, जैसे किसी ने धुनी हुई नीलाभ रुई पेडो पर बिखेर दी हो। पता नही घोडे को रोक कर वहाँ कितनी देर तक रुका रहा गया। कही-कही की शोभा ऐसी अद्भुत थी कि देख कर मन अजीब-सा हो उठता था। लगता, जाने कहाँ आ गया हूँ, कितनी दूर, सभ्य संसार से बहुत दूर किसी जन-विहीन अजाने जगत् की उदास और अनुपम वन्य-सुषमा के बीच, जिससे मनुष्य का कोई सम्बन्ध ही नही, और न ही मनुष्यों को वहाँ प्रवेश करने का अधिकार है, जो सिर्फ जीव-जन्तु और पेड-पौधों की ही दुनिया है।

बार-बार अवाक् होकर जंगल के दृश्य देखते रहने के कारण शायद और भी देर हो गई। बनवारी मेरे मातहत काम करता था, लिहाजा वह मुझे कुछ कह तो सकता नही था, लेकिन वह भी जरूर अपने मन में यही सोच रहा होगा कि 'इन बगाली बाबू के दिमाग का कोई पुर्जा जरूर खराब है। इनसे जमीदारी का काम-धाम भला कब तक चल सकेगा?' आखिर हम एक बड़े-से आसन पेड़ के नीचे ठहर गए। सब मिलाकर हम, आठ दस आदमी थे। बनवारी ने कहा—"काफी आग जला ले और सब पास-पास रहे। बिखर कर कोई न रहे, बहुत तरह का खतरा है।"

मै कैप-चेयर डाल कर बैठा। ऊपर दूर तक फैला हुआ खुला आकाश, अभी तक अँधेरा तरा नहीं था; दूर, पास तमाम जंगल मे तेउडी के सफेद फूलो का मेला, ढेरों फूल, अनगिनती! मेरी कुर्सी के पास ही सुनहले रग की अधसूखी और लम्बी-लम्बी घास थी। धूप से तपी मिट्टी की सोंधी गंध, सूखी घास की गध, किसी अनचीन्हे वनफूल की गंध—जैसे दुर्गा-प्रतिमा के रॉगे के साजो की बू हो! इस उन्मुक्त और वन्य जीवन ने मेरे मन मे मुक्ति और आनन्द की अनुभूति भर दी—वह अनुभूति, जो ऐसे विराट् सूने प्रातर और मानवहीन स्थान के सिवाय और कही नही आ सकती। अपना अनुभव न हो, तो किसी को मुक्त जीवन का वह उल्लास समझा सकना कठिन है।

इतने मे एक कुली ने आकर पटवारी से कहा कि वह सूखे डाल-पत्ते बीनने के लिए जरा दूर निकल गया था, वहाँ उसने कोई चीज देखी। यह जगह अच्छी नही, भूत या परियो का अड्डा मालूम होता है; यदि यहाँ पडाव न ही डाला जाता तो अच्छा था।

पटवारी ने कहा—"हुजूर, जरा चलकर देख ही आएँ कि क्या है।"

जंगल मे थोडी दूर तक चलकर कुली ने दूर से वह जगह दिखाकर कहा—"हुजूर वहॉ जाकर देखे, मै तो और आगे नही जा सकता।"

कँटीली लताओ की झाडी मे एक स्तम्भ पर भयानक-सा चेहरा खुदा था। साँझ को उसे देखकर डर जाना स्वाभाविक ही था।

वह चेहरा हाथ का बना हुआ बेशक था, मगर मै समझ नही सका कि इस घोर जंगल मे यह स्तम्भ आया कहाँ से। यह भी नहीं समझ सका कि यह है कितना पुराना।

आखिर ज्यों-त्यों करके रात बीती। सुबह के नौ बजे तक हम अपनी जगह पहुँच गए।

वहाँ जंगल के मालिक के एक कर्मचारी से भेट हुई। उसने मुझे जंगल दिखाना शुरू किया। अचानक एक सूखे नाले के उस पार पत्थर के खभे की चोटी झाँक उठी, ठीक वैसा ही स्तम्भ, जैसा कल शाम को देखा था। इसमे भी वैसी ही एक भयानक आकृति खुदी हुई थी।

बनवारी मेरे साथ था। उसे भी मैंने दिखाया। कर्मचारी उसी इलाके का रहने वाला था। उसने बताया—इस इलाके मे ऐसे और भी चार-पाच स्तम्भ है। इधर पहले असभ्य जगली जातियो का निवास था। यहाँ राज्य भी इन्ही का था। ये स्तम्भ उन्ही के हाथो के बने है। ये है सीमा-निर्देशक खंभे।

मैंने पूछा—"तुमने यह कैसे जाना कि ये खंभे है?"

वह बोला—"सदा से यही सुनता आ रहा हूँ बाबूजी। इसके सिवाय उस राजा के वंशधर अभी तक जीवित है।"

मुझे वडा कौतूहल हुआ। पूछा—"कहाँ है?"

उसने उँगली से दिखाते हुए कहा—"इस जगल की उत्तरी सीमा पर एक छोटी-सी बस्ती है, वही। हमने तो सुना है कि उत्तर मे हिमालय, दक्खिन मे छोटानागपुर की सीमा, पूरब में कोसी नदी और पच्छिम मे मुगेर—इस चौहद्दी के अन्दर के सभी पहाडी जंगलों के राजा इन्हीं के पुरखे थे।"

स्कूल मास्टर गनौरी तिवारी ने भी मुझसे एक बार यही कहा था कि यहाँ के आदिम जातीय राजा के वंशधर अभी भी जीवित है। इधर की पहाडी जातियों के सभी लोग अभी भी उन्हें राजा मानते है। मुझे वह बात याद आ गई। जंगल वाले कर्मचारी का नाम तो था

बुद्धूसिह , किन्तु वह बहुत होशियार था। बहुत दिनो से यहाँ काम कर रहा था ; वह यहाँ के जंगल-पहाडों की अच्छी जानकारी रखता था।

बुद्धूसिह ने बताया—"मुगलों के जमाने मे इन लोगों ने उनसे लडाइयाँ लडी थीं। इधर से जब उनकी सेना बंगाल को जाती थी, तब ये लोग तीर-कमानो से उन्हें रोका करते थे। आखिरकार जब राजमहल मे मुगल सूबेदार रहने लगे, तब इन लोगों की रियासत चली गई। बडे बहादुर थे ये। अब तो कुछ रहा नही। रहा-सहा भी जो था, सो सन् १८६२ के संथाल-विद्रोह मे जाता रहा। उस विद्रोह के नेता अभी जीवित है। वही वर्तमान राजा है। नाम है उनका दोबरू पन्ना वीरवर्दी। बहुत बूढे हो गए है और बडे ही गरीब है। इतना होने पर भी यहाँ की आदिम जातियाँ उन्हें राजा का ही सम्मान देती है। राज-पाट न होते हुए भी सब उन्हें राजा ही मानते है।"

राजा से मिलने की मुझे बडी उत्कंठा हुई।

राजा के दर्शनो के लिए योग्य भेट की जरूरत थी। जिसका जो प्राप्य सम्मान है, वह न दो तो कर्त्तव्य की हानि होती है।

एक बजते-बजते पास के गॉव से मैंने कुछ फल-मूल और दो बडे-बडे मुर्गे खरीद लिये। यहाँ का जो काम-काज था, उसे समाप्त किया और लगभग दो बजे मैंने बुद्धूसिह से कहा—"चलो, जरा राजा से मिल आएँ।"

बुद्धूसिह मे मुझे वैसा उत्साह नही दिखा। वह बोला—"आप जायँगे वहाँ? आपसे मिलने लायक नही है वह। असभ्य पहाडियों के राजा है सही, तो क्या आपसे बराबरी की बात करने योग्य हो सकते है बाबूजी? कोई खास बात नही।"

मैंने उसकी अनसुनी कर दी। मै और बनवारीलाल राजधानी की तरफ चले। उसे भी अपने साथ ले लिया।

राजधानी एक निहायत मामूली बस्ती, बीस-पच्चीस घर के लोगों की आबादी थी वह।

मिट्टी के छोटे-छोटे घर, खपडापोश। खूब साफ-सुथरे—लिपे-पुते। दीवारों पर साँप, कमल, लताएँ बनी। छोटे-छोटे बच्चे खेल-कूद मे मश-गूल थे, औरते घर के काम-धंधे करती थी। युवतियों के बदन की खूब-सूरत बनावट, अच्छी तनदुरुस्ती, प्रत्येक के चेहरे पर कितना सुन्दर लावण्य! सब हम लोगों की तरफ अवाक् देखते रहे।

एक स्त्री से बनवारीलाल ने पूछा—"राजा छै रे?"

उसने जवाब दिया—"मैंने देखा तो नही, मगर घर ही होंगे, जायँगे कहाँ?"

[दो]

बस्ती में जहाँ हम सब जाकर रुके, वही राजप्रासाद है, ऐसा बुद्धू-सिंह के भाव से जाहिर हुआ। गाँव के दूसरे घरो से इसमे इतना ही फर्क था कि इसके चारो तरफ़ पत्थर की चहारदीवारी थी। गाँव के पीछे ही पहाडी थी, पत्थर वहीं से लाए गए थे। राजभवन मे बच्चे बहुत थे, कई तो बहुत ही छोटे। उनके गले मे काँच के दानो की और फलो के लाल-नील बीजो की मालाएँ थी। दो-एक बच्चे देखने मे बड़े ही खूबसूरत लगे। बुद्धूसिंह ने पुकारा, तो सोलह-सत्रह साल की एक लडकी दौडकर बाहर निकली और हमे देखकर अवाक् रह गई। उसकी निगाहो से लगा कि वह डर भी गई है।

बुद्धूसिंह ने पूछा—"राजा कहाँ है?"

बुद्धूसिंह से मैंने उस लडकी के बारे मे पूछा। उसने बताया—"यह राजा के पोते की लड़की है।"

यानी राजा ने बहुत दिनों तक स्वयं जीवित रहकर बेशक बहुतेरे युवक और प्रौढ़ों को गद्दी के हक से वंचित किया है!

मानें चाहे न माने, मैंने अपने मन में सोचा कि यह जो लडकी हमें राह दिखाती चल रहीं है, वह वास्तव मे राजकुमारी है—इसके

पुरखों ने बहुत दिनों तक इस जंगली इलाके पर शासन किया है—उसी शासक-वंश की यह लडकी है।

मैंने लड़की का नाम पूछने को कहा।

बुद्धूसिंह ने बताया—"उसका नाम है भानुमती।"

—"वाह, नाम तो बडा सुन्दर है—भानुमती! राजकुमारी भानु-मती!"

भानुमती की तन्दुरुस्ती अच्छी थी, गठा हुआ शरीर। लावण्यभरा मुखमंडल। हॉ, जो कपडे वह पहने थी, वह सभ्य समाज के मानदंड के अनुरूप नही थे। सिर के बाल रूखे। गले मे कॉच और कौडी के दाने। दूर ही से एक बडी बकाईन की ओर इशारा करते हुए उसने कहा—"वहाँ जाओ, वही बाबा गाय चरा रहे है।"

'गाय चरा रहे है!' मै तो चौक पड़ा—'इलाके भर के राजा, संथाल विद्रोह के नेता दोबरू पन्ना वीरवर्दी, और गाय चरा रहे है? यह कैसी बात!'

कुछ पूछने के पहले ही भानुमती वहॉ से जा चुकी थी। हम लोग आगे बढे। देखा—बकाईन के नीचे बैठकर एक बूढा आदमी सखुए के पत्ते मे तम्बाखू भरकर पी रहा है।

बुद्धूसिह बोला—"सलाम राजा साहब!"

ऐसा लगा, दोबरू पन्ना कानों से सुन तो लेते है; पर ऑखो से भली तरह देख नही पाते।

बोले—"कौन, बुद्धूसिह? साथ मे और कौन है?"

वह बोला—"एक बगाली बाबू है, आपसे मिलने के लिए आए है। वे कुछ भेट लाए है, आपको वह भेट कबूल करनी पड़ेगी।"

मैंने बूढे के सामने खुद ले जाकर मुर्गे और फल रक्खे और कहा—"आप इस इलाके के राजा है। मै आपके दर्शनों के लिए बडी दूर से आया हूँ।"

बूढ़े की लम्बी-चौडी बनावट से ही मुझे लगा—जवानी मे दोबरू

पन्ना देखने ही लायक जवान रहे होगे। चेहरे पर बुद्धि की छाप साफ झलकती थी। वे बहुत खुश हुए। मेरी तरफ गौर से देखकर उन्होने पूछा—"आपका घर ?"

मैने कहा—"कलकत्ता !"

—"ओहहो, बड़ी दूर है। सुना है, कलकत्ता बहुत बड़ी जगह है।"

—"आप वहाँ कभी नही गए क्या ?"

—"नही-नही। हम शहर कहाँ जाते। हमारे लिए यह जगल ही ठीक है। बैठिए। भान्मती कहाँ गई, अरी ओ भान्मती !"

वह दौड़ी-दौडी आई। पूछा—"क्या है बाबा ?"

—"देखो, ये बगाली बाबू और इनके साथ के आदमी आज यहीं रहेंगे, खाएँगे-पिएँगे।"

मैने प्रतिवाद किया—"जी नही, हम तो आपसे भेट करने आए थे, तुरन्त चले जाएँगे। रहने के लिए आप....."

उन्होने कहा—"यह हर्गिज नही हो सकता। भान्मती, यहाँ से ये चीजे उठा ले जा !"

मैंने इशारा किया। बनवारीलाल भान्मती के पीछे-पीछे गया और सब चीजे पहुँचा आया। मै बूढे की बात को टाल नही सका, उन्हे देख कर ही मेरा हृदय भर आया था। संथाल-विद्रोह के नेता, पुराने अभिजात-बंश के वीर दोबरू पन्ना (आदिम जाति के ही हुए तो क्या हुआ) मुझे रहने का आग्रह कर रहे है, उस आग्रह को आदेश ही समझना चाहिए।

मैं देखते ही समझ गया था कि राजा साहब है बड़े ही गरीब। उन्हें गाय चराते हुए देखकर पहले मै चकित तो हो गया ; पर बाद में खयाल आया कि भारत के इतिहास मे इनसे भी बहुत बडे-बडे राजा परिस्थिति-वश इससे भी हीन ृत्ति करने को मजबूर हुए थे।

उन्होंने अपने हाथों से सरपुए के पत्ते का चुरुट बनाकर मुझे दिया। दियासलाई नही थी। पास ही आग जल रही थी। उसी में से एक पत्ता सुलगा कर उन्होंने मेरी तरफ बढाया।

मैंने कहा—"आप भारत के प्राचीन राजवश के है, आपके दर्शन से पुण्य होता है।"

दोबरू पन्ना बोले—"अब क्या रहा? हमारा वंश सूर्यवश है। यह पहाड-जंगल, सारी पृथ्वी अपना ही राज्य थी। जवानी में मैंने कंपनी से लडाई लड़ी थी। अब अपनी उम्र काफी हो गई। लडाई मे मै हार गया। फिर कुछ रह नही गया।

ऐसा नही मालूम हुआ कि इस जगली भूभाग के सिवा बाहरी किसी पृथ्वी की उन्हें खबर है। उनकी किमी बात का मै जवाब देने जा रहा था कि वहाँ एक युवक आकर खडा हुआ।

दोबरू ने कहा—"यह मेरा छोटा पोता है, जगरू पन्ना। इसका बाप अभी यहाँ नही है, लछमीपुर की रानी साहिबा से भेट करने गया है। अरे, जगरू, बाबू साहब के लिए खाने का इन्तजाम कर।"

नए सखुए के तने-सा जवान का बदन, उभरी हुई पेशियाँ। उसने पूछा—"आप साही का माँस खाते है?"

फिर अपने पितामह की तरफ ताक कर कहा—"कल पहाड़ के उस पार फदा डाला था, दो साही फँसे है।"

सुना, राजा के तीन बेटे, उनके आठ-दस बच्चे-बच्चियाँ है। इतने बड़े राज-परिवार के सभी लोग एक साथ इसी गाँव मे रहते है। शिकार करना और गाय चराना, यही इनकी आजीविका है। इसके सिवाय आपसी झगडे के फैसले के लिए जो पहाडी लोग आते, वे कुछ-न-कुछ भेंट अवश्य देते—दूध, मुरगी, बकरी, चिड़िया या फल-मूल।

मैंने पूछा—"खेती-बारी भी है कि नही?"

उन्होने गर्व के साथ कहा—"खेती अपने वश का कार्य नही। अपने यहाँ शिकार की इज्जत सबसे ज्यादा है, वह भी कभी भाले से शिकार करने का गर्व सबसे बडा समझा जाता था। तीर-कमान से किया हुआ शिकार देवता के काम नही आता। वह वीर का काम भी नही। लेकिन अब सभी चलने लगा है। मेरा बड़ा लडका मुगेर से एक बन्दूक

खरीद लाया है। मैंने उसे कभी छुआ तक नही। भाले का शिकार ही यहाँ शिकार है।"

भानुमती मिट्टी का बर्त्तन लेकर फिर आई।

राजा साहब बोले—"लीजिए, तेल लगा लीजिए। पास ही एक झरना है, सुन्दर झरना, उसमे नहा लीजिए।"

हम नहा कर लौटे, तो राजा ने हमे राजभवन के एक कमरे मे ले जाने को कहा।

भानुमती चावल और आलू ले आई। जगरू ने साही का माँस बना कर सखुए के पत्ते पर दिया। भानुमती दूध और शहद ले आई। मेरे साथ रसोइया नही था। बनवारी को आलू छीलने को कहा और मै चूल्हा जलाने की चेष्टा मे गया, लेकिन मोटी-मोटी लकड़ियों से चूल्हा सुलगाना बड़ा कष्टदायक था। कई बार चेष्टा की; पर मुझसे न सुलग सका। इतने मे भानुमती ने चिडिया का एक घोसला लाकर चूल्हे मे डाल दिया और आग जल उठी। फिर वह दूर हट कर खड़ी हो गई। भानुमती है तो राजकन्या, मगर खासे अच्छे स्वभाव की। बडा ही सहज और सरल मर्य्यादा-ज्ञान।

स्वयं राजा दोबरू पन्ना शुरू से आखिर तक रसोई घर के दरवाजे पर बैठे रहे, जिससे आतिथ्य मे किसी बात की त्रुटि न हो। भोजनादि कर चुकने के बाद वे बोले—"मेरे पास उतने कमरे तो है नहीं, आप लोगों को बडी तकलीफ हुई। इसी जंगल मे पहाड़ पर अपने खानदान का बहुत बडा मकान था, आज भी उसके चिह्न मौजूद है। अपने बाप-दादों के मुँह से मैंने सुना है, पुराने समय मे हमारे पुरखे वहाँ रहते थे। अब क्या वे दिन रह गए है! हमारे पुरखों द्वारा प्रतिष्ठित देवता आज भी वहाँ हैं।"

मुझे बड़ा कौतूहल हुआ। कहा—"अगर हम उसे एक बार देख आएँ, तो आपको कोई एतराज तो न होगा?"

—"एतराज किस बात का ? हाँ, असल मे वहाँ अब कुछ खास बात तो है नही। चलिए, मै भी चलता हूँ। जगरू, हमारे साथ चलो।"

मैंने आपत्ति की—बानवे साल के बूढे को पहाड पर चढाने को जी नही चाहा, मगर मेरी आपत्ति टिक नही सकी। हँस कर उन्होंने कहा—"पहाड पर तो अक्सर मुझे चढना ही पडता है। हमारे वश की समाधियाँ वही है। प्रत्येक पूर्णिमा को मुझे वहाँ जाना पडता है। चलिए, आपको वह जगह भी दिखाऊँगा।"

उत्तर पूरब के कोने से यह छोटी-सी पहाडी—यहाँ उसे धनझरी कहते है—एक जगह अचानक पूरब की तरफ घूम गई है, जिससे एक कोना-सा बन गया है। उसके नीचे है उपत्यका, इस उपत्यका मे हरियाली की तरग-सा उतर आया है जगल, जैसे पहाड पर से झरना उतरता हो। जंगल बहुत घना नही, छिछला-सा है। जगल के माथे पर दूर की क्षितिज-रेखा से लगी धुँधली शैलमाला, शायद गया या रामगढ की तरफ की हो—जहाँ तक नजर जा रही थी, जगल-ही-जगल था, कही बड़े-बड़े पेडो के ऊँचे जगल और कही सखुए और पलाश के नए पौधो के कम ऊँचे। जंगल की पतली पगडडी पकड कर हम पहाड पर पहुँचे।

एक जगह पत्थर की एक चट्टान, ढेकी के आकार की, गडी थी। उसके पास ही एक बहुत बड़े गढ़े का मुँह था, वैसा ही गढा जैसा कि कुम्हारो के बर्तन पकाने का आवा होता है, या लोमडी जमीन मे बनाती है। गढे के मुँह पर सखुए के पौधे उगे थे।

राजा दोबरू बोले—"इस गढे के अन्दर जाना होगा। डरने की बात नहीं, मेरे साथ चलिए। जगरू, तुम आगे-आगे चलो।"

जान हथेली पर लेकर मे अन्दर धँसा। बाघ-भालू का खतरा हो सकता है। यदि वह न हुए तो साँप के होने में तो कोई शक ही नही।

गढ़े मे कुछ दूर तक तो झुक कर चलना पड़ता है, तब खडे होने की गुजाइश मिलती है। पहले तो भीतर बड़ा अँधेरा लगा, पर कुछ

देर मे अभ्यस्त हो जाने पर कोई असुविधा न हुई। यह एक गुफा थी। होगी कोई बीस-बाईस हाथ लम्बी और पन्द्रह हाथ चौडी। उत्तर की दीवार मे लोमडी के गढ़े-सा एक दूसरा गढा भी था। उससे कुछ दूर आगे जाने पर शायद ऐसी ही दूसरी गुफा है ; मगर उसके अन्दर जाने की इच्छा मैंने नही जाहिर की। गुफा की छत ज्यादा ऊँची न थी। खड़ा होकर कोई भी व्यक्ति हाथ से उसे छू सकता। अजीब बू आ रही थी अन्दर। चमगादडो का अड्डा। सुना है यहाँ गीदड़ और बनबिलाव भी रहते हैं। बनवारी ने मुझसे चुपके से कहा—"हुजूर, यहाँ और ज्यादा न ठहरे, चले बाहर।"

दोबरू पन्ना के पुरखों का किला-भवन यही है!

हकीकत मे यह एक प्राकृतिक गुफा थी—पुराने जमाने मे पहाड के ऊपर की तरफ मुँह वाली गुफा मे छिप जाने से दुश्मनो से सहज ही जान बच सकती थी।

राजा ने कहा—"इसका ऐक और भी द्वार है, गुप्त द्वार। उसका पता किसी को नही दिया जाता। उसे हमारे खानदान के लोगों को छोड कर और कोई नहीं जानता। यद्यपि आज-कल इसमे कोई नही रहता, फिर भी उस नियम का पालन किया जाता है।"

गुफा से निकल कर जान मे जान आई।

थोड़ी और चढाई चढ़ने के बाद पहाड़ पर एक बहुत बडा बरगद का पेड बीघे भर तक अपनी झुरियाँ फैलाए खड़ा था।

राजा ने कहा—"कृपया जूते उतार कर चलें।"

पेड़ के नीचे, मसाला पीसने के जैसे पत्थर होते है, वैसे ही बहुत-से पत्थर वहाँ भी बिखरे पडे थे।

राजा ने बताया कि उनके वंश का समाधि-स्थान यही है। वहाँ का एक-एक पत्थर राजवंश के एक-एक व्यक्ति की समाधि का द्योतक था। बरगद के नीचे तमाम वैसी चट्टानें बिखरी पड़ी थीं। कोई-कोई समाधि बडी ही पुरानी थी। बरगद की झुरियों ने दो तरफ से उसे

नँडाम्गी की तरह जकड़ रक्खा था। और वे झुरियाँ पेड़ की जड़ों-जैसी ही मोटी हो गई थीं। कई चट्टाने तो झुरियों से बिल्कुल ढँक गई थीं। उनकी प्राचीनता इसी से समझी जा सकती थी।

राजा दोबरू ने कहा—"यह बरगद पहले यहाँ नही था। दूसरे-दूसरे पेड थे। काल-क्रम से एक नन्हे-से पौधे ने फैल कर दूसरे सभी पेडों को मार डाला। यह बरगद इतना पुराना है कि असली जड अब नहीं रही। जो झुरियाँ ऊपर से उतरी हैं, वही जड बन गई हैं। इन झुरियों को उखाड फेंके तो पता चले कि इनके नीचे ऐसे कितने पत्थर दबे पड़े है। अब आपही समझें, यह समाधि-स्थान कितना पुराना है।

वास्तव में उस पेड़ के नीचे खड़े-खड़े मेरे मन में ऐसा एक भाव जगा, जो अब तक कही नही जगा था, राजा को देख कर भी नहीं (वह तो एक बूढे संथाल से लगे), राजकुमारी को देखकर भी नहीं (किसी तन्दुरुस्त हो या मुडा तरुणी से राजकुमारी का कोई भेद नही था), और राजप्रासाद को देखकर तो बिल्कुल ही नही (वह तो साँपों का अड्डा या किसी भूतिया महल-सा लगा); मगर बरगद और उसके नीचे के जाने कितने दिनों के इस समाधि-स्थान ने मेरे हृदय मे एक अननुभूत और अपूर्व अनुभूति जगा दी।

उस जगह की गंभीरता, रहस्य और प्राचीनता का भाव अवर्णनीय है। दिन ढल रहा था, पीली धूप पत्तों, डालों और झुरियों पर, जंगल और धनझरी की विभिन्न चोटियों पर पड़ने लगी। अपराह्न की उस घनीभूत छाया ने तो मानो उस समाधि-स्थान को और भी गभीर, रहस्य-मय सौन्दर्य से मंडित कर दिया था।

मिस्र के प्राचीन राजाओं के समाधि-स्थल थिव्स के पास जो 'वैली आव दि किंग्स' है, वह आज संसार-भर के पर्यटकों की लीलाभूमि हो उठी है; उसका जितना ढोल पीटा गया है, जितना प्रचार किया गया है कि मौसम में उसके होटलों मे तिल धरने की जगह नही मिलती—'वैली आव दि किंग्स' अतीत के कुहरे से जितना अंधकाराच्छन्न नहीं

हुआ था, उतना हो जाता है सिगरेट के धुएँ से; मगर प्राचीन अनार्य राजाओ का यह समाधि-स्थल रहस्य और महिमा मे उससे किसी भाँति कम नही है, जो वन की सघन छाया मे गिरि-माला की ओट मे युग-युग से अपने को छिपाए है, सदा छिपाए रहेगा। मिस्र के धनी फेरावों की कीर्ति के समान इनके समाधि-स्थान में आडम्बर नही है, पालिस और वैभव नही है, क्योकि ये बेचारे नितान्त गरीब थे, इनकी सभ्यता और सस्कृति मनुष्य के आदिम युग की सभ्यता और सस्कृति थी। इन्होने गुफाओ मे अपना राजमहल, राजसमाधि और सीमाज्ञापक जो खभे बनाए, वे शिशु मानव के मन से बनाए। अपराह्न की छाया मे पहाड के ऊपर उस विशाल बरगद के नीचे खडे होकर मै सर्वव्यापी शाश्वत काल के दूर अतीत मे अभिज्ञता की एक नई ही दुनिया देख पाया—जिसकी तुलना मे पौराणिक और वैदिक युग भी वर्तमान के पर्याय मे आ पडते है।

मै देखने लगा—उत्तर-पच्छिम की घाटी को पार करके यायावर आर्यगण स्रोत के वेग से अनार्य आदिम जाति द्वारा शासित भारत में प्रवेश कर रहे है—भारत का जो परवर्त्ती इतिहास है, वह इसी आर्य-सभ्यता का इतिहास है—अनार्य जातियो का कही कोई इतिहास नही, और अगर लिखा भी है, तो इन्ही गुप्तगिरि-गह्वरो में, जंगलो के अन्धकार मे और टूट कर बिखरने वाली कंकाल-रेखाओ में। उन अक्षरों को पढने की विजयी आर्य-जाति को कभी चिन्ता ही नही हुई। हारे हुए अभागे आदिम लोग आज भी उसी तरह उपेक्षित और अवमानित है। सभ्यता के गर्व मे चूर आर्यो ने उनकी ओर कभी उलट कर भी नही ताका, उनकी सभ्यता को समझने की कभी कोशिश नही की और आज भी नही करते। मै और बनवारी उसी विजयी जाति के और बूढे दोबरू पन्ना, युवक जगरू और तरुणी भानुमती उस विजित, पद-दलित जाति के प्रतिनिधि है—हम दोनो ही जाति के लोग सध्या के अन्धेरे मे आमने-सामने खडे है ; सभ्यता के गर्व से ऊँची नाक लिये, आर्यकाति के गर्व से हम प्राचीन अभिजात-वंशीय दोबरू पन्ना को बूढा सथाल समझ रहे

हे, राजकुमारी भानुमती को मुडा मजदूरिन समझ रहे है ; उन्होंने जिस प्रासाद को बडे आग्रह और गर्व के साथ मुझे दिखाया, उसे अनार्य सुलभ हवा-धूप-रहित गुफा, साँपो और भूतो का अड्डा समझ रहा हूँ । शाम के अँधेरे मे इतिहास की यह महान् करुण नाटिका मानो मेरी आँखों के आगे अभिनीत हुई—उस नाटक के कुशीलव है हारे, उपेक्षित और दरिद्र अनार्य राजा दोबरू पन्ना, तरुणी अनार्य राज कन्या भानुमती, तरुण राज-पुत्र जगरू पन्ना—दूसरी तरफ मै, मेरा पटवारी बनवारीलाल और मेरा मार्ग-दर्शक बुद्धूसिह ।

साँझ के उतरते हुए अँन्धेरे से राज-समाधि और बरगद के ढँक जाने के पहले ही हम लोग पहाड से उतर आए।

उतरते हुए रास्ते मे सिन्दूर से पुता एक पत्थर मिला। उसके आस-पास मनुष्य के बोए हुए गेंदे और सध्यामणि फूल के पौधे थे । उसी के सामने दूसरा पत्थर खडा था, वह भी सिन्दूर से पुता था। यह देव-स्थान बहुत पुराना था, यही राजवश के कुल-देवता हैं । पहले यहाँ नर-बलि होती थी, बडा पत्थर चूप के काम आता था । अब यहाँ पर कबूतर और मुर्गे चढ़ाए जाते है ।

मैंने पूछा—"ये कौन-से देवता है ?"

राजा दोबरू बोले—"टाँडबारो, जगली भैसों के देवता ।"

पिछले जाडो मे गोनू महतो से सुनी हुई कहानी याद आ गई ।

दोबरू बोले—"टाँडबारो बड़े जाग्रत देवता हैं । ये न होते, तो चमड़े और सीग के लोभ से शिकारियों ने भैसो के वंश का खातमा ही कर दिया होता । ये उनके रक्षक है । जब भैसे फदे मे फँसने लगते हैं, तब ये सामने खडे होकर हाथ के इशारे से उन्हे बचा लेते है । बहुतो ने आँखों से देखा है ।"

जंगली आदिम जाति के इस देवता को सभ्य जगत् में कोई नहीं मानता और नही जानता है ; किन्तु ये जो काल्पनिक नहीं ह, सचमुच

ही है, यह बात वन-जन्तु-बहुल जगल और पर्वतो के निविड सौंदर्य एवं रहस्यो के बीच रहकर मन मे स्वत. आ गई थी।

बहुत दिनों के बाद जब कलकत्ता लौटा, तब एक बार बड़ा बाजार मे जेठ के जलते हुए दिनो मे एक गाडीवान को भारी बोझा खीचने वाले गाडी मे जुते भैसो को चमड़े के कोड़े से बडी बेरहमी से पीटते हुए देखा था। उस दिन मन मे अनायास ही यह आया था—'हाय देवता टाँडबारो, यह न तो छोटानागपुर है, न मध्यप्रदेश का जगल, यहाँ तुम्हारे हाथ इस पीडित पशु की रक्षा कैसे कर सकते है ? यह बीसवी सदी की आर्य-सभ्यता से गर्वित कलकत्ता नगरी है—यहाँ हारे हुए राजा दोब्रू पन्ना-जैसे ही तुम असहाय हो !'

मुझे गया जाना था, इसलिए साँझ से पहले ही रवाना हो गया। बनवारी घोडो को लेकर खेमें मे लौटा। लौटते समय फिर राजकुमारी भानुमती से मुलाकात हो गई। वह कटोरे मे मेरे लिए दूध लेकर राज-महल के द्वार पर खड़ी थी।

बारहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक रोज राजू पाँडे ने खबर दी—"बनैले सूअर खेतो की खडी फसल को रोज रात को बर्बाद कर देते है। उनमें कुछ दाँतवाले खूँखार पट्ठे भी है। लिहाजा कनस्तर पीटने के अलावा और कुछ करते नही बनता। अगर कचहरी की ओर से इसका कोई उपाय नही किया जायगा, तो मेरी सारी फसल नष्ट हो जायगी।"

तीसरे पहर बन्दूक लेकर मै खुद ही वहॉ गया। राजू की जमीन नाढा बैहार के घने जगल मे पड़ती थी। उधर अभी लोग बहुत कम बसे थे, खेत भी कम थे, अतः जानवरों के उपद्रव ज्यादा होते थे।

राजू अपने खेत मे काम कर रहा था। मुझे देखकर सब छोड़-छाडकर लपका। मेरे हाथ से उसने घोडे की लगाम ले ली और घोडे को बहेडे के पेड से बाँध दिया।

मैने कहा—"अब तो तुम्हारे दर्शन दुर्लभ होगए है—कचहरी की तरफ कभी आते क्यो नही ?"

राजू के झोंपडे के चारो ओर कसाल का जंगल था—बीच-बीच मे केद और बहेड़े के पेड भी थे। पता नही, इस जन-मानवहीन जगल मे वह अकेला कैसे रहता था। साँझ हुए किसी से यहाँ बात कर सकना भी असभव था—अजीब आदमी था वह !

राजू ने कहा—"समय ही कहाँ मिलता है कि कही जाऊँ हुजूर, फसल सँभालते-सँभालते ही जान चली गई। फिर भैस है।"

मै पूछने ही जा रहा था कि तीन भैंस चराने और डेढ़ बीघे की खेती मे क्या ऐसी व्यस्तता हो सकती है कि कही जाने का समय ही नही मिलता, मगर तब तक राजू ने खुद अपने कामो की एक ऐसी सूची पेश

की कि देखकर लगा—सचमुच ही उसे साँस लेने की फुर्सत नही। खेत-खलिहान के काम, भैंस चराना, दूध दुहना, मक्खन निकालना, पूजा-पाठ करना, रामायण पढ़ना, रसोई, भोजन—सुनते-सुनते मै ही मानो हाँफ उठा। बेशक राजू बडे जीवट का आदमी है! इस पर भी तमाम रात जागकर उसे कनस्तर पीटना पडता था।

मैंने पूछा—"सूअर कब आते है?"

—उनके आने का कोई ठिकाना तो नही हुजूर—"हाँ, रात होते ही निकल पडते है। जरा देर बैठकर तो देखे। तब पता चले कि कितने आते है।"

मेरे लिए सबसे बडा कौतूहल यह था कि राजू यहाँ अकेला रहता कैसे है? मैंने उससे यही पूछा।

वह बोला—"आदत पड गई है हुजूर। जमाने से इसी तरह रहता आया हूँ, कष्ट तो खैर नही होता, बल्कि यों खुशी से ही रहता हूँ। दिन भर करारी मेहनत, शाम को भगवद्भजन—दिन मजे मे कट जाते हैं।"

मुझे पता था कि एक खास सांसारिक विषय से राजू को बडी आसक्ति है कि वह चाय खूब पीता है। मगर इस घने जंगल में चाय की सामग्रियाँ मिलती कहाँ से होंगी, यह सोचकर मै अपने साथ चाय और चीनी लेकर गया था। मैंने कहा—"राजू, जरा चाय बना लो। चाय का सब सामान मेरे साथ है।"

उसने बडी खुशी से तीन सेर पानी आने वाले लोटे मे पानी चढा दिया। चाय तैयार हो गई, लेकिन काँसे के एक छोटे कटोरे के सिवा वहाँ कोई दूसरा बर्तन ही नही था। मुझे उसी कटोरे मे चाय देकर वह खुद लोटे से पीने लगा।

राजू को हिन्दी पढना-लिखना आता है, मगर बाहरी दुनिया की उसे कोई जानकारी नही। कलकत्ता का नाम तो उसने सुन रक्खा है, लेकिन वह किधर है, सो नही जानता। बम्बई या दिल्ली के बारे में उसकी धारणा चन्द्रलोक की धारणा-जैसी ही काल्पनिक और धुँधली है।

शहरों मे से सिर्फ पूर्णियाँ को ही उसने देखा है, वह भी कई बरस पहले एक बार वहाँ गया था और सिर्फ थोडे ही दिन वहाँ रहा था।

मैंने पूछा—"मोटर देखी है ?"

—"नही हुजूर, सुना है कि बैल या घोडे के बिना ही चलती है—धुँआ निकलता है। आजकल पूर्णियाँ मे शायद बहुत-सी आ गई है। बहुत दिनो से पूर्णियाँ भी नही जा पाया हूँ। गरीब आदमी, शहर जाने को पैसे भी तो चाहिएँ।"

मैंने उससे पूछा—"कलकत्ता जाने की इच्छा है क्या ? अगर जाना चाहो, तो मै घुमा लाऊँ, पैसे नही लगेंगे।"

राजू ने कहा—"शहर बडी बुरी जगह है हुजूर! चोर, उचक्को-गुडो का वहाँ अड्डा है। सुनते है, वहाँ जाने से जात नही बचती। वहाँ के लोग बदमाश होते है। हमारी तरफ का एक आदमी था, उसके पाँव मे कुछ हुआ था, इसलिए वह किसी शहर के अस्पताल मे गया था। डाक्टर छूरी से उसके पाँव को चीरता जाता और पूछता जाता था कि 'बताओ, कितने रुपए दोगे ?' उसने कहा—'दस रुपये दूँगा।' डाक्टर ने पाँव को और चीरा। फिर पूछा—'अभी भी बताओ, कितना दोगे ?' उसने गिडगिडाकर कहा—'डाक्टर साहब, पाँच रुपये मै और दूँगा, आप दया करके पाँव को ज्यादा न चीरे।' डाक्टर ने कहा—'उतने से नही होने का।' और उसने पाँव को फिर चीरना शुरु किया। वह बेचारा गरीब जितना रोता जाता, डाक्टर उतना ही पाँव को चीरता जाता। चीरते-चीरते काट ही डाला उसके पाँव को। आप ही सोचे, कैसी खतरनाक बात है!"

राजू की बाते सुनकर हँसी को रोकना मुश्किल हो गया। मुझे याद आया, इंद्रधनुष को देखकर एक बार इसी राजू ने कहा था—'यह इंद्रधनुष जो देखते है बाबूजी, यह दीमक के टीले से उगता है, मैंने अपनी आँखो से देखा है।'

राजू के झोंपडे के सामने ही आसान का एक बहुत बडा पेड़ है।

हम लोग उसी के नीचे बैठकर चाय पी रहे थे। चारो तरफ घना जंगल केद, आँवले, बहेड़े के पेड-पौधे। फूल की भीनी-भीनी गन्ध ने साँझ की हवा को बडा ही मधुर बना रक्खा था। ऐसी जगह मे इस तरह बैठ कर चाय पीना मुझे जीवन मे एक सौन्दर्यमय अभिज्ञता प्रतीत हुई। ऐसे अरण्य-प्रातर कहाँ है, कहाँ है कास-वन से घिरा ऐसा झोपडा और राजू जैसा आदमी ही यहाँ कहाँ है ? यह अभिज्ञता जितनी अनोखी थी, उतनी ही दुष्प्राप्य भी।

मैंने कहा—"अच्छा राजू, तुम अपनी स्त्री को क्यो नही ले आते ? उसे लाने से तुम्हे खुद बनाकर खाने का कष्ट नही रह जायगा।"

राजू बोला—"वह जिन्दा नही रही हुजूर—सत्रह-अठारह साल हुए, गुजर गई। तब से घर मे मन को टिका नही पाता हूँ।"

राजू की स्त्री का नाम सरजू (यानी सरयू) था। जब राजू अठारह साल का और सरयू चौदह साल की थी, तब राजू कुछ दिनो के लिए उत्तम-धरमपुर, श्यामला टोला मे सरयू के पिताजी की पाठशाला मे व्याकरण पढ़ने गया था।

राजू से पूछा—"कितने दिनो तक पढ़ा था ?"

—"कितने दिन क्या, साल-भर के करीब पढ़ा था ; पर इम्तहान नही दिया। वहीं हम दोनों की देखा-देखी हुई और धीरे-धीरे —"

और जरा खाँस कर राजू चुप हो गया।

मैंने उत्साह देकर कहा—"हाँ, उसके बाद ?"

—"मगर करूँ तो क्या, उसके पिताजी मेरे अध्यापक थे, उनसे यह बात कहता भी कैसे ? कातिक का महीना, छठ का तेवहार—औरतों के एक दल के साथ पीली साडी पहने सरयू कोसी नहाने जा रही थी, मै—"

राजू फिर खाँसकर चुप हो गया।

मैंने उत्साह देकर कहा—"हर्ज क्या है ? कहो।"

—"उसे देखने के लिए मै एक पेड़ की आड मे छिपा रहा। इस--

लिए कि उनसे इन दिनो मेरी देखा-सुनी बहुत कम ही हो पाती थी—कहीं उसके रिश्ते की बात चल रही थी। जब औरते गाती-गाती—आप जरूर जानते होगे कि छठ के त्योहार में औरतें गाती हुई नदी को जाती है ?—गाती-गाती औरते जब मेरे पास पहुँची, तब सरयू ने मुझे पेड की ओट मे छिपा देख लिया। वह भी हँसी, मै भी हँसा। मैंने इशारे मे उसे टोली से पिछड जाने को कहा। उसने भी इशारे मे बताया—लौटने समय, अभी नही।"

कहते-कहते बावन वर्ष वाले राजू के मुखडे पर बीस वर्ष के नवयुवक प्रेमी-जैसी लज्जाशीलता और आँखो मे एक स्वप्नमय दृष्टि जाग पडी—मानो जीवन के बहुत पीछे प्रथम यौवन के दिनों मे जो कल्याणी तरुणी चौदह साल की थी, उसके सगीहीन प्रौढ प्राण उसी को ढूँढने के लिए निकल पड़े है। अकेले इस घने जंगल मे रहते-रहते वह थक गया है। ऐसे मे जिसकी बात सोचना उसे भाता है, जिसके सग के लिए उसका मन उन्मुख है, वह बहुत पहले की वही बालिका सरयू है, जो कि आज इस दुनिया मे कही नही है।

उसकी कहानी भली लग रही थी। मैंने कहा—"फिर ?"

—"लौटते समय उससे भेट हुई। वह दल से पीछे हो गई। मैने कहा—'सरयू, मुझे अब तकलीफ हो रही है। तुमसे मिलना-जुलना बन्द हो गया है। मै जानता हूँ कि मुझसे अब पढना न होगा, फिर यह कष्ट बेकार ढोना है। सोचता हूँ, इसी महीने यहाँ से चला जाऊँ।' सरयू रो पड़ी। बोली—'तुम पिताजी से कहते क्यो नही ?' उसके रोने से मैं मर्माहत हो गया और जिस बात को अपने अध्यापक से कहने की मुझमें कभी जुर्रत नही थी, वही कह बैठा। ब्याह मे यो कोई बाधा नही थी। जात-घर सब अनुकूल ही था। ब्याह हो भी गया।"

रोमास महज मामूली-सा था, शहर की हलचल मे यदि कोई इसे सुनता, तो निहायत घरेलू और गँवई मामला, जरा-सा पूर्वराग भर कहकर शायद उडा भी देता, मगर वहाँ इसकी अभिनवता और सौन्दर्य से मन

मुग्ध हो गया। दो हृदयो ने किस तरह एक दूसरे को पाया था अपने जीवन में, यह जो कितना बडा रहस्यमय इतिहास है, इसे उस दिन समझा था।

चाय पीते-पीते साँझ बीत गई, आसमान मे हल्की चाँदनी निखरी छठी या सातवी तिथि थी।

मैंने बन्दूक उठाई। बोला—"चलिए पाँडेजी, देखूँ आपके खेत मे सूअर कहाँ है?"

खेत के पास ही शहतूत का एक बडा-सा पेड था। राजू ने कहा—"इस पेड पर चढना है हुजूर—उसकी दो डाली पर सुबह मैंने मचान बाँध दिया था।"

अजीब मुसीबत। जमाने से पेड पर चढने की आदत नही रही, फिर इस रात को। राजू ने उत्साह देकर कहा—"चढने मे तकलीफ नही होगी हुजूर। बाँस है, डाल-पत्ते भी है। आसानी से चढ सकते हैं।"

मैंने राजू को बन्दूक थमाई और चढकर मचान पर बैठ गया। मेरे बाद राजू भी ऊपर आ गया। दोनो नीचे की तरफ निगाह किए पास-पास बैठे थे।

चाँदनी और भी खिल पड़ी। गाछ की दो डाली से चाँदनी मे कुछ साफ और कुछ धुँधला दीखनेवाला जगल का उपरी हिस्सा मन मे एक अनोखा ही भाव जगा रहा था। जीवन मे यह भी एक नया ही अनुभव था!

जरा-सी ही देर बाद जगल मे सियार बोल उठे और उसी समय काला-सा कोई जानवर जगल के दक्खिन से निकलकर राजू के खेत में घुसा।

राजू बोला—"वह रहा हुजूर—"

मैंने बन्दूक सँभाल ली। कुछ और पास आने पर पता चला, वह सूअर नहीं, बल्कि नीलगाय है।

नीलगाय को मारने की इच्छा नही हुई। राजू ने दुरदुराया और नीलगाय जंगल की तरफ चली गई। मैंने यों ही बन्दूक की आवाज की।

दो घटे बीत गए। दक्खिन की ओर जगल मे वनमुर्गा बोल उठा। दाँतवाले सूअर को मारने का मनसूबा गाँठा था, मगर सूअर का बाल भी देखना नसीब न हुआ। बन्दूक की आवाज से ही सारा गुड गोबर हो गया।

राजू बोला—"उतर चलिए हुजूर, आपके खाने का भी प्रबन्ध करना है।"

मैंने कहा—"भोजन? मै अपनी कचहरी जाऊँगा—अभी तो रात के दस भी नही बजे। जाना ही पडेगा। सबेरे सर्वे-कैंप की निगरानी मे जाना है।"

—"तो खाकर जाइए।"

—"नही-नही, ज्यादा रात गए जगल से जाना ठीक न होगा—अभी ही चल दूँ। तुम बुरा न मानना।"

घोडे पर चढते समय मैंने पूछा—"कभी-कभी तुम्हारे यहाँ चाय पीने को आ जाया करूँ, तो ऊब तो नही होगी तुम्हे?"

राजू बोला—"आप भी कैसी बाते करते है बाबूजी। इस जगल मे अकेला रहता हूँ, मै गरीब ठहरा, मुझे आप प्यार करते है, इसीलिए अपनी चाय-चीनी साथ लाकर मेरे साथ चाय पीते है। यों शर्मिन्दा न कीजिए हुजूर!"

राजू अभी भी देखने मे सुन्दर लग रहा था, जवानी के दिनों में निस्संदेह वह देखने मे बड़ा खूबसूरत रहा होगा। अध्यापक की कन्या ने पिता के तरुण छात्र के प्रति प्यार जताकर अपनी सुरुचि का ही परिचय दिया था।

काफी रात हो चुकी थी। मै मैदान की राह अकेला जा रहा था। कही रोशनी नही, अद्भुत एक स्तब्धता—मानो मै किसी जनहीन अजाने ग्रहलोक मे पृथ्वी से निर्वासित किया गया होऊँ—दिगंत-रेखा पर दम-

कता हुआ वृश्चिक का उदय हो रहा था, ऊपर अँधेरे आकाश में असख्य जोतिर्लोक, नीचे लवटोलिया बैहार का सुनसान जंगल, नक्षत्रों की हल्की ज्योत मे जंगली झाऊ की फुनगियाँ दिखाई दे रही थीं—कहीं दूर पर सियारो ने पहर की घोषणा की, और भी आगे मोहनपुरा जंगल की सीमा-रेखा अन्धेरे मे काले पहाड-सी दिखाई पड रही थी। किसी कीड़े की लगातार टी-टी-टी को छोड़कर कहीं कोई आवाज नही था। कान लगा कर सुनने से उसी आवाज में और तरह के कीडों के भी शब्द मिले मालूम पडते थे। इस मुक्त जीवन का कैसा अनोखा रोमांस! प्रकृति से घनिष्ठता का कैसा अपूर्व आनन्द! सब कुछ न जाने कैसा एक अनिर्दिष्ट, अव्यक्त रहस्य, पता नही, वह रहस्य क्या था; किन्तु इतना जरूर कह सकता हूँ कि वहाँ से लौट आने के बाद वैसे रहस्य का भाव मन में फिर कभी नही जागा।

मानो इस नीरव-निर्जन रात्रि मे देवतागण नक्षत्रों मे सृष्टि की कल्पना में लीन हों, जिस कल्पना में कि सुदूर भविष्यत् के नये-नये विश्वों का आविर्भाव, नये-नये सौन्दर्यो का जन्म, विभिन्न नए प्राणों का विकास बीज-रूप मे निहित है। उनके इस रहस्य-रूप को केवल वही आत्माएँ देख पाती है जो ज्ञान की आकुल पिपासा में निरलस जीवन यापन करती हैं, जिनके प्राण विश्व की विराटता और क्षुद्रता के संबंध मे सजग आनन्द से उल्लसित हैं और जिसके तुच्छ और क्षुद्र वर्त्तमान के दुःख-शोक जन्म-जन्मान्तर के पथ से होने वाली दूर-यात्रा की आशा में बिन्दु के समान खो गए हैं। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।'

जिन लोगों ने एवरेस्ट के शिखर पर चढ़कर बर्फ की आँधी और बाढ में अपने प्राणों की बलि चढ़ाई थी, उन लोगों ने विश्वदेवता के उस विराट् रूप को देखा है अथवा जब कोलम्बस ने अजोरस द्वीप के उपकूल में तैरते हुए तख्ते पर बहते हुए महासमुद्र पार के अजाने महादेश के बारे मे जानना चाहा था, तब विश्व की यह लीला-शक्ति उनके मन में प्रकट हुई थी, जो घर बैठे तंबाखू का धुआँ उड़ाते हुए

पड़ोसी की बेटी की शादी और उसके धोबी-नाई का काम किया करते हैं, इस स्वरूप को हृदयगम करना उनके वश की बात नही ।

[दो]

भिछी नदी के उत्तरी किनारे पर जंगल-पहाडों के बीच नाप-जोख चल रही थी । कोई दस दिन से मै खेमे मे यही रह रहा था, शायद और भी दस-बारह दिन रहना पड़े, ऐसी आशा थी ।

यह जगह अपने स्थान से बहुत दूर पडती थी। राजा दोबरू पन्ना की रियासत के आस-पास । मै ने रियासत तो कह दी, मगर दोबरू पन्ना तो राज्य-विहीन राजा है—उनके घर के आस-पास कहना चाहिए ।

बड़ी बेहतरीन जगह । एक उपत्यका, सामने की तरफ चौड़ी, पीछे की ओर सॅकरी । पूरब-पच्छिम में पहाडियों की श्रेणी-बीच मे थी यह अश्वमुखी उपत्यका । जगलो से भरी, जहाँ-तहाँ बिखरी पड़ी थी चट्टानें, कॅटीले बाँस की झाडियाँ, और भी न जाने क्या-क्या पेड़-पौधे । बहुत-से पहाड़ी झरने उत्तर की तरफ से उतर कर इस उन्मुक्त उपत्यका से होते हुए बाहर को बह रहे थे । इन झरनो के दोनों ओर के जगल खासे घने थे और इस इलाके मे इतने दिनो तक रहने के अनुभव से मै समझ सकता था कि ऐसी ही जगहों मे बाघ का ज्यादा खतरा रहता है । हिरन थे, वनमुर्गो को रात के दूसरे पहर मे बोलते सुना था । लोमडी की बोली सुनी थी, मगर बाघ नही देखा था, न उसकी आवाज यहाँ सुनी ।

पूरब की तरफ के पहाड मे एक बहुत बड़ी गुफा थी । गुफा के सामने ही एक पुराना और घना बरगद था—जो हरदम सन्-सन् करता रहता था । दोपहर की धूप मे नीले आसमान के नीचे की यह जनहीन उपत्यका और गुफा मन मे बहुत ही पुराने युग की स्मृतियाँ ले आती, जिस युग मे आदिम जाति के राजाओं का राजमहल रही होगी यह गुफा, जैसी कि दोबरू पन्ना के पुरखों की थी । गुफा की दीवारों मे एक जगह न जाने क्या खुदा हुआ था, शायद कोई तस्वीर थी—अब बिल्कुल धुँधली हो गई

थी, समझ मे नही आती थी । जगली आदिम जाति की कितने ही नर-नारियों की कल हास्य ध्वनि, कितने सुख-दु ख, बर्बर समाज के जुल्मो-सितम के आँसू से लिखे हुए कितने इतिहास उस गुफा की माटी मे, हवा मे, पत्थरो की दीवारो पर लिखे हैं—यह सोचते हुए अच्छा लगता ।

गुफा से रस्सी-दो-रस्सी के फासले पर झरने के किनारे एक गोड परिवार रहता था । दो झोंपडे थे उसके—एक बडा और एक छोटा, डालो के घेरे, पत्तो की छौनी । झोपडो के सामने की खुली जगह में पत्थर के टुकडे बटोर कर उसने चूल्हा बनाया था । झोपडे एक बहुत बडे जगली बादाम के पेड के नीचे थे । बादाम के झडे हुए सूखे पत्तो से आँगन भर गया था ।

उस गोड़ परिवार मे दो लडकियाँ थी—एक की उम्र सोलह-सत्रह, और दूसरी की चौदह होगी । रंग तो उनका घोर काला था , पर चेहरे पर सहज सौन्दर्य का निखार था, सुन्दर स्वास्थ्य । रोज दोनो लडकियाँ दो-तीन भैंस लेकर सबेरे पहाडि पर चराने जाया करती, साँझ से पहले लौट आती । मै अपने तम्बू मे जब चाय पीने को बैठता, तब उन्हे भैंसें लेकर सामने से घर लौटते हुए देखा करता ।

एक दिन वह बडी लडकी आप तो रास्ते पर खडी रही और अपनी छोटी बहन को मेरे पास भेज दिया । उसने आकर कहा—"सलाम बाबूजी ! बीडी है क्या ? दीदी माँग रही है ।"

—"तुम बीड़ी पीती हो ?"

—"मै नही, दीदी पीती है । यदि हो तो एक दे दो बाबूजी ।"

—"मेरे पास बीडी तो नही, चुरुट हैं, लेकिन वह मै तुम्हे दूँगा नही । बहुत कडी है, पी नही सकोगी ।"

वह लड़की चली गई ।

थोडी देर बाद मै उनके घर गया । मुझे देखकर गृह-स्वामी अचम्भे मे पड गया—आदर से मुझे बिठाया । दोनो लडकियाँ मकई का घाटा सखुए के पत्ते पर परोस कर नमक के साथ खा रही थी। सिर्फ नमक

के साथ, और कुछ नही। उनकी माँ चूल्हे पर कुछ पका रही थी। नन्हे बच्चे खेल रहे थे।

मालिक की उम्र होगी पचास की। स्वस्थ और बलवान शरीर। मुझे उसने बताया कि घर उनका सिवनी जिले मे है। चूँकि यहाँ भैंसो के लिए पहाड़ पर घास और पानी काफी मिल जाता है, इसीलिए साल-भर से यहीं है। यहाँ बाँसो से टोकरियाँ, सूप, माथे की बरसाती बनाने की बडी सहूलियत है। शिवरात्रि मे अखिल कूचा के पहाड पर मेले में उनसे कुछ पैसे मिल जाते है।

मैंने पूछा—"यहाँ कब तक रहोगे ?"

—"जब तक जी चाहे बाबूजी ! यह जगह खूब भा गई है, नहीं तो हम लोग लगातार एक साल भी कही नही रहते। एक और सहूलियत है यहाँ, पहाड पर शरीफे बहुत होते है, आश्विन के महीने मे मेरी लड़कियाँ दो-दो टोकरी पक्का शरीफा रोज पहाड़ पर से तोड़ लाती थी। दो महीने हमने सिर्फ शरीफो पर काटे है। शरीफो के लोभ से ही यहाँ रहना है। उनसे पूछ देखिए न।"

खाते-खाते ही बडी लडकी उल्लास से बोल उठी—"ओः, पहाड़ के पूरब की तरफ एक जगह है। वहाँ न जाने कितने शरीफे है। पक कर टूट गिरते है, कोई छूता तक नही उन्हें। हम भर-भर टोकरी तोड लाते थे।"

इतने मे घने जंगल से निकल कर कोई झोंपड़े के सामने आकर खडा हो गया—"सीताराम ! सीताराम ! जय सीताराम ! —जरा आग दोगे ?"

मालिक बोला—"आइए बाबाजी, बैठिए।"

जटा-जूटधारी एक बूढ़ा साधु था। इस बीच साधु की नजर मुझ पर पड़ी और वह अचरज-मिश्रित भय से कुछ थोड़ा खिसक कर एक किनारे खडा हो गया।

मैंने कहा—"प्रणाम बाबाजी—"

उसने आशीर्वाद तो जरूर दिया, मगर तब तक भी उसका भय पूरी तरह भागा नही था।

उसे साहस देने की नीयत से मैंने पूछा—"रहना कहाँ होता है बाबा ?"

मेरी बात का जवाब दिया गृहस्वामी ने—"बड़े ही घने जगल मे ये रहते है—वह वहाँ, जहाँ दोनो पहाड मिल गए है। बहुत दिनो से यहाँ है।"

बूढा साधु इस बीच मे बैठ गया था। उसकी तरफ देखते हुए मैंने पूछा—"यहाँ कब से है ?"

अब उसके जी-मे-जी आया। बोला—"पन्द्रह-सोलह साल से।"

—"अकेले रहते होगे ? सुना है, यहाँ बाघ रहता है। डर तो नहीं लगता ?"

—"अकेले नही, तो साथ कौन रहेगा बाबू साहब ? परमात्मा का नाम लेते है। डरने से काम कैसे चल सकता है। अच्छा बताइए तो, मेरी उम्र कितनी होगी ?"

मैंने उनकी ओर गौर से देखा और बोला—"कोई सत्तर की होगी।"

साधु ने हँसकर कहा—"जी नही, नब्बे से ज्यादा हो चुकी है। मैं गया के पास एक जंगल मे दस साल तक रहा। वहाँ के इजारादारों ने जब जगल काटना शुरू किया और लोग-बाग बसने लगे, तब भाग आया। गाँव-घर मे नही र सकता।"

—"यहाँ एक ुफा है, आप उसमे क्यो नही रहते ?"

—"एक क्यो बाब, गुफाएँ तो इस पहाड़ मे बहुत-सी है। मै जहाँ रहता हूँ, वह गुफा तो नही है, पर गुफा ही समझिए। याने ऊपर छत है, दो ओर दीवारे है, सिर्फ सामने की ओर खुला है।"

—"खाते क्या है आप ? भीख माँगते है ?"

—"मै कही नही जाता। परमात्मा सब जुटा देते है। बाँस की निकलनेवाली नई फुनगी को उबाल कर खाया करता हूँ। जगल में एक

तरह का और कंद मिलता है, काफी मीठा लगता है वह, उसे भी खाता हूँ। पक्का आँवला और शरीफा यहाँ बहुत मिलता है। आँवला खूब खाता हूँ। रोज आँवला खाने से आदमी जल्दी बूढ़ा नहीं होता, जवानी को बाँध कर रक्खा जा सकता है। गाँव के लोग समय-समय पर मिलने आते है, तो वे दूध, सत्तू औरा बूरा दे जाते है। इन्ही सब पर किसी तरह दिन कट जाते है।"

—"कभी बाघ-भालू से सामना हुआ है या नही ?"

—"कभी नही। हाँ, एक बडा ही भयानक अजगर इस जंगल में देखा है। बेबस-सा एक जगह पडा था वह। ताड़ के पेड़-जैसा मोटा, काला, बदन पर हरी-लाल रेखाएँ। अँगारे-सी लहकती हुई आँखे। अभी भी वह अजगर इस जंगल में है। जब मैंने देखा था, तब वह पानी के पास पड़ा था, हो सकता है हरिण की ताक में रहा हो। अब किसी गुफा में छिप गया है। खैर, रात हो गई। अब चलूँ।"

आग लेकर साधु चला गया। पता चला कि कभी-कभी वह यहाँ आग लेने आता है, गप-शप करता है।

अँधेरा बढ़ चुका था, अब धुमैली-सी चांदनी छिटकी। उपत्यका का जंगल अनोखी नीरवता से भर गया। केवल पास के झरने के कल-कल और कभी-कभी वनमुर्गे की बोली के अतिरिक्त दूसरा शब्द सुनाई नही पड़ रहा था।

मै खेमे में लौट आया। रास्ते में एक सेमल के बडे पेड़ पर ढेरों जुगनू जल रहे थे—ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर चक्राकार घूमते हुए,—अन्धकार की पृष्ठ-भूमि में ज्यामिति के अनेक क्षेत्र बनाते हुए-से।

[तीन]

यहीं एक दिन आया कवि वेंकटेश्वरप्रसाद। दुबला, छरहरा बदन, सर्ज का कोट, मैली धोती, रूखे और बिखरे बाल। उम्र चालीस से ज्यादा।

मैंने सोचा, नौकरी का उम्मीदवार है। पूछा—"क्या चाहिए ?"

उसने कहा—"श्रीमान् के दर्शन को आया हूँ (हुजूर संबोधन नहीं किया)। मेरा नाम वेंकटेश्वरप्रसाद है। घर है बिहार शरीफ—जिला पटना। यहाँ चकमकी टोले मे रहता हूँ—यहाँ से तीन मील पर।"

—"अच्छा। यहाँ किस काम से आना हुआ ?"

—"दया करके आप अनुमति दे, तो कहूँ। आपका समय तो बर्बाद नही कर रहा हूँ मैं ?"

तब भी मैं समझ रहा था कि वह नौकरी की खोज मे आया है ; लेकिन चूँकि उसने 'हुजूर' नही कहा , इसलिए मेरा ध्यान उसने अपनी ओर आकर्षित कर लिया। मैंने कहा—"बैठिए, इस गरमी में बडी दूर से पैदल आए है।"

एक बात और देखी कि उसकी भाषा बडी मार्जित थी। वैसी हिंदी मैं नही बोल सकता। अमले-प्यादे और गाँव के रैयतो से अपना कारोबार ठहरा, मेरी हिंदी उनकी देहाती बोली और बगला मुहावरों की मिली-जुली एक अजीब खिचड़ी थी। यह कैसे कहूँ कि इतनी सुदर और शुद्ध हिंदी कभी सुनी ही नही ? सो जरा सँभलकर कहा—"आखिर आपके यहाँ आने का उद्देश्य ?" वह बोला—"मैं आपको अपनी कुछ कविताएँ सुनाने आया हूँ।"

मैं तो अचरज मे पड गया। कवि ही क्यों न हो, इस जगल में मुझे कविता सुनाने की कौन-सी गरज पडी इसे ? कहा—"तो आप कवि है ? खुशी हुई आपसे मिलकर। मैं खुशी-खुशी आपकी कविता सुनूँगा। मगर आपको मेरा पता कैसे चला ?"

—"यहाँ से तीन ही मील पर मेरा घर है—पहाड के ठीक उस पार। गाँव के सब लोग कह रहे थे कि कलकत्ता से एक बंगाली बाबू आए है। आप लोगों मे विद्या की बडी कद्र है, क्योकि आप लोग खुद विद्वान् है। कवि ने कहा है—

विद्वत्सु सत्कवि वाचा लभते प्रकाशं
छात्रेषु कूटमलसमं तृणवज्जड़ेषु।"

वेकटेश्वरप्रसाद ने मुझे कविता सुनाई। किसी ेलवे लाइन के टिकट चेकर, बुकिंग क्लर्क, स्टेशन मास्टर, गार्ड. इन्ही सब पर एक बड़ी लबी कविता। कविता खास अच्छी नही जँची ; लेकिन मै उसके प्रति अविचार नहीं करना चाहता। उसकी भाषा मै ठीक तरह समझ नही सका, सच कहूँ, तो कुछ भी नही समझ सका। फिर भी बीच-बीच मे उत्साह और समर्थन मे कुछ-न-कुछ कहता गया।

बड़ी देर हो गई, मगर वेकटेश्वरप्रसाद की कविता क्यो खत्म होने लगी, उठने की बात तो दूर रही।

दो घटे के बाद जरा चुप होकर उसने पूछा—"आपको कैसी लगी मेरी कविता?"

मैने कहा—"क्या कहने है! ऐसी कविता मैने बहुत कम सुनी है। आप इन्हे किसी पत्रिका मे क्यो नही भेजते?"

उसने दुखित होकर कहा—"यहाँ सब लोग मुझे पागल कहते है बाबूजी। यहाँ कविता का समझनेवाला भी कोई नही है। आज तृप्ति हुई आपको सुनाकर। समझदारो को ही सुनाने की चीज है यह। जैसे ही सुना कि आप आए है, मैने तै किए कि एक दिन आपको अवश्य ही कष्ट दूँगा।

उस दिन तो वह चला गया, पर दूसरे ही दिन तीसरे पहर आकर मुझे अपने यहाँ चलने के लिए तग करने लगा। आखिर टाला न गया, उसी समय उसके साथ चकमकी टोले के लिए मै पैदल ही चल पडा।

बेला झुक आई थी। सामने जहाँ तक पहाड की छाया पडी थी, वहाँ तक गेहूँ के खेत लहरा रहे थे। चारों ओर एक अद्भुत शाति विराज रही थी। झुंड-के-झुंड सिल्ली बाँसो की झाड़ियो पर उड़-उड़ कर बैठ रहे थे, एक जगह छोटे बच्चे जाने कौन-सी मछली पकड़ने की कोशिश कर रहे थे।

गाँव मे घनी आबादी। सटे-सटे घर, कितने ही घरों में आँगन

नाम की चीज ही नही। वेकटेश्वर मुझे बीच-बीच के ढंग के एक मकान मे ले गया। बाहरी कमरा रास्ते के किनारे ही था, उसी में एक चौकी पर बैठ गया। जरा देर बाद कविप्रिया के भी दर्शन हुए—मेरे लिए उसने मकई का भूँजा और दहीबडा लाकर, जिस चौकी पर बैठा था, उसी के एक ओर रख तो दिया, लेकिन कुछ बोली नही, यद्यपि उन्होने घूँघट नही काढा था। चौबीस-पचीस की होगी, रग साफ तो नही ; पर बुरा भी नही। शात चेहरा, सुदरी चाहे न कहें, कवि-पत्नी कुरूपा न थी।

एक चीज खास तौर से देखी, वह थी कवि-पत्नी की तंदुरुस्ती। पता नही क्यो, इधर जहाँ कही भी गया, स्त्रियो की तदुरुस्ती मुझे बगाल की स्त्रियों से कही अच्छी लगी। मोटी नही, लेकिन खासी छरहरी कूँदे हुए शरीर वाली और चुस्त-दुरुस्त लडकियाँ यहाँ जितनी मिलीं, बंगाल मे उतनी नही होती। कवि-पत्नी ऐसी ही औरत थीं।

जरा देर बाद कटोरे में भैंस का दही वे मेरी चौकी के पास रख गई और खुद किवाड की आड़ मे जा खडी हुई। जंजीर की खटाखट सुनकर वेकटेशप्रसाद गया और हँसते हुए आकर बोला—"देवीजी कह रही है कि आप तो हमारे बंधु हुए। बंधु को ठढा करना होता है न, इसलिए दही मे पीपल, सोठ और मिर्च की बुकनी ज्यादा दी गई है।"

मैंने हँसकर कहा—"अगर ऐसी ही बात है, तो केवल मेरी ही क्यों, जिसमे सबकी आँखों से पानी निकले, ऐसा किया जाय। आइए, यह दही हम तीनों ही खाएँ।" दरवाजे की ओट से वे हँसीं। मै भी अजीब आदमी, उन्हें दही खिला कर ही माना।

थोड़ी देर में कवि-पत्नी फिर अंदर गईं। हाथ मे एक थाली लिए आई। और उसे मेरी चौकी पर रक्खा। अबकी बार जरा दबे और कौतूहल-भरे स्वर में मेरे सामने ही वे बोली—"जरा बाबू साहब से कहो कि घर के बने इन पेड़ो से मुँह की जलन मिटाएँ।"

औरत के मुँह से यह बोली कितनी फबती थी! इधर की औरतों की जबान मुझे बेहद भली लगती थी। मै खुद अच्छी हिंदी नही बोल पाता; इसलिए हिंदी बोली की तरफ मेरा बडा खिंचाव था। यह हिंदी किताबी हिंदी न थी—इन गाँवो मे पहाड की तलहटी मे, जगली इलाको मे, जौ-गेहूँ के दूर तक फैले खेतो के पास, जहाँ रहट के पानी मे खेतो की सिचाई होती, डूबते सूरज की छाया से भरी गिरि-मालाओ की ओर उडते हुए सिल्ली और बगले एक दूर विस्तृत भूभाग का आभास लाते. वहाँ की यह अचानक खत्म हो जाने वाली टूटे-फूटे क्रियापदो वाली भाषा, जो आमतौर से औरतों के ही मुँह से सुनी जाती थी, उस भाषा की तरफ मेरा खास झुकाव था।

मैंने कवि से कहा—"अपनी दो-एक रचनाएँ तो सुनाइए कृपा करके।"

उत्साह से वेकटेशप्रसाद का चेहरा खिल उठा। उसने एक कविता सुनाई—गाँव के प्रेम पर लिखी हुई कविता। एक नाले के इस पार एक युवक मकई जोता करता था और उस पार कमर में घड़ा लिये रोज एक युवती पानी भरने आया करती। युवक सोचा करता, वह युवती बडी सुदर है। वह दूसरी तरफ मुँह कर सीटी बजाया करता, गाय-बकरी चराता और बीच-बीच में नजर बचा कर युवती को देख लिया करता। बहुत बार दोनो की आँखे भी मिल जाती। युवती का चेहरा ऐसे मे लाज से लाल हो उठता, और वह गर्दन घुमा लेती। युवक रोज यही सोचता कि कल उससे वह जरूर बात करेगा। घर में भी वह उस युवती की ही बात सोचा करता; मगर जाने कितने कल आए और चले गए, मन की बात मन ही मे रह गई। उसके बाद एक दिन युवती पानी भरने नही आई, उसके दूसरे दिन भी नही आई; दिन बीते, सप्ताह गुजरा, महीना बीत गया, आखिर गई कहाँ वह सुपरिचिता किशोरी? बेचारा रोज निराश हो-होकर खेत

से लौटा करता---अपनी यह प्रेम-कथा किसी से कहते भी नही बनती। फिर उसे रोजी की फिक्र मे कही परदेश मे नौकरी करनी पड़ी। बहुत दिन बीत गए---बीत गए ; लेकिन तो भी वह अपनी उस पनिहारिन प्रेयसी को न भुला सका।

दूर तक फैली सुनील शैलमाला और दिगतव्यापी खेतों की ओर देखते हुए मेरे जी मे आया कि यह कथा कवि वेकटेशप्रसाद के अपने ही जीवन की अभिज्ञता तो नही है? कविप्रिया का नाम था रुक्मा, यह मैने यो समझा कि इस शीर्षक की कवि की एक कविता है, जो उसने मुझे सुनाई थी। मै सोचने लगा---रुक्मा-जैसी सुदर और गुणवती पत्नी पाकर भी क्या कवि के बचपन का वह दुख अब तक दूर नही हो सका?

वेकटेशप्रसाद मुझे मेरे तंबू तक छोड़ने आया। रास्ते मे एक बडे बरगद की तरफ इशारा करके कहा---"वह जो पेड है, वहाँ उसीके नीचे, एक सभा हुई थी। बहुत-से कवि आए थे, सबने अपनी-अपनी कविताएं सुनाई थी। ऐसी सभा को इधर कवि-सम्मेलन कहते है। मै भी बुलाया गया था। मेरी कविता सुनकर पटना के ईश्वरीप्रसाद दुबे ने ---'जानते है आप उन्हे? बड़े पडित है---'दूत' पत्र के संपादक है, खुद कवि भी बहुत अच्छे है---उन्होने मेरी बडी तारीफ की थी।"

मैंने समझा, बेचारे को जिदगी मे एक ही बार ऐसे सम्मेलन में खड़े होकर कविता सुनाने का मौका मिला है और वह दिन इसीलिए इसके जीवन मे बडा स्मरणीय है। इतना बड़ा आदर इसे और कभी नही मिला।

तेरहवाँ परिच्छेद

[एक]

तीन महीने के बाद अपने गाँव को लौट रहा था। इतने दिनों में यहाँ नाप-जोख का काम खत्म हो गया।

ग्यारह कोस की दूरी। पिछली बार पूस सक्रान्ति का मेला देखने के लिए इसी मार्ग से आया था। सखुए-पलास का वही जगल, चट्टानों से भरा वही प्रातर, वही ऊँची-नीची पहाडियाँ। कोई दो घटे तक जब चल चुका, तब क्षितिज के पास एक धुँधली-सी रेखा दिखाई पड़ी—मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट।

दिशा बताने वाले इस जाने-पहचाने दृश्य को पिछले तीन महीनों से मैंने नही देखा। इस लबी अवधि तक यहाँ रहने की वजह से लवटोलिया और नाढा बैहार के प्रति ऐसा एक आकर्षण हो गया था कि ज्यादा दिनो तक और कही रह जाने से तकलीफ होती, लगता कि परदेश मे आ गया हूँ। तीन महीने बाद आज मोहनपुरा जंगल की सीमा-रेखा पर नजर पड़ते ही उस आनद की अनुभूति हुई, जो परदेसी को स्वदेश लौटते हुए होती है। वैसे लवटोलिया की सीमा अभी सात-आठ कोस पर थी।

एक छोटे-से पहाड के नीचे बहुत-सी जगह साफ-सुथरी करके कुसुमी की खेती की गई थी। पकने का समय आ गया था, कटनिए खेतों मे आ जुटे थे।

खेत के पास से ही मै गुजर रहा था। अचानक किसी ने मुझे पुकारा —"बाबूजी, ओ बाबूजी—"

मैंने उलटकर देखा—पिछले साल वाली मंची थी! विस्मित भी हुआ और आनंदित भी। मैंने घोडे को रोका। हँसिया हाथ मे लिए

हुए मंची हँसती हुई दौडी आई। बोली—"दूर से ही घोडे को देखकर मैं पहचान गई। इधर कहाँ गए थे बाबूजी?"

मंची वैसी ही है—बल्कि पहले से कुछ और तंदुरुस्त हो गई है। कुसुमी की पंखुडियों से उसका हाथ और साडी के सामने का हिस्सा रँग गया था।

मैंने कहा—"वहराबुरू पहाड की तलहटी मे काम चल रहा था। तीन महीने से वही था। वही से लौट रहा हूँ। तुम लोग?"

—"कुसुमी काट रही हूँ बाबूजी। दिन तो काफी निकल आया। इस वक्त तो यहीं रुक जायें। वह रही झोंपड़ी अपनी।"

मुझसे 'ना' कहते नही बना। मंची ने काम छोड़ दिया और मुझे अपने झोपड़े मे ले गई। उसका पति नकछेदी भगत भी मेरे आने की बात सुनकर खेत से लौट आया।

नकछेदी की पहली स्त्री झोपडी मे रसोई बना रही थी। मुझे देखकर वह भी खुश हुई।

मगर मंची सब में आगे-आगे थी। मेरे लिए उसने गेहूँ के खड़ का काफी मोटा गद्दा बनाया। छोटे-से कटोरे में महुए का तेल देकर बोली—"आप नहा लीजिए। उस टीले के दक्खिन में एक छोटा-सा कुड है। बड़ा ही निर्मल पानी है। चलिए, मैं आपको लिए चलती हूँ।"

मैंने कहा—"मै तो उस पानी में नहीं नहाऊँगा! बस्ती-भर के लोग उसीमे कपड़े फीचते है, मुँह धोते हैं, नहाते हैं, बर्तन माँजते है। वह पानी तो बड़ा गंदा होगा। तुम लोग भी वही पानी पीते हो क्या? तो मुझे इजाजत दो, मैं तो वह पानी नही पी सकता।

मंची सोच मे पड गई। मैं ताड़ गया कि यहाँ उसके सिवाय और पानी कहाँ मिलेगा कि ये उसे न पिएँ? उसको छोड़कर दूसरा उपाय भी क्या था?

मंची का उदास चेहरा देखकर मुझे दुख हुआ। अब तक ये

इस गंदे पानी को खुशी-खुशी पीते चले आ रहे है, कभी सोचा भी नही कि इसमे और क्या हो सकता है और आज अगर इसी पानी के चलते मै इसकी मेहमानी कबूल न करके लौट जाऊँ, तो इस सरल-प्राणा स्त्री के जी को चोट पहुँचेगी।

मैंने कहा—"खैर, उस पानी को खूब उबाल दो—पी लूँगा। और, नहाना रहने दो।"

वह बोली—"क्यो, मै एक कनस्तर पानी उबाल देती हूँ, आप उसीसे नहा भी लीजिए। अभी बहुत ज्यादा देर नही हुई। मै अभी पानी ले आती हूँ।"

मंची पानी ले आई। रसोई का सारा इंतजाम करके बोली—"मेरे हाथ का बनाया तो आप खाएँगे नही। खुद ही बनाइए।"

—"क्यो, खाऊँगा क्यों नहीं, तुम्ही बनाओ।"

—"नही-नही, आप खुद बनाइए। एक दिन के लिए आपकी जात क्यों लूँ, मुझे पाप लगेगा।"

—"पाप-ताप कुछ नही होगा, मै कहता हूँ, बनाओ तुम।"

लाचार होकर मंची पकाने बैठी। कोई लाम-काफ नही, मोटी-मोटी दो-चार रोटियाँ और जंगली निनुए की तरकारी। नकछेदी न जाने कहाँ से भैंस का दूध ले आया।

रसोई में बैठी-मैठी मंची का मन न जाने कहाँ-कहाँ घूमता रहा। वह किस्सा सुनाने लगी—उड़द काटने पहाड़ो में गई थी, वहाँ उसने एक बकरा पाला था। वह बकरा कैसे खो गया, इसकी भी कहानी सुननी पडी वही बैठकर।

मुझसे बोली—"कँकवारा मे गरम पानी का कुंड है, जानते हैं आप? उसीके आस-पास तो आप गए थे, वहाँ नहीं गए?"

मैंने कहा—"कुड के बारे मे सुना तो है, मगर वहाँ जाना नहीं नसीब हुआ।"

मंची बोली—"आपको पता है, मैं एक बार वहाँ पिटी थी, मुझे नहाने नही दिया गया था?"

उसके पति ने कहा—"वह भी एक अजीब घटना रही। वहाँ के पडे बडे बदमाश है।

मैंने पूछा—"क्या हुआ था?"

मची ने अपने पति से कहा—"आप बाबूजी को बता दें। ये तो कलकत्ता रहते है। लिख मारेगे, तो बच्चू को पता चलेगा!"

नकछेदी ने कहा—"वहाँ सूरजकुड जो है, वह बहुत अच्छा है। यात्री उसमे नहाते है। हम लोग उन दिनो आँवलातल्ली की तलहटी मे उडद काट रहे थे। इस बीच आ पडा पूर्णिमा का योग। मंची काम-धाम छोडकर नहाने चली गई। मुझे बुखार आ रहा था, नहाना नही था। बड़ी बहू तुलसी भी नही गई। धरम-वरम पर उसे वैसा विश्वास भी नही है। मंची सूरजकुड मे उतरने लगी कि पंडो ने कहा—'उधर कहाँ जाती है?' मंची ने कहा—'नहाने जा रही हूँ, और कहां?' पंडों ने पूछा—'कौन जात है तू?' वह बोली—'गंगोता।' पंडो ने कहा—'हम गंगोतो को कुंड मे नही नहाने देते, लौट जा तू।' 'मंची को तो आप जानते ही हैं, कैसी है!' वह बोली—'यह तो पहाड़ी झरना है, इसमें कोई भी नहा सकता है। इतने लोग तो नहा रहे हैं, सब क्या ब्राह्मण और छत्री ही है?' और वह कुड में उतरने लगी। पंडों ने उसे घसीटकर मारते-मारते निकाल दिया। वह रोती-रोती लौट आई।"

—"फिर?"

—"फिर क्या होता बाबूजी! हम गरीब गंगोते, कटनिए ठहरे। हमारी फरियाद सुनता भी कौन? मैंने इसे दिलासा दिया—रो मत, मैं तुझे मुगेर के सीताकुंड से नहला लाऊँगा।"

मंची बोली—"आप जरा इसे लिख तो देगे बाबूजी, बंगाली

बाबुओं की कलम में बड़ा जोर रहता है—ये कंबख्त जरा आटे-दाल का भाव समझेंगे।"

मैंने सोत्साह कहा—"जरूर लिखूँगा मैं।"

इसके बाद मची ने मुझे बड़े जतन से खिलाया। उसका आग्रह और सेवा-जतन मुझे बड़ा अच्छा लगा।

रुखसत होते समय मैंने बार-बार कहा—"जौ-गेहूँ की कटनी के समय लवटोलिया बैहार जरूर आना।"

मंचो बोली—"यह भी कहने की बात है—जरूर जाऊँगी।" लौटते हुए लगा कि मची आनंद, स्वास्थ्य और सरलता की प्रतिमूर्ति हो मानो। मानो इस वन-भूमि की वह लक्ष्मी हो—परिपूर्ण यौवना, जीवनमयी, तेजस्विनी लेकिन मुग्धा, अनभिज्ञ, बालस्वभावा।

बंगाली की कलम के जोर का भरोसा करनेवाली उस औरत को उस दिन जो वचन देकर आया था, आज इतने दिनों के बाद मैंने उसक पालन किया—पता नही, अब इससे उसका कौन-सा उपकार होगा। आज जानें वह कहाँ है, कैसी दशा में है, जीवित भी है या नही, कौन जाने!

[दो]

सावन का महीना था। नए मेघों की करुणा बहुत पहले ही बरस पड़ी थी; नाढ़ा और लवटोलिया बैहार या ग्रांट साहब के बरगद के नीचे खड़े होकर चारों तरफ निगाह दौड़ाइए, तमाम हरे समुद्र-सा नया कोमल कास-वन लहरा उठा है!

राजा दोबरू पन्ना ने झूलने का न्योता भेजा था। एक दिन पूर्णिमा के उत्सव में शामिल होने के लिए मैं चला। राजू और मटुकनाथ ने भी पीछा नही छोड़ा, साथ लग लिए। उन्हें पैदल जाना था, सो वे मुझसे पहले ही रवाना हो गए।

डेढ़ बजे के करीब डोंगी से मिट्टी नदी को पार किया। सबके

पार होते-होते ढाई बज गए। मै सबको छोड़कर घोड़े से आगे निकल गया।

पश्चिम के आसमान मे घने मेघ घिर आए और जरा देर में झमाझम पानी पडना शुरू हो गया।

अरण्य-प्रातर में झमाझम झडी का अपूर्व ही दृश्य देखा! मेघों से सारी शैलमाला नीली हो उठी, बिजली वाले घने काले मेघो से आच्छन्न आकाश, कही-कहीं सखुए या केंद की डालों पर पंख फैलाए नृत्य-तत्पर मोर, पहाडी झरनों मे बालक-बालिकाएँ कटची की चचटी लगाकर नन्हीं-नन्ही मछलियाँ पकड रहे थे, धुमैली चट्टाने भींग कर काली दिखने लगी थीं और उन पर चरवाहे सखुए के पत्तों के बने चुरुट पी रहे थे। शात और सुनसान स्थान—जंगल और जंगल, प्रातर-पर-प्रांतर, झरने, पहाड़ी बस्तियाँ, रगीन मिट्टीवाली जमीन, कहीं-कहीं फूले कंदब और पियार के पेड़।

साँझ से पहले ही मै राजा दोबरू पन्ना की राजधानी में पहुँच गया।

पिछली बार का कमरा मेहमानों के लिए लीप-पोतकर रक्खा गया था। दीवारों पर गेरू की पोताई, कमल और मोर के चित्र, सखुए के खंभों पर लता और फूलों की झालर। मै घोडे से पहले ही पहुँच गया—मेरा बिस्तर नही पहुँच सका था; मगर मुझे उससे कोई असुविधा नही हुई। नई चटाई कमरे मे बिछी थी, दो तीन साफ तकिए भी उस पर डाल दिए गए।

कुछ क्षणों के बाद पीतल की तश्तरी में फल-मूल और कटोरे में गरम दूध लिए कमरे में भानुमती आई और उसके पीछे-पीछे सखुए के पत्ते पर छुट्टे पान, समूची सुपारी और पान के और-और मसाले लिए, उसी की हमउम्र एक दूसरी लड़की आई।

भानुमती जमुनिया रग की साड़ी पहने थी, जो घुटने तक उठ आई थी, गले में सब्ज और नीले दानों की माला, जूड़े मे स्पाइडर

लिली के फूल। और भी तदुरुस्त तथा लावण्यमयी हो उठी थी भानु-मती—गठे हुए बदन मे जवानी के लावण्य का ज्वार उभर उठा था; लेकिन आँखो की सरलता वही रह गई थी, जो पहले देख आया था।

मैने पूछा—"क्यो भानुमति अच्छी तो हो?"

नमस्कार करना भानुमती जानती ही नही थी। मेरे उत्तर में हँस कर वह बोली—"और आप?"

—"मै सकुशल हूं।"

—"कुछ खा लीजिए। तमाम दिन घोड़े पर सवार रहे हो, भूख तीखी लग आई होगी।"

मेरे हाँ-ना का उसने इतजार ही न किया और घुटने गाड़ कर नीचे बैठ गई। तश्तरी मे से पपीते के दो टुकडे निकालकर उसने मेरे हाथ मे दिए।

उसका यह नि.संकोच बंधुत्व मुझे अच्छा लगा। मेरे-जैसे आदमी के लिए यह व्यवहार अद्भुत, अप्रत्याशित-सा नया, सुदर और मधुर था। कोई बगालिन-किशोरी ऐसा करती कभी? औरतों के बारे में क़हाँ तो हमारा मन सदा-सर्वदा सिकुड़ा-सिमटा रहता है। उनके बारे मे न तो जी खोलकर सोच सकते है, न प्राण खोलकर उनसे मिल सकते है।

यह भी पाया मैने कि यहाँ के प्रातर जैसे खुले है, वन, मेघमाला, गिरि-पक्तियाँ जैसी मुक्त और दूरच्छन्दा है, वैसा ही संकोचहीन, सरल और वाधाविहीन है भानुमती का व्यवहार। आदमी से आदमी का जैसा स्वाभाविक व्यवहार होना चाहिए। ऐसा ही व्यवहार मैने मंची और वेंकटेश्वरप्रसाद की स्त्री मे भी पाया। जगल और पहाड़ों ने इनके मन को मुक्त कर दिया है, दृष्टि को उदार कर दिया है—उसी अनुपात मे इनका प्रेम भी मुक्त, दृढ़ और उदार है। चूँकि इनका मन बड़ा है, इसलिए इनका प्रेम भी महत् है।

मगर पास में बैठकर भानुमती ने अपने हाथो से जिस प्रकार

खिलाया, उसकी तुलना नही हो सकती! उस दिन मैंने नारी के नि:संकोच व्यवहार की मधुरता को अपने जीवन मे पहली बार अनुभव किया। समझा कि नारी जब स्नेह करती है, तब न जाने कौन-से स्वर्ग का द्वार खोल देती है!

भानुमती के अदर जो आदिम नारी है, सभ्य समाज में संस्कार और बधन के दबाव से उस नारी की आत्मा मूर्च्छित पड़ी है।

पिछली बार इससे जो व्यवहार मिला था, अबकी का व्यवहार उससे भी अधिक अपनापन लिए था। भानुमती ने समझा है कि मैं उसके परिवार का बन्धु हूँ, उनका भला चाहने वाले अपनों मे से ही एक हूँ, लिहाजा उससे जो व्यवहार मिला, वह अपनी स्नेहमयी सगी बहन का व्यवहार था।

इतने दिन हो गए, किंतु भानुमती की वह प्रीति और बधुत्व की बात मेरे स्मृति-पटल पर वैसी ही उज्ज्वल है। जंगली सभ्यता के उस दान के आगे मेरे मन मे सभ्य समाज के अनेक वैभव निस्तेज होकर पडे है।

अब तक राजा दोबरू उत्सव के आयोजनों मे लगे थे। अब मेरे कमरे में आए।

मैंने पूछा—"झूला क्या आपके यहाँ बराबर होता है?"

वे बोले—"यह उत्सव पुश्तैनी है। इस मौके पर दूर-दूर के सगे-संबंधी यहाँ नाचने को आते है। कल ढाई मन चावल यहाँ पकेगा!"

मटुकनाथ विदाई के लोभ से आया था। उसने सोच रक्खा था, बहुत बडे राजा का दरबार है, कितना क्या होगा जानें। उसके चेहरे से लगा, उसे निराशा हुई। लगा, इस राजदरबार से तो उसकी पाठशाला ही अच्छी है।

राजू से मन की बात दबाते न बनी। बोल उठा—"यह राजा कहाँ है हुजूर, संथाल-सरदार तो है! मेरे यहाँ जितनी भैसे है, मैंने सुना है, राजा के यहाँ उतनी भी नही!"

इसी बीच उसने राजा की धन-संपत्ति की भी थाह पा ली—गाय-भैंस इधर वैभव का बहुत बड़ा मानदंड है। जिसके जितनी अधिक भैंसें है, इधर वह उतना ही बडा आदमी गिना जायगा।

काफी रात गए चौदहवीं की चाँदनी ने जब गृहस्थों के आँगन में ज्योति-तिमिर का जाल-सा बुन दिया, तब राजमहल से नारियों के समवेत स्वर में एक अजीब ढंग का गीत सुनाई पड़ा। कल सावनी पूर्णिमा होगी, बाहर से आई हुई मेहमानें और राजकुमारी की सहेलियाँ कल के नाच-गीत की तैयारी कर रही थीं। उनके गीत और मांदर की आवाज रात-भर एक साथ उठती रही।

सुनते-सुनते मै जाने कब सो गया, नीद में भी मानो कितनी ही बार मै उनका वह गीत सुन रहा था।

[तीन]

दूसरे दिन झूले का उत्सव देखा, तो मटुकनाथ और राजू ही क्या, मुनेश्वरसिह भी मुग्ध हो गया।

सुबह ही देखा, आस-पास की बस्तियों से भानुमती की हम-उम्र कोई तीस-एक लडकियाँ आ जुटी है। एक प्रथा मुझे इनकी अच्छी लगी कि नाच-गान की ऐसी बाढ़ में भी उन्होने महुए की शराब नही पी। मैंने राजा दोबरू से इसके बारे में पूछा भी। उन्होंने नाज के साथ हँसकर कहा—"हमारे कुल की औरतो में यह बात नही। फिर मै आज्ञा न दूँ, तो किसी की मजाल नही कि मेरे बाल-बच्चों के सामने शराब पिए।"

दोपहर को मटुकनाथ ने मुझसे चुप-चुप कहा—"देखता हूँ, ये राजा साहब तो मुझसे भी गए-बीते है। पकाने के लिए बड़ा ही मोटा और लाल चावल दिया है, पका कोहड़ा और जंगली परोल। इतने सारे लोगों के लिए आखिर मै क्या पकाऊँ?"

सबेरे से भानुमती की शक्ल भी नही दिखाई दी। जब मैं खाने को बैठा, तब एक कटोरे में दूध लिए वह मेरे पास आकर बैठ गई।

मैंने कहा—"रात तुम्हारा गाना मुझे बड़ा अच्छा लगा।"

हँसकर उसने पूछा—"हमलोगों के गीत आप समझ लेते हैं ?"

मैंने कहा—"क्यों, तुम लोगों के बीच रहते हुए इतने दिन हो गए, तुम्हारे गीत समझूँगा क्यों न भला !"

—"आज शाम आप झूला देखने जाएँगे न ?"

—"उसी के लिए तो आया हूँ। कितनी दूर जाना है ?"

धनझरी पहाड़ की तरफ अँगुली दिखाकर भानुमती बोली—"उस पहाड़ तक तो आप गए हैं। हम लोगों का मंदिर नहीं देखा है क्या ?"

इतने में उसकी हमजोली लड़कियाँ दरवाजे पर आकर रुकी और बड़े कौतूहल से मेरा खाना देखकर आपस में जाने क्या-क्या बोलने-बतियाने लगी।

भानुमति बोली—"यहाँ क्या है, जाओ।"

उनमें से एक जरा चंचल थी। बढ़कर बोली—"झूले के दिन बाबू साहब को नमक-करौदा तो खाने को नहीं दे दिया है तू ने ?"

बाकी लडकियाँ खिलखिलाकर हँस पड़ीं और एक दूसरे के बदन पर गिरने लगी।

मैंने भानुमती से पूछा—"ये हँस क्यों रही हैं ?"

लजाती हुई बोली—"उन्हीं से पूछ लो, मैं क्या जानूँ ?"

इतने में एक लड़की ने मेरी पत्तल में कमरख और मिर्च डाल दिया और बोली—"मिर्च का अचार खा लें बाबूजी। भानुमती तो आपको केवल मिठाई ही खिला रही है। यह कैसे होगा—हम कुछ कडवा भी खिला लें।

फिर सभी लड़कियाँ ठठाकर हँस पड़ीं। इतनी-इतनी तरुणियों की सरल हँसी से दिन मे ही पूनो की चाँदनी छिटक पड़ी।

साँझ से पहले युवक-युवतियों की एक टोली पहाड़ की ओर

रवाना हुई। हम भी उन्हीं के साथ लग गए—एक विशाल जुलूस ही समझिए! पूरब की तरफ नवादा-लक्ष्मीपुर की सरहद पर धन-झरी पहाड़, जिसके नीचे से भिट्टी नदी उत्तर की ओर प्रवाहित हुई है, उसी पहाड़ पर पूर्णमासी का पूर्ण चंद्र उगता आ रहा था। एक तरफ नीची उपत्यका—जंगलों से हरी-भरी, दूसरी तरफ धनझरी की पंक्ति। मील-भर चलकर हम पहाड़ के नीचे पहुँचे। थोड़ी उँचाई चढ़ जाने पर एक समतल-सी जगह पड़ती थी। उसके बीचोबीच पियार का एक पेड़, जिसके तने को फूल और लता ने घेर रक्खा था। राजा दोबरू ने बताया, यह पेड बड़ा पुराना है, मैं बचपन से ही इसे देखता आया हूँ। झूले के समय स्त्रियाँ इसी के नीचे नाचा करती हैं।

ताड़ के पत्ते की चटाई डालकर हमलोग एक तरफ बैठ गए। और पूनो की चाँदनी से धुली उस वनभूमि में लगभग तीस तरुणियाँ पेड़ का चक्कर काटती हुई नाचने लगीं—कुछ ुवक मांदर (मृदंग) बजाते हुए उनके साथ घूमने लगे। भानुमती, दल में सबसे आगे थी। लड़कियों के जूड़े में फूलों की माला, बदन मे फूलों के गहने लदे थे।

बडी रात तक यह नृत्य-गीत लगातार चलता रहा। बीच-बीच में वे थोड़ा साँस भी ले लेतीं और फिर नाचना शुरू कर देतीं—मांदर के बोल, चाँदनी, वर्षास्निग्ध वनभूमि और सुठाम, श्यामा नृत्परायण तरुणियों की टोली—सब मिलकर किसी बड़े चित्रकार की आँकी हुई तस्वीर जैसी शोभामयी लग रही थी। उसका आकुल आवेदन किसी मधुर-संगीत-सा प्रतीत हो रहा था। सोलंकी राजकन्या और उनकी सहचरियों के ऐसे ही झूले के नाच-गान की बात याद हो आई, चरवाहे बालक बप्पादित्य को खेल के बहाने माला देने की बात।

इससे भी सुदूर अतीत के, प्राचीन प्रस्तर-युग के भारत के रहस्य से ढँके इतिहास की सारी घटनाएँ मेरी आँखों के आगे मानो फिर से अभिनीत होने लगो—भानुमती और उसकी सखियो के नृत्य में आदिम

भारत की वह संस्कृति मानो मूर्तिमती हो उठी है—हजारों साल पहले ऐसे कितने ही वन, कितनी पर्वतमालाएँ, ऐसी कितनी ही चाँदनी रातें भानुमती-जैसी कितनी ही बालिकाओं के नृत्य-चंचल चरणों के छंद से आकुल हो उठी थीं; उनकी वह हँसी आज भी मरी नही, इन जंगलों और गिरि-मालाओं की आड़ से वे अपने वर्धमान वंशधरों के लहू में आज भी उत्साह और आनन्द की उस वाणी को भेजती रहती है।

गहरी रात। पच्छिम के जंगल के पीछे चाँद झुक गया। हम सभी पहाड़ से नीचे उतर आए। यह अच्छा रहा कि आसमान में आज बदली नहीं थी, मगर सुबह की तरफ ओदी हवा काफी सर्द हो गई। उतनी रात बीतने पर भी खाने बैठा, तो भानुमती दूध और पेड़ा लेकर आई।

मैंने कहा—"तुम लोगों का बेहतरीन नाच रात मैंने देखा।"

लजाकर वह बोली—"आपको वह नाच भला क्या लगेगा, भला—कलकत्ता में यह सब कोई देखता भी है!"

दूसरे दिन भानुमती और उसके प्रपितामह लौटने देने में आनाकानी करने लगे। मगर रुकने से अपना काम नही चल सकता था, सो लौट आया।

चलते समय भानुमती ने कहा—"कलकत्ता से मेरे लिए एक आईना ला देंगे बाबूजी? मेरे पास एक था; पर कुछ दिन हुए वह टूट गया!"

सोलह साल की सुदरी तरुणी को आईने की कमी! आखिर आइना बना किसके लिए है? एक हफ्ते के अंदर ही मैंने पूर्णियाँ से एक आइना मँगवा कर उसे भिजवा दिया था।

चौदहवाँ परिच्छेद

[एक]

कई महीने बाद, फागुन का आरंभ। लवटोलिया से मै अपनी कचहरी को लौट रहा था। रास्ते में कुड के पास बँगला बोली सुनाई पडी। मैंने घोड़े को रोका। जितना ही पास पहुँचने लगा, मेरा अचरज बढता गया। औरतो की भी आवाज आ रही थी—आखिर माजरा क्या है ? जंगल से होकर मै कुड के पास पहुँचा। देखता क्या हूँ कि झाऊ की झाड़ियों के पास दरी डाल कर आठ-दस बगाली बाबू गप-शप कर रहे है। पास ही पाँच-छै औरते कुछ पका रही है, छै-सात बच्चे-बच्चियाँ दौड़-धूप रही है। मै समझ नहीं सका कि इतने सारे औरत-मर्द इस जंगल में पिकनिक के लिए कहाँ से आ गए? मै अवाक् खडा रह गया। इतने में उन लोगों की नजर मुझ पर पड़ी। एक ने बंगला में कहा—"अरे रे, यह कम्बख्त सत्तू कहाँ से आ गया ? "

मै घोडे से उतर कर उनके पास गया। पूछा—"आप लोग तो बंगाली-से दीखते है—यहाँ कैसे आना हुआ ? "

वे अचंभे मे पड़ गए, कुछ अप्रतिभ भी हुए। बोले—"ओ, आप बगाली है ? हें-हें.. बुरा न मानेंगे, हमने सोचा—हे-हें. . . . "

मैंने कहा—"जी बुरा मानने की क्या बात है इसमें ? मगर आप लोग कहाँ से आए और इन औरतों के साथ. . . . ."

बाते होने लगी। दल मे जो प्रौढ सज्जन थे, वे रिटायर्ड डिप्टी मजिस्ट्रेट थे—राय बहादुर। बाकी लोग उन्ही के लड़के, भतीजे, भतीजी, लड़की, पोती, दामाद के दोस्त आदि। कलकत्ता में राय बहादुर ने किसी किताब में पढा था कि पूर्णियाँ में शिकार बहुत मिलता है। पूर्णियाँ में उनके भाई मुंसिफ थे, वे यह देखने के लिए यहाँ आकर टिके थे कि सच-

मुच ही यहाँ शिकार की सहूलियत है या नहीं। आज सुबह के ट्रेन से चले और दस बजे कटोरिया में उतरे। वहाँ से नाव पर चढ़कर कोसी पार करके पिकनिक के लिए यहाँ आए, क्योंकि जिसके मुँह से भी सुना, यही सुना कि लवटोलिया, बोमाहबुरू और फुलकिया का जंगल नही देखा, तो कुछ नहीं देखा। सो यहाँ से पिकनिक खत्म करके ये मोहनपुरा के पास कोसी में नाव पर सवार होंगे और आज ही रात को कटोरिया पहुँच जाएँगे।

मैं तो अवाक् रह गया। संबल के नाम पर उनके पास एक दोनली बंदूक थी, बस। उसी के भरोसे पर बाल-बच्चों के साथ थे इस घोर जंगल मे पिकनिक के लिए चले आए। साहस की तारीफ करनी पड़ी ; लेकिन राय बहादुर तो दुनिया देखे हुए व्यक्ति थे, उन्हे जरा सावधान होना चाहिए था। साँझ होते-होते इधर के जंगली लोग भी मोहनपुरा जंगल के पास से गुजरने की हिम्मत नहीं करते। जंगली भैंसों का खतरा रहता है। बाघ भी निकल आए, तो ताज्जुब नहीं। बनैले सूअर और साँपों की तो बात ही क्या। बच्चों के साथ पिकनिक मे आने की यह जगह ही नहीं।

राय बहादुर मुझे छुट्टी देने को राजी न थे—बैठना ही पड़ेगा, चाय पीनी ही पड़ेगी। मेरा हाल पूछने लगे—मैं यहाँ इस जंगल में क्या करता हूँ। लकड़ी का तो व्यवसाय नहीं करता ? मैंने अपना सारा किस्सा बताया और सबके साथ उन्हें अपने यहाँ रात बिताने का अनुरोध किया ; मगर वे रुकने को राजी न हुए। आज रात तक उन्हें पूर्णियाँ पहुँचना जरूरी था, नहीं तो वहाँ लोग फिक्र में पड़ जायँगे।

मैं समझ नही सका कि ये इतनी दूर जंगल में पिकनिक करने को आए क्यों। लवटोलिया के मुक्त प्रांतर और वन, दूर की पहाड़ियों की शोभा, सूर्यास्त की सुषमा, पंछियों की बोली, पास ही वन के माथे पर वसन्त के न जानें कितने तरह के फूल खिले थे—मैंने देखा कि इन बातों का इन्हें जरा भी खयाल नहीं। ये तो केवल चीख रहे थे,

उछल-कूद रहे थे, गीत गा रहे थे और इस फिक्र में लगे थे कि खाने की क्या तदबीर हो। लड़कियाँ जो थी, उनमें से दो तो कलकत्ता में कालेज मे पढ़ती थी, बाकी स्कूल में। लडकों में से एक था मेडिकल कालेज का छात्र, दूसरे सब स्कूल-कालेज के विद्यार्थी, मगर किसी तरह से हो, जब प्रकृति के इस अचरज-भरे सौन्दर्य-राज्य मे आ ही निकले थे, तो भी उन्हें देखने की आँखें ही न थी। सच पूछिए, तो ये लोग तो शिकार के लिए आए थे, खरगोस, चिड़िया, हिरन—मानों ये जीव इनकी गोली का निशाना बनने के लिए राह के किनारे ही बैठे हों!

और जो लड़कियाँ आई थी, वैसी कल्पनालेश हीन लड़कियाँ कहीं भी जो देखी हो मैंने! बस इधर से उधर की दौड़-धूप, जंगल से रसोई के लिए सूखी लकडियाँ बटोर कर लाना और बक-बक—उनमे से किसी ने भी एक बार चारों तरफ निहार कर नहीं देखा कि उनकी यह खिचड़ी कहाँ बन रही है, किस निविड़ सौन्दर्यमय वन के किनारे।

एक लड़की बोली—"यहाँ 'टिन कटर' ठोंकने की बड़ी सुविधा है, क्यों? पत्थर कितने है!"

एक दूसरी ने कहा—"उँह, क्या जगह है यह—बढ़िया चावल कही ढूँढ़े नहीं मिलता। कल सारे शहर की खाक छानती रही—कैसा घिनौना चावल मिला; तिस पर तुर्रा यह कि तुम लोग पुलाव पकाने के मनसूबे गाँठ रहे थे!"

उन्हें क्या पता था कि जहाँ वे रसोई पका रही थीं, वहाँ चाँदनी रात मे परियाँ आकर खेला करती है?

उन्होने वाइस्कोप की बातें शुरू कीं। रात भी उन्होंने पूर्णियाँ में तसवीर देखी और वह शायद बिलकुल वाहियात थी। बस, इसी तरह की बातचीत। साथ ही कलकत्ता के सिनेमा से यहाँ की तुलना! ढेंकी स्वर्ग मे भी धान ही कूटता है जाकर—बात झूठ नही। शाम के पाँच बजे वे चल दिए।

जाते समय जमे दूध और जैम के कुछ खाली डिब्बे छोड़ गए। वहाँ पेड़ों के नीचे ये चीजे मुझे कैसी तो बेमेल लगी।

[दो]

वसंत के विदा होते ही इस साल लवटोलिया मे गेहूँ की फसल पक गई। पिछले साल अपने मौजे मे सरसो की फसल बहुत ज्यादा थी, अबकी बहुत खेतो में गेहूँ भी था, सो वैशाख के आरंभ ही में कटनी का मेला लग गया।

कटनिए जैसे भविष्यद्रष्टा थे, इस साल सर्दियों मे वे नही आए, इस समय जमात बाँधकर आने और जंगल के पास, मैदानों मे झोपडे बनाकर रहने लगे। दो-तीन हजार बीघे मे फसल लगी थी, लिहाजा मजदूर भी तीन-चार हजार से कम नही आए होगे। सुना, अभी लोग आ ही रहे है।

मैं सुबह जो घोड़े की पीठ पर सवार होता, सो शाम को ही उतरता। जाने कैसे-कैसे लोग आ रहे है, इनमे कितने बदमाश कितने गुडे, कितने रोगी होंगे, सब पर निगाह न रखने से ऐसी जगह मे, जहाँ पुलिस नही, कभी भी कोई दुर्घटना हो सकती है।

एकाध घटना सुना ही दूँ।

एक दिन रास्ते में दो लड़के और एक लड़की रोते मिले। मैं घोड़े से उतर पड़ा। पूछा—"क्यों रो रहे हो, क्या हुआ ?"

उन्होंने जो बताया, उसका सारांश यह है—वे लड़के उस गाँव के नहीं थे, नंदलाल ओझा गोलावाला के गाँव के थे। सगे भाई-बहन थे, सब मेला देखने आए थे। आज ही आए थे। कही लाठी और फंदे का जूआ चल रहा था। बड़ा लड़का खेलने लगा। एक लाठी जमीन से लगी खड़ी थी, उसी पर रस्सी फेंकनी पड़ती थी। अगर लाठी मे फंदा लग गया, तो एक का चार लीजिए।

बड़े भाई के पास दस आने पैसे थे। उसने बार-बार फंदा फेंका,

और एक बार भी न लग सका। इस तरह वह अपना सब हार गया। छोटे भाई के आठ आने और बहिन के चार आने भी हार बैठा। पास में फूटी पाई भी न रही कि कुछ खा सके, तमाशा देखने की तो दूर रही।

मैंने उन्हें चुप होने को कहा और जहाँ जुआ हो रहा था, उन्हें लेकर उसी तरफ चला। पहले तो वे जगह ही नही बता पा रहे थे, अंत में बहेड़े का एक पेड दिखाकर बोले, इसी के नीचे जुआ हो रहा था। लेकिन वहाँ कोई नहीं था। कचहरी के जमादार रूपसिह का भाई मेरे साथ था। उसने कहा—"ऐसे जुआरी भी कही एक जगह ठहरते हैं हुजूर। चल दिए होंगे कही।"

तीसरे पहर वह जुआरी पकड़ गया। किसी बस्ती मे वह जुआ खेल रहा था। मेरे प्यादों ने देखा, पकड लाए। उन बच्चों ने भी जुआरी को पहचाना।

पहले तो वह पैसे लौटाने को राजी नही हो रहा था। बोला—"मैंने इनके पैसे छीन तो नही लिए, खेल कर ये खुद ही हार गए हैं, इसमे मेरा कौन-सा कसूर है ?" लेकिन उन बच्चो के पैसे तो उसे देने ही पड़े। मैंने हुक्म दिया कि इसे पुलिस के हवाले करो।

वह पैरों पड़कर गिड़गिड़ाने लगा। मैंने पूछा—"तुम्हारा घर ?"

—"बलिया जिला, बाबूजी !"

—"लोगों को इस तरह ठगा क्यो करते हो ? कितने पैसे ठगे ?"

—"गरीब आदमी हूँ हुजूर, मुझ पर रहम करे। तीन दिन मे कुल दो रुपए तीन आने पैदा कर सका हूँ।"

—"इन मजदूरों से तीन दिन मे तुमने बहुत ज्यादा पैदा किया है।"

—"मगर साल में रोजगार के ऐसे मौके ही कितने आते है हुजूर ? सारे वर्ष में तीस-चालीस रुपए की आमदनी हो पाती है।"

मैंने उसे इस शर्त पर छुड़वा दिया, कि आज ही वह मेरा गाँव छोड़ कर चला जाय। उस दिन से फिर उसे वहाँ किसी ने नही देखा।

कटनियों में इस बार मंची को न देखकर मुझे उद्वेग भी हुआ, और अचरज भी। उसने गेहूँ की फसल के समय आने का बार-बार वादा किया था। कटनी का मेला लगा, उठ भी गया—मै समझ नहीं सका कि वह आई क्यों नही।

दूसरे मजूरों से पूछ-ताछ भी की ; पर कोई पता नही चला। मै सोचने लगा—कोसी नदी के दक्खिन मे इस्माइलपुर दीयरे को छोडकर आस-पास यहाँ जितना बड़ा खेती का इलाका दूसरा तो है नही। फिर जब मजदूरी भी एक ही-सी मिलती है, तब वह इतनी दूर क्यों जायगी ?

मेला उठने-उठने के समय एक गंगोते मजूर से उसका समाचार मिला। वह मची और उसके पति नकछेदी भगत को पहचानता था। साथ-साथ बहुत जगह काम भी किया था शायद। उसने बताया—उसने उन्हे फागुन मे अकबरपुर के सरकारी खासमहाल में काम करते देखा था। उसके बाद वे कहाँ गए, पता नही।

कटनी का मेला आधे जेठ तक उठ गया। एक दिन कचहरी में नकछेदी भगत को देखकर मै अचरज में पड़ गया। मेरा पाँव पकड़ कर वह फुक्का फाड़ कर रो पड़ा। मैंने पाँव छुडाया तथा और भी ताज्जुब में पड़कर पूछा—"बात क्या है ? तुम लोग कटनी के दिनों यहाँ आए क्यों नही ? मंची मजे मे तो है ? है कहाँ वह ?"

मेरी बात के जवाब में उसने जो जवाब दिया, वह सक्षेप में यों है—मंची कहाँ है, इसकी उसे कोई खबर नहीं। खासमहाल में काम करते समय वह उसे छोड़कर न जाने कहाँ भाग गई। खोज-ढूँढ बहुत की ; पर उसका पता न चला।

मैं चकित और विस्मित रह गया ; लेकिन मुझे नकछेदी भगत के लिए कोई हमदर्दी न थी, ऐसा लगा। सोच-फिकर जो कुछ भी थी, सब उस वन्य स्त्री के लिए। आखिर वह गई कहाँ, उसे कौन फुसला कर ले भागा, वह कहाँ और किस हालत में है ? सस्ती शौकीनी की चीजो की

जैसी रुझान मैंने उसमें देखी थी, उन चीजों का लोभ दिखाकर उसे भगा ले जाना मुश्किल न था। हुआ भी ऐसा ही होगा।

मैंने पूछा—"और उसका बच्चा?"

—"वह दुनिया में नही रहा। चेचक से मारा गया।"

सुनकर मै बहुत दुखी हुआ। निश्चय ही बच्चे के शोक मे पागल होकर ही वह बेचारी निकल पड़ी होगी—"दो आँखे जिधर ले जायँ।

जरा देर मै चुप रह गया। फिर पूछा—"तुलसी कहाँ है?"

—"वह यही है, साथ आई है।—हुजूर, मुझे थोड़ी-सी जमीन दें। कटनी पर अब बूढ़े-बूढ़ी का गुजारा नही चल सकता। मंची थी, तो बल था। उसी के भरोसे घूमा करता था। वह मेरे हाथ-पाँव तोड़कर चली गई!"

सध्या समय उसके झोपड़े मे गया। तुलसी बाल-बच्चों को लिए हुए चीना तैयार कर रही थी। मुझे देखकर वह रो पडी। देखा—मंची के चले जाने से वह भी बहुत दुखी है। बोली—"हुजूर, यह सारा कसूर इस बूढ़े का है। वहाँ सरकारी लोग टीका लगाने आए थे। बुड्ढे ने चार आना घूस देकर उन्हें विदा कर दिया, टीका नही लगाने दिया। कहा—टीका लगाने से चेचक होगा। तीन दिन भी नही गुजरे थे कि मंची के बेटे को चेचक निकली और उसी में वह चल भी बसा। उसके शोक में वह पागल-सी हो गई। खाना-पीना छोड़ बैठी—सिर्फ रोती और रोती।"

—"उसके बाद?"

—"उसके बाद खासमहाल से हम लोगो को निकाल दिया गया हुजूर। कहा गया—'चेचक मे तुम्हारा बच्चा मरा है, अब तुम लोगों को यहाँ नही रहने दिया जायगा।' एक रजपूत छोकरा मंची पर निगाह गड़ाए था। जिस दिन हम लोग खासमहाल से रुखसत हुए, मंची उसी रात को गायब हुई। उस दिन सबेरे मैंने उस छोकरे को झोंपड़े का चक्कर काटते देखा था। यह जरूर उसी की कारस्तानी होगी हुजूर। इधर मंची

कलकत्ता देखने की बड़ी रट लगाए हुए थी। जभी मैं समझ रही थी कि कुछ-न-कुछ होगा।"

मुझे भी याद आया, पिछले साल भी उसने मुझसे कलकत्ता देखने का बड़ा आग्रह दिखाया था। उस धूर्त्त राजपूत छोकरे ने कलकत्ता दिखान के लोभ से उसे भगा लिया हो, तो ताज्जुब क्या।

मुझे पता था कि ऐसी दशा में इधर की औरतों की अंतिम परिणति चाय के बगीचों की कुलीगिरी मे होती है। मंची के नसीब मे आखिर क्या आसाम की पहाड़ियो की दासता और निर्वासन ही लिखा था?

मुझे बूढ़े नकछेदी भगत पर बड़ा गुस्सा आया। सारी खुराफातों की जड़ कम्बख्त यही बूढ़ा है। बुढ़ापे में इसने मंची से शादी ही क्यों की थी? फिर सरकारी टीके वाले को घूस देकर इसने लौटा क्यों दिया? इसे मैं जमीन भी दूँगा, तो इसके लिए हर्गिज नहीं, इसकी बूढी औरत और बच्चों की खातिर दूँगा।

दिया भी। सदर से हुक्म आया था, नाढ़ा बैहार में जल्दी-से-जल्दी रैयत बसाऊँ। नकछेदी भगत को ही मैंने सबसे पहले बसा दिया।

नाढ़ा बैहार घने जंगल से भरा था। महज दो-एक रैयतों ने अभी-अभी झोंपड़ा बनाना शुरू किया था। जंगल देख कर पहले तो नकछेदी की हिम्मत टूट गई, कहा—"हुजूर! वहाँ तो दिन दहाड़े ही बाघ उठा ले जाएँगे—इन नन्हें बच्चों को लेकर....."

मैंने साफ-साफ कह दिया—"अगर वहाँ रहना पसन्द न हो, तो और कहीं जाओ—"

लाचार होकर उसने उस जंगल में ही जमीन ले ली।

[तीन]

नकछेदी जब से यहाँ है, मैं एक बार भी उसके झोंपड़े पर नहीं गया। उस दिन साँझ को बैहार होकर लौट रहा था—एक जगह थोड़ी

साफ की हुई जगह दिखाई पड़ी—पास-पास कसाल के दो झोपड़े। एक में से रोशनी छनकर बाहर आ रही थी।

मुझे पता नहीं था कि यह झोंपड़ा नकछेदी का है। घोड़े की टाप सुनकर जो प्रौढ़ा स्त्री झोंपड़े के अन्दर से बाहर आई, वह नकछेदी की स्त्री तुलसी थी।

—"तुम लोगों ने यहाँ पर जमीन ली है? नकछेदी कहाँ है?"

मुझे देखकर वह आश्चर्य में पड़ गई। जल्दी में गेहूँ का भूसा भरी टाट की एक गद्दी उसने डाल दी और बोली—"जरा देर बैठिए बाबूजी। वह लवटोलिया गए हैं—नमक-तेल लाने। बड़े लड़के को साथ ले गए हैं।"

—"और तुम इस घोर जंगल में अकेली हो?"

—"यह सब रम गया है अब तो बाबूजी। डरने से हम गरीबों का काम चल सकता है भला? यों अकेली रहना तो नही पड़ता; मगर अपनी खोटी तकदीर। जब तक मंची रही, क्या जंगल और क्या पानी, कहीं डर नही था। गजब का साहस और तेज था उसमे बाबूजी।"

तुलसी अपनी तरुणी सौत को चाहती थी। उसे यह भी पता था कि मंची की चर्चा से मुझे खुशी होगी।

तुलसी की लड़की सुरतिया ने कहा—"मैंने नीलगाय का एक बच्चा पकड़ रक्खा है, देखेंगे? उस दिन हमारे झोंपड़े के पीछे तीसरे पहर खस्-खस् करता फिर रहा था। मैंने और छनिया ने मिलकर पकड़ लिया। बड़ा सुन्दर है।"

मैंने पूछा—"खाता क्या है वह?"

सुरतिया बोली—"चीना और कोमल पत्ते। केंद के नए पत्ते तोड़कर ला देती हूँ।"

तुलसी बोली—"बाबूजी को दिखा—"

सुरतिया हरिन-जैसी तेज पीछे की तरफ भाग गई। जरा देर मे उसकी चीख पुकार सुनाई पड़ी—"अरे छनिया, नीलगैया त भागी गेलौ रे—हिन्ने-हिन्ने—जल्दी पकड़—"

दोनों बहनो ने आखिर बच्चे को पकड़ ही लिया और हँसती-हाँफती उसे मेरे पास ले आईं।

अँधेरे मे मै उसे देख सकूँ, इस ख्याल से तुलसी ने एक जलती हुई लकड़ी को ऊपर उठा कर रक्खा। सुरतिया ने पूछा—"सुन्दर है न बाबूजी! कल रात को भालू इसे खाने की फिराक में था। महुए खाने के लिए कल रात उस पेड़ पर भालू चढ़ा था—बहुत रात हो चुकी थी—बप्पा और मैया गहरी नीद में थे, मुझे खबर थी। भालू पेड से उतर कर हमारे पिछवाड़े आया। मै रात को इसे अपनी छाती से लगाकर सोती हूँ—भालू की आहट पाकर मैने इसका मुँह दबाकर छाती से और भी कसकर चिपका लिया।"

—"तुझे डर नहीं लगा?"

—"इस्...डर क्या, मैं डरती नहीं। लकड़ी चुनने जाती हूँ, तो कितना भालू देखती हूँ, वहाँ भी डर नही लगता, डरने से काम चलेगा बाबूजी?"

उसने पुरखिन-जैसी शक्ल बना ली।

झोपड़े के चारों तरफ मिल की काली चिमनियों-जैसे केंद के काले-काले तनें आसमान की ओर सिर उठाए थे, जैसे कैलिफोर्निया के रेडउड् पेड़ का जंगल हो। चमगादड़ और निशाचर पंछियों के डैनों की फटाफट हर डाल पर होने लगी थी। झाडियों पर झुंड-के-झुंड जुगनू जल रहे थे, झोंपड़े के पीछे ही सियार बोल रहे थे—मै समझ नही पा रहा था कि इन कई छोटे-छोटे बच्चों को लेकर इनकी माँ इस सुनसान जंगल में रहती कैसे है। हे विज्ञ, रहस्यमय अरण्य, आश्रितों पर सचमुच ही तुम्हारी बडी कृपा है।

बातों-ही-बातों मे मैंने पूछा—"मंची क्या अपना सब कुछ साथ लेती गई है?"

सुरतिया बोली—"साथ कुछ भी नही ले गई है छोटी माँ। उस

बार उसका जो बक्स आप देख गए थे, उसे भी छोड़ गई। देखेंगे आप? अभी लाई।

बक्स को लाकर उसने मेरे सामने खोला। कंघी, छोटा-सा आइना, नकली दाने की माला, एक सब्ज रूमाल—ठीक जैसे किसी नन्ही बच्ची के खिलौनों का बक्स हो; मगर पिछली बार लवटोलिया मे जिसे खरीदा था, वह माला इसमे नही थी।

कौन कह सकता है कि अपना घर-संसार छोड़ कर वह कहाँ चली गई? इन लोगों ने तो आखिर झोंपड़ा डालकर अपनी दुनिया बसाई, इनमें से वह जैसी खानाबदोश थी, वैसी खानाबदोश ही रह गई।

घोड़े पर सवार होते समय सुरतिया बोली—"और किसी दिन आइए बाबूजी। फंदे से हम चिड़िया फँसाते हैं। नया फंदा बुन रक्खा है। एक डाहूक और गुडगुड़ी को पाला भी है। ये जब बोलते हैं, तो जंगल से दूसरी चिड़ियाँ आकर फंदे में फँसती है। आज तो समय नहीं रहा, नहीं तो फँसा कर आपको दिखाती—"

इतनी रात को नाढ़ा बैहार होकर जाने में भय-सा लगता। बाईं ओर एक छोटे-से पहाडी झरने का पानी कल-कल करता हुआ बह रहा था। कही कोई फूल फूला था—गंध से भरा अँधेरा कही-कही इतना गाढ़ा हो उठा था कि घोडे की गर्दन का रोआँ नही सूझता, कही तारों की जोत से अँधेरा कुछ मंद पड़ गया था।

नाढा बैहार तरह-तरह के पेड़-पौधे, जीव-जंतु और पंछियों का अड्डा है—इसकी वनभूमि और प्रांतर को प्रकृति ने अनंत वैभव से सजाया है, सरस्वती कुड इसी बैहार की उत्तरी सीमा पर पड़ता है। जरीब के पुराने कागजात से पता चलता है, पहले यहाँ कोसी की धारा थी, अब वह भर गई है और यही इतना पानी बच रहा है। दूसरी तरफ वही प्राचीन धारा घने जंगल में जाग उठी है—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्

इस वनभूमि की कैसी वर्णनातीत शोभा उस अँधेरे में देखी मैंने।

मगर जैसे ही यह खयाल आया कि इस जंगल की आयु ज्यादा नही रह गई, वैसे ही एक कचोट-सी उठी। मैं इसे इतना प्यार करता हूँ और मेरे ही हाथों इसका विनाश होगा! महज दो साल के अन्दर सारा-का-सारा गाँव गदे टोलों और घिनौनी बस्तियो से भर जायगा। प्रकृति के अपने हाथों से सजाया हुआ, उसकी सैकड़ो साल की साधना का फल यह नाढ़ा बैहार, अपनी अतुल सौन्दर्य-राशि और दूरव्यापी प्रातर को लेकर जाने कहाँ गायब हो जायगा; मगर इसके बदले मिलेगा क्या?

कुछ फूँस के बदसूरत घर, गोशाला, मकई के खेत, सन की ढेरी, रस्सी की चारपाई, महावीरी पताका, सीझ के काँटे, भरपूर तम्बाकू, भरपूर खैनी और भरपूर चेचक और हैजे के दौरे!

हे अरण्य, हे सुप्राचीन, मुझे माफ करना।

एक दिन सुरतिया के यहाँ फिर गया, उसका चिड़िया फँसाना देखने।

सुरतिया और छनिया, दोनों दो पिंजरे लिए मेरे साथ नाढ़ा बैहार के जंगल के पास गईं।

तीसरे पहर का समय। बैहार पर लम्बी छाया छोड़कर, सूरज पहाड़ के पीछे उतर गया था।

एक सेमल के पेड़ के नीचे उन्होंने दोनों पिंजरों को उतारा। एक में था एक डाहुक, दूसरे में गुड़गुडी। दोनों ही सिखाई-पढ़ाई चिड़ियाँ थीं। जंगली चिड़ियों को बुलाने के लिए पोड़की बोलने लगी।

गुडगुड़ी पहले नहीं बोली।

सुरतिया ने सीटी बजाकर कहा—"बोल री बहिनिया, तोहर फिर. . ."

कहना था कि गुडगुड़ी बोल उठी—"गुड-ड-ड-ड—"

सूने अपराह्न में, दूर तक फैले मैदान की निर्जनता मे वह अनोखी आवाज मन में ऐसे ही दिगंत-विस्तारी प्रांतर की तसवीर भर देती, ऐसे ही मुक्त क्षितिज का स्वप्न, छायाहीन ज्योत्स्नालोक। पास ही हरियाली पर, जहाँ दुधली के राशि-राशि फूल खिले थे, छनिया ने फंदा बिछाया,

बॉस की करची का बना घेरा, उन्ही घेरो से उसने गुडगुडी के पिजरे को ढक दिया।

सुरतिया बोली—"चलिए, हमलोग झाडी की आड में छिप जायें। आदमी देखकर चिडियॉ उड जाएँगी।"

कुछ देर हम लोग सखुए की ओट मे दुबके बैठे रहे। डाहुक तो जब-तब चुप भी हो जाता, मगर गुडगुड़ी की पुकार बन्द न होती—बोलती ही चली जा रही थी वह—गुड़-ड़-ड-ड।

बडा ही अलौकिक स्वर। मैंने कहा—"सुरतिया, अपनी यह गुड़-गुड़ी बेचेगी तू? क्या लेगी इसका?"

सुरतिया बोली—"चुप्-चुप्, वह सुनिए, चिडिया आ रही है—"

जरा देर की नीरवता के बाद एक दूसरी आवाज वन-प्रातर को गुंजाती हुई मैदान के उत्तर से आई—गुड-ड-ड

मेरा शरीर सिहर उठा—पिंजरे की चिडिया की पुकार पर जगल की चिड़िया ने जवाब दिया......

धीरे-धीरे वह आवाज पास आने लगी।

कुछ देर तक दोनो चिडियों की आवाज पास-पास सुनाई देती रही, फिर दोनो सुर मिलकर एक हो गए—अचानक एक सुर थम गया—सिर्फ पिजरे की चिडिया बोलती रही।

छनिया और सुरतिया दौड़ पड़ी—"चिडिया फॅसी!" मैं भी दौडा।

फंदे में पैर फँसाकर चिड़िया छटपटा रही थी। फॅसते ही उसकी बोलती बन्द हो गई थी—गजब हो गया! अपनी आँखों पर मुझे एत-बार नही हो रहा था।

सुरतिया ने चिडिया को हाथ पर उठा लिया—"देखिए बाबूजी! किस तरह से पॉव फॅस गया है। देखा?"

मैंने पूछा—"चिडियो का तू क्या करती है?"

उसने कहा—"बाबूजी इन्हे तिरासी रतनगज की हाट में बेच आते हैं। दो पैसे में गुडगुडी और सात पैसे को पोड़की।"

मैने कहा—"तो मेरे हाथ बेच, मै दाम दूँगा।"

उसने मुझे मुफ्त मे ही चिडिया दे दी। मैने लाख कोशिश की, मगर उसने पैसा लेना मंजूर नही किया।

[चार]

आश्विन का महीना। एक दिन सबेरे-ही-सबेरे इस आशय की चिट्ठी मिली कि राजा दोबरू पन्ना का देहान्त हो गया—राजा-परिवार बड़ी मुसीबत मे है—अगर समय हो, तो एक बार मै वहॉ जाऊँ। पत्र जगरू पन्ना ने लिखा था—भानुमती के दादा ने।

मै उसी समय चल पडा और सॉझ होने से कुछ पहले ही चकमकी टोला पहुँचा। राजा का बडा लडका और पोता मेरी अगवानी के लिए वहाँ तक आए थे। सुना कि गाय चराते हुए राजा दोबरू पन्ना गिर पड़े थे और उनके घुटने मे चोट आई थी। घुटने की वही चोट उनकी मौत का कारण बनी।

राजा का मरना था कि महाजन आ धमका। उसने गाय-भैसों को अपने कब्जे मे कर लिया। रुपया चुकाए बगैर वह देने का नही। मुसीबत पर मुसीबत। कल नए राजा का अभिषेक होना चाहिए। उसमे भी रुपयों का खर्च था मगर रुपया आए तो कहॉ से ? और महाजन अगर गाय-भैस हँका ले गया, तो राज-परिवार की हालत बदतर हो जायगी। उन्हीं के दूध का घी बेंचकर राज-परिवार का आधा खर्च चलता था। अब तो भूखो मरने की नौबत थी।

मैने महाजन को बुलवाया। बीरबलसिह उसका नाम था। देखा, वह मेरी एक भी सुनने को तैयार नही था। रुपया लिए बिना एक भी मवेशी को छोडना उसे कबूल न था। आदमी वह अच्छा नही लगा।

भानुमती आकर रोने लगी। वह अपने परदादे को बेहद प्यार करती थी। "उनके रहते मानो सब पहाड की ओट में थे। उन्होने ऑखे बन्द कीं और ये सारी परेशानियाँ आ पड़ी। कहते-कहते भानुमती की ऑखे

बरसती गई—थमने का नाम नहीं। बोली—"मेरे साथ चलिए, मै पहाड़ पर से आपको उनकी कब्र दिखा लाऊँ। मेरा कही जी नही लग रहा है बाबूजी, यही इच्छा होती है कि उनकी कब्र के पास बैठी रहूँ!"

मैंने कहा—"ठहर जाओ, पहले महाजन का कोई किनारा कर देखूँ, फिर जाऊँगा। मगर महाजन से कोई पटरी नही बैठी। खूँखार राजपूत, आरजू-मिन्नत सुनने वाला न था; मगर इतनी खातिर की कि तब तक के लिए मवेशियो को यही रहने देने को वह राजी हो गया। मगर बूँद भर भी दूध लेने-देने को तैयार नही हुआ। दो महीने के बाद उसका कर्ज चुकाने की गुजाइश किसे हो सकी थी, मगर यह बात पीछे बताऊँगा।

मैंने देखा, भानुमती द्वार के सामने अकेली खड़ी है। बोली—"तीसरा पहर हो गया, इसके बाद वहाँ जाते न बनेगा—चलिए कब्र दिखा लाऊँ।"

वह अकेली मेरे साथ चल पडी, इससे मैंने समझा कि भोली पहाड़ी बालिका मुझे अपने परिवार का परम मित्र और नितान्त अपना समझने लगी है। उसके इस सरल व्यवहार और बन्धुत्व ने मुझे मोह लिया।

उस बड़ी उपत्यका पर तीसरे पहर की छाया उतरी थी। भानुमती जल्दी-जल्दी चल रही थी, भीता हरिनी-जैसी। मैंने कहा—"जरा धीरे चलो। अच्छा, यहाँ हर्सिंगार के फूल कहाँ है?"

हरसिगार का यहाँ नाम ही कुछ और होगा। मै उसे ठीक-ठीक समझा न सका। पहाड पर चढ़ते हुए बड़ी दूर तक दीख रहा था। धनझरी की नीली पहाड़ियों ने भानुमती के देश को, राजहीन राजा दोबरू पन्ना के देश को मेखला की तरह घेर रक्खा था—दूर से हवा के झोके आ रहे थे।

भानुमती ने करीब आकर पूछा—"चढने मे तकलीफ हो रही है बाबूजी?"

—"नहीं। जरा धीरे-धीरे चलो। तकलीफ क्या होगी?"

कुछ दूर और चलकर बोली—"बाबा चल बसे, दुनिया मे मेरा और कोई नहीं रह गया बाबूजी—"

वह बच्चे-सी रुआसी होकर इतना बोली।

मुझे उसकी बात पर हँसी आई। बूढे परदादा ही तो मरे हैं उसके, और माँ नही है, बाकी पिता, भाई, दादी, दादा—सभी तो जीवित हैं। इतना बडा हँसता हुआ संसार। हजार हो, आखिर भानुमती एक स्त्री है, पुरुष की थोडी-सी सहानुभूति पाने और आदर छीनने की स्त्री-सुलभ प्रवृत्ति उसके लिए स्वाभाविक है।

वह बोली—"आप कभी-कभी आया करेंगे बाबूजी, हम लोगो की खोज-खबर लिया करेंगे, कहिए, आप भूल तो नही जायँगे?"

सभी जगह और सभी अवस्था मे स्त्रियाँ एक ही-सी होती हैं। यह वन-बालिका भी एक ही तत्त्व की बनी है।

मैंने कहा—"भूलने क्यों लगा—बीच-बीच मे जरूर ही आया करूँगा।"

उसने न जाने कैसे अभिमान के स्वर मे होठ फुला कर कहा—"हुँ, बगाल चले जाने पर, कलकत्ता पहुँच कर इस जगली देश की बात थोडे ही याद रहेगी—" जरा रुककर बोली—"हम लोगो की बात—मेरी बात....."

मैंने नेह-भरे स्वर मे कहा—"क्यो, याद नही थी? आइना तुम्हे नही मिला था? तुम्ही सोचो, याद थी या नही—"

खिला हुआ मुखडा लिए वह बोल उठी—"ओहहो, सचमुच ही आईना बड़ा सुन्दर है, मैं कहना भूल ही गई थी—"

कब्रगाह पर जब पहुँचा, तब दिन ढल चुका था। दूर की पहाड की आड़ में लाल होकर सूरज डूबने लगा था—कब दुबला चाँद उगकर आसन्न अंधकार को दूर भगाएगा, वह स्थान मानो इसी के इन्तजार मे चुप खड़ा था।

कब्र पर चढ़ाने के लिए मैंने भानुमती को कुछ फूल लाने को कहा। कब्र पर फूल बिखेरना इधर के लोग नहीं जानते। मेरे उत्साह से वह पास ही कही से जंगली हरसिंगार के फूल चुन लाई। हम दोनों ने दोबरू पन्ना की कब्र पर फूल बिखेर दिए।

ठीक इसी समय बरगद की डाल से सिल्ली का झुड डैने फड़फडाता और बोलता हुआ उड गया, मानो भानुमती और राजा दोबरू पन्ना के सभी उपेक्षित पुरखे मेरे इस काम से सतुष्ट होकर एक स्वर से कह उठे हो—'साधु! साधु!' क्योकि अनार्य राज-समाधि के प्रति आर्य-संतति द्वारा यही पहला सम्मान-निवेदन था!

पंद्रहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक बार मुझे महाजन धौताल साहू के आगे हाथ पसारना पड़ा। उस बार वसूली कम हुई और सरकारी कर के दस हजार रुपए चुकाने थे। बनवारीलाल पटवारी ने राय दी कि बाकी रुपए धौताल से कर्ज ले लीजिए। वह आपको कर्ज देने से हर्गिज इन्कार नही करेगा। वह मेरा रैयत नही था, सरकारी खासमहाल का बाशिंदा था। उस पर अपना कोई जोर नही। ऐसे मे मेरी एक बात पर वह तीन हजार रुपए मुझे एक मुश्त कर्ज दे देगा, इस पर मुझे सन्देह था।

मगर गरज़ जैसी बुरी चीज कोई नही। एक दिन बनवारीलाल को साथ लेकर चुपचाप उसके यहाँ गया। चुपचाप इसलिए कि कचहरी में किसी पर मै यह जाहिर नही होने देना चाहता था कि कर्ज के रुपयों से कर चुकाना पड़ रहा है।

एक सँकरे मुहल्ले में उसका घर था। एक बड़ा-सा घर। सामने ही कुछ खटिएँ बिछी थीं। वह आँगन के एक ओर तम्बाखू के पौधों में निडानी लगा रहा था। हमे देखकर जल्दी-जल्दी आया—कहाँ बैठाए, क्या करे, कुछ समझ नही पा रहा था। जरा देर के लिए जैसे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो पडा।

—"अरे, इस नाचीज के घर हुजूर के कदम पड़े ! आइए, बैठिए हुजूर ! आइए तहसीलदार साहब।"

उसके घर कोई नौकर नहीं दिखाई पड़ा। हट्टा-कट्टा-सा उसका एक पोता था, हम लोगों के लिए वही दौड़-धूप करने लगा। घर-द्वार, सरो-सामान देखकर कह कौन सकता है कि यह किसी लखपती का घर है ।

उसके पोते रमलखिया ने मेरे घोडे की जीन आदि खोल कर उसे बाँधा। पाँव धोने के लिए पानी ले आया। ताड़ के एक पंखे से धौताल साहू खुद हम पर हवा करने लगा। साहूजी की एक पोती तम्बाखू भरने गई। मैं तो मुसीबत मे पड़ गया। बोला—"इतने तकल्लुफ करने की जरूरत नही है साहूजी, मेरे पास चुरुट है, तम्बाकू लाने की दरकार नही।

चाहे वह आदर कैसा ही कर रहा हो ; पर असली बात कहने में हिचक हो रही थी। कैसे कहूँ ?

धौताल बोला—"इधर क्या चिडिया के शिकार को आए थे ?"

—"नही-नही, तुम्हारे ही पास आया था।"

—"मेरे पास ? ऐसी क्या जरूरत आ पडी हुजूर ?"

—"सरकारी कर चुकाना है, रुपए कम हैं। साढे तीन हजार रुपयों की मुझे सख्त जरूरत है, इसीलिए आया हूँ।"

कहना ही था, इसलिए किसी तरह कह गया।

उसने जरा भी आगा-पीछा किए बिना कहा—"इसके लिए इतनी फिक्र क्या हुजूर ? हो जायगा इन्तजाम, मगर इसके लिए खुद इतनी तकलीफ उठाकर आने की क्या जरूरत थी ? एक पुर्जा लिखकर तहसील-दार साहब की मार्फत भेज देने से ही हुक्म की तामील हो जाती।"

सोचा, अब असली बात कह देनी चाहिए। रुपए मुझे अपनी जिम्मेदारी पर लेने है, क्योंकि जमीदार के नाम पर रुपए लेने का आम-मुख्तार नामा मेरे पास नहीं है। इस पर भी धौताल रुपया देने को तैयार होगा ? परदेसी ठहरा। मुझे जायदाद ही क्या है यहाँ कि जिस पर मुझे रुपये दिए जायँ। सकोच से मैंने यह बात बताई—"साहूजी, लिखा-पढी मेरे ही नाम से होगी, जमीदार के नाम से नही।"

उसने ऐसे स्वर मे कहा, मानो उसे अचरज हुआ हो—लिखा-पढ़ी किस बात की ? थोडे-से रुपयो की जरूरत पडी है, उसके लिए आप मेरे घर आए है। आने की तो जरूरत ही नही थी, आदेश भेज देना ही

काफी था, और जब खुद आ ही गए, तो लिखा-पढी क्या ? आप रुपए ले जाइए । वसूली होने पर मुझे भेज दीजिएगा । "

मैंने कहा—"मैं हैंड नोट लिखे देता हूँ, टिकट साथ ले आया हूँ, या अपनी पक्की बही में दस्तखत करा लो ।"

उसने हाथ जोड कर कहा—"माफ करें हुजूर, यह जिक्र ही न करें। इससे मुझे तकलीफ होगी । लिखा-पढी की कोई जरूरत ही नही, रुपए आप ले जाइए ।"

मैंने बहुतेरा कहा, उसने एक न सुनी । नोट का बडल अन्दर से उसने ला दिया । बोला—"लेकिन एक अर्ज है हुजूर !"

—"वह क्या ?"

—"इस समय आपको जाने नही दूँगा । सामान लाए देता हूँ । पका-चुका कर खा ले, तब जाएँ ।"

मैंने फिर इन्कार किया, पर एक न सुनी गई । पटवारी से पूछा—"बनवारीलाल, पका लोगे ? मुझ से तो नही होगा । "

बनवारी बोला—"न पकाने से तो काम न चलेगा, आपको पकाना पडेगा । मेरे हाथ की रसोई खाने से आपकी बदनामी होगी । मैं मदद में रहूँगा ।"

धौताल का पोता ढेरो सामान ले आया । दादा-पोता मिलकर मुझे रसोई के बारे में तरह-तरह के उपदेश देने लगे ।

धौताल के न रहने पर उसके पोते ने कहा—"ये हमारे दादाजी जो है हुजूर, सब डुबो देंगे । बिना सूद, बिना बंधकी और बिना लिखा-पढ़ी के इतने लोगो को इन्होने रुपए दिए है कि अब अदा होना मुश्किल है । सब पर एतबार कर लेते है, जो कि बहुतो ने अँगूठा भी दिखा दिया है । घर जाकर रुपए कर्ज दे आते है ।"

गाँव का एक और भी आदमी बैठा था । उसने कहा—"आपद-विपद में हाथ फैलाने पर आज तक किसी को साहूजी के यहाँ से खाली हाथ लौटते नही देखा । पुराने युग के आदमी है । इतने बडे महाजन

है, लेकिन कभी किसी पर नालिश नही की आज तक। अदालत जाते हुए डर लगता है। बडे डरपोक और सज्जन है।"

रुपए लौटाने मे मुझे छै महीने लग गए। इन छै महीनो के अन्दर धौताल हमारे महाल की सीमा से भी इसलिए नही गुजरा कि कही मै यह न सोच बैठूँ, वह रुपयो के तकाजे मे इधर आया है। सज्जन और किसे कहते है।

[दो]

साल-भर हो गया, राखाल बाबू के यहाँ नही जा पाया। कटनी के मेले के बाद एक रोज उनके यहाँ गया। मुझे देखकर उनकी स्त्री बड़ी खुश हुई। बोली—"अब आप आते क्यो नही भैया, खोज-पूछ भी नही करते—बन्धु-बांधवहीन जगह मे बगाली के दर्शन होना कठिन ही है—तिस पर अपनी जो हालत है—"

और वह चुपचाप रोने लगी।

मैने एक बार चारो तरफ निगाह दौडाई। घर-द्वार की हालत तो पहले ही जैसी गई-बीती थी, पर अब वैसी बेतरतीब न थी। बडा लडका वही मिस्त्री का काम करता था, मामूली-सा कुछ मिल जाता, इसी से किसी तरह गिरस्ती चलती।

मैने दीदी से कहा—"छोटे लडके को मामा के पास काशी भेज दे। कुछ लिख-पढ लेगा।"

उन्होने कहा—"अपना मामा है कहाँ? ऐसी मुसीबत पडी, दो-तीन खत लिखे, महज दस रुपए भेजकर जो चुप लगा बैठे है, सो डेढ़ साल हो गए, कोई खबर ही नही ली। उससे तो ये मकई काटे, भैस चराएँ, यही अच्छा है, ऐसे मामा के दरवाजे पर जाना अच्छा नही।"

मुझे तुरत लौटना था, मगर दीदी ने आने नही दिया। वे मुझे कुछ बना कर खिलाना चाहती थी—बिना खिलाए नही जाने देने की। लाचारी से इनजार करना पडा। उन्होने मकई के सत्तू मे घी और चीनी

मिलाकर एक तरह का लड्डू बनाया और कुछ हलुआ तैयार करके मुझे खाने को दिया। गरीब के घर मे जितना आदर-सत्कार संभव है, उसमें दीदी ने कोई कोर-कसर नही रक्खी।

बोली—"भादो की मकई मैंने आपके लिए सँजो कर रक्खी थी, क्योंकि आप भुट्टा खाना पसन्द करते है।"

मैंने पूछा—"मकई कहाँ मिली ? खरीदी थी ?"

—नहीं, खेत से चुनकर लाई थी। फसल कट जाने पर किसान जो टूटे-फूटे पेड़ छोड जाते है, गाँव की दूसरी औरतों के साथ उन्हे मै भी बीनने जाती हूँ। उस समय रोज एक-दो टोकरी चुन कर ले आती थी।"

अवाक् होकर मैंने पूछा—"आप खेत मे मकई चुनने जाती थी ?"

—'हाँ, रात को जाया करती थी, किसी को पता भी नही होता। गाँव की कितनी ही औरते जाती है। भादों के महीने मे दस टोकरी से कम तो नही लाई हूँगी भुट्टा।"

बडी तकलीफ हुई। गरीब गगोतिने इधर यह काम किया करती है। राजपूत-छत्री औरते गरीब ही क्यो न हों, खेतो मे फसल चुनने नहीं जातीं। अपनी तरफ की किसी औरत को ऐसा करते सुनने से जी में चोट लग आती। इन अपढ गगोतो के गाँव मे रहकर दीदी ने ऐसा छोटा काम करना भी सीख लिया—इसमे शक नही कि उनकी गरीबी भी इसका एक प्रधान कारण थी। खोल कर कुछ कह नहीं सका, शायद उन्हे दुःख हो। यह गरीब बंगाली परिवार बंगाल की शिक्षा-संस्कृति का कुछ भी न पा सका, कुछ वर्षों मे यह गंगोतों-जैसा हो जायगा—क्या भाषा में, क्या चाल-चलन में और क्या हाव-भाव में। उस राह पर अब भी वह बहुत दूर बढ़ चुका है।

रेलवे स्टेशन से बहुत दूर घनघोर गाँव में मैंने और भी ऐसे एकाध बंगाली परिवार देखे है। ऐसे परिवारों की लडकियों का ब्याह करना कितना दुष्कर काम है, कहा नहीं जा सकता। एक और भी ऐसे बंगाली ब्राह्मण परिवार को मै जानता था—वे लोग दक्खिनी बिहार के एक गँवई

गाँव में रहते थे। बडी ही गई-बीती हालत थी। घर मे तीन-तीन लड-कियाँ, बडी की उम्र इक्कीस-बाईस, मझली की करीब बीस और छोटी की भी सत्रह। इनमें से एक की भी शादी नही हो सकी थी, होने का कोई उपाय भी न था—वैसे इलाके मे जात-गोत के पात्र का प्रवन्ध करना बडा ही कठिन काम था।

बाईस साल वाली लडकी देखने मे सुन्दर थी—बंगला का एक अक्षर भी उसे नही आता था—आकृति और प्रकृति मे ठेठ देहाती बिहारी लडकी—खेत से उड़द की गठरी सिर पर उठा लाती, गेहूँ के भूसे का बोझा ढोया करती।

नाम भी था ध्रुवा—पूरा बिहारी नाम।

उसके पिता यहाँ होमियोपैथी डाक्टरी करने आए थे। फिर जगह-जमीन लेकर खेती-बारी भी करने लगे। डाक्टर साहब चल बसे। बडा लडका खेती-गिरस्ती करने लगा। वयस्का बहनों की शादी की उसने कोशिश तो की ; पर कर नही पाया। दैहेज देने की उसमें हिम्मत नही थी।

ध्रुवा बिलकुल कपाल कुडला थी। मुझे भैया कह कर पुकारती। बहुत ही ताकतवर, आटा और सत्तू पीसने, बोझा ढोने और गाय-भैंस चराने मे कुशल—गिरस्ती के काम-धंधो मे चतुर। उसके बड़े भाई ने यहाँ तक तै किया था कि अगर वैसा कोई पात्र मिल जाय,. तो वे उसी एक को तीनों लड़कियाँ ब्याह देंगे और शायद उन बहनों को भी इस पर एतराज न था।

मैंने मँझली लड़की जवा मे पूछा था—"बंगाल देखने की इच्छा होती है ?"

उसने जवाब दिया था—"नही भैया, वहाँ केरो पानी बड्डी नरम छै—"

सुना था, ध्रुवा को शादी करने की बड़ी इच्छा थी। शायद उसने स्वयं ही किसी से कहा था कि उससे जो ब्याह करेगा, उसे कभी गाय दूहने

वाले और सत्तू पीसने वाली को नही बुलाना पडेगा—वह अकेली ही पाँच सेर सत्तू पीस सकती है ।

हाय री अभागिन बगालिन कुमारी ! इतने वर्षो के बाद निश्चय ही वह आज भी गगोतिन की तरह अपने भैया की गिरस्ती सँवार रही होगी, जौ कूटती होगी और खेत से उडद का बोझा सिर पर ढोकर लाती होगी—बिना दहेज लिए उस देहाती और उतनी बडी लडकी को मगल शख और उलूध्वनि* के बीच पालकी पर व्याह करके अपने घर ले भी कौन गया होगा ।

शान्त मुक्त प्रातर मे जब साँझ उतरती है, तब दूर पहाड पर जो पतली पगडडी जगल की माँग-सी दिखाई पडती है, शायद हो कि आज भी व्यर्थ यौवना गरीब ध्रुवा उसी राह मे इतने दिनो के बाद भी सिर पर लकड़ी का बोझा लिए उसी तरह उतरती है—यह तस्वीर मैंने कितनी ही बार अपनी कल्पना की आँखो से देखी है—और ठीक इसी तरह कल्पना मे देखा है अपनी दीदी, राखाल बाबू की स्त्री को—शायद आज भी वह बूढी गगोतिनो के समान रात को सबकी आँख बचा कर खेत-खलिहानो मे टोकरी लिए भुट्टा बटोरती फिर रही है ।

[तीन]

भानुमती के यहाँ से लौटने के बाद उस बार सावन के बीचो-बीच जोरों की बारिश शुरू हुई । रात-दिन बारिश और बारिश, घने कजरारे मेघों से आसमान ढँक गया । नाढा और फुलकिया बैहार की दिगत रेखा वर्षा से धुँधली हो आई । महालिखा रूप का पहाड कही खो गया—मोहन-पुरा जगल का ऊपरी भाग कभी धुँधला-सा दीखता, कभी नही । सुना, पूरब मे कोसी और दक्खिन मे कारो नदी मे बाढ आ गई है ।

मीलो दूर तक खडे कास और झाऊ के जगल वर्षा के पानी से भीग रहे थे , दफ्तर के बरामदे पर कुर्सी डाले बैठा-बैठा मैं देखा करता,

---

* बगाल मे ब्याह के मौके पर यह शुभ काम अनिवार्य है ।

सामने कसाल के जगल मे झाऊ की डाल पर बैठी सगीविहीन एक पोडकी भीगा करती है, घटो एक-सी बैठी, कभी-कभी डैने झाड़ कर, फैला कर पानी को रोकने की कोशिश करती, कभी यों ही बैठी रहती।

ऐसे दिनो मे कमरे मे बैठ कर समय काटना मेरे लिए असंभव हो उठता। मै घोडा कसवा लेता और बाहर निकल पडता। उस मुक्ति के क्या कहने, जीवन का कैसा उद्दाम आनन्द! चारो तरफ हरियाली का कैसा लहराता समुद्र—वर्षा के आगमन से कसाल के जंगल मे नवीन और सतेज कोपले उभर आई—जहाँ तक भी निगाह जाती, इधर नाढा बैहार और उधर मोहनपुरा जंगल की अस्पष्ट सीमा-रेखा तक हरियाली का वैसा ही अपार सागर—काजल काले मेघों की छाया मे ओदी हवा के झोके से मरकत श्याम तृणभूमि पर लहरो की लीला और इस अथाह-अकूल सागर मे मै जैसे एक अकेला नाविक—जाने किस अजाने बन्दरगाह को निकला हूँ।

मेघ की श्यामल छाया वाली उस खुली तृणभूमि मे मै घोडे को भगाता हुआ मीलो जाता। कभी-कभी सरस्वती-कुड के जंगल मे भी गया। प्रकृति की वह अनोखी सौन्दर्य-भूमि युगलप्रसाद के लगाए तरह-तरह के फूल और लताओ से और भी सुन्दर हो उठी है। यह मैं बिना किसी हिचक के कह सकता हूँ कि सरस्वती-कुड और उसके किनारे के जगल-जैसी सौन्दर्य-भूमि सारे भारतवर्ष मे अधिक नही है। बरसात मे कुड के किनारे-किनारे रेड कैस्पियन का मेला—वाटर क्रोफुट के बडे-बडे नीलाभ श्वेत फूलो से भर गया है तमाम! अभी उस दिन भी युगलप्रसाद कोई वन-बेल लाकर यहाँ लगा गया है। आजमाबाद कचहरी मे वह मुहर्रिर का काम जरूर करता है; पर उसका मन इस कुड के लता-कुज और फूलो पर ही लगा रहता है।

कुड से निकलते ही फिर जगल, फिर हरा-भरा मैदान—वन के ऊपर घने नीले बादलों का जमघट—पानी का सारा बोझ उतार कर

रिक्त होने के पहले ही दौडते आए नए मेघ-पुज—एक तरफ के आकाश मे एक अजीव तरह का नीलापन—उसमे डूबती किरणों से रंग कर मेघ का एक टुकडा वहिर्विश्व के दिगत मे जाने किस अजाने पर्वत-शिखर-सा प्रतीयमान ।

साँझ हो आती । ओर-छोरहीन पुलकिया बैहार मे सियार बोल उठते । एक तो मेघ का अन्धकार, ऊपर से साँझ का घिरता आता अँधेरा—मै घोडे को कचहरी की ओर मोड देता ।

कितनी ही बार इस वर्षा थमी मेघ जमी साँझ के इस मुक्त प्रातर की सीमा-हीनता मे मैने जाने किस देवता के तो स्वप्न देखे—ये बादल, यह सध्या, ये जगल, चीखते हुए सियारो की टोली, सरस्वती-कुड के फूल, मची, राजू पांडे, भानुमती, महालिखा रूप का पहाड, वह गरीब गोंड-परिवार, आकाश, व्योम—ये सभी एक दिन उस देवता की विराट् कल्पना में वीज रूप मे रहे थे, उन्ही के आशीर्वाद से आज की इस नव-नील नीरद माला के समान सारे विश्व को अमृत की धारा से अभिसिंचित करते है—वर्षा की यह साँझ उन्ही का प्रकाश है, यह उन्मुक्त जीवन का आनन्द उन्ही की वाणी है, जो वाणी कि मनुष्य को सचेतन किए देती है । उस देवता से डरने को कोई बात नही—इस पुलकिया बैहार से भी, उस मेघों से भरे विशाल आकाश से भी असीम, अनन्त है उनका प्रेम और आशीर्वाद । जो जितना ही हीन, जितना ही तुच्छ है, उस विराट् देवता का अदेखा प्रसाद और दया उस पर उतनी ही ज्यादा होती है ।

जिस देवता का स्वप्न मेरे मन मे जगता था, वे प्रवीण विचारक, न्याय और दड के कर्त्ता, विज्ञ और बहुदर्शीय अथवा अव्यय, अक्षय जैसे कठिन दार्शनिकता के आवरण वाले ही न थे; बल्कि नाढा बैहार या आज-माबाद के खुले मैदान की गोधूलि-वेला मे रक्त मेघपुज, चाँदनी-स्नात सूने प्रांतर को निहार कर जी में होता कि वही प्रेम और रोमांस है, कविता और सौन्दर्य है, शिल्प और भावुकता है—वे प्राणों से प्यार करते हैं, सुकुमार कलावृत्ति से सृष्टि करते हैं, प्रियजनों की प्रीति के लिए सब प्रकार

से अपने को निःशेष कर देते है—फिर विराट् वैज्ञानिक की क्षमता और दृष्टि से ग्रह-नक्षत्र-नीहारिका की सृष्टि करते है ।

[चार]

सावन के ऐसे ही एक वर्षामुखर दिन मे इसलामपुर कचहरी में धतुरिया हाजिर हो गया ।

बहुत दिनो के बाद उसे देख कर मुझे खुशी हुई ।

—"क्या हाल है धतुरिया तुम्हारे ? मजे मे तो है ?"

जिस छोटी-सी पोटली मे उसकी सारी सासारिक संपत्ति थी, उस पोटली को उतार कर उसने मुझे नमस्कार किया और कहा—"जी बाबूजी, नाच दिखाने आया हूं । बडे कष्ट मे हूँ इन दिनो—महीना बीत गया, कही नाच का डौल नही बैठा । सोचा, आपकी सेवा मे पहुँचूँ, यहाँ निराश न होना पडेगा । इधर और भी अच्छे-अच्छे नाच सीखे है ।"

धतुरिया बडा दुबला हो गया था । तकलीफ हुई देखकर ।

—"कुछ खायगा धतुरिया ?"

लजाकर गर्दन हिलाते हुए उसने 'हाँ' की ।

मैने महाराज को बुलाकर उसे कुछ खाना देने को कहा । भात तो उस समय नही था, उसने उसे दूध और चूडा लाकर दिया । वह जिस तरह खाने लगा, देख कर लगा, कम-से-कम दो दिन से उसे भोजन भी नही नसीब हुआ है ।

साँझ से पहले धतुरिया ने अपना नाच दिखाया । देखने के लिए कचहरी के प्रागण मे बहुत-से लोग जुट गए । नाच मे उसने पहले से ज्यादा तरक्की की थी । उसमे सच्चे कलाकार का दर्द और साधना थी । मैने अपनी तरफ से कुछ दिया, कुछ दूसरे लोगो के चदे से मिला । मगर इतने से उसका कितने दिन निर्वाह चलेगा ?

दूसरे दिन सबेरे वह मुझ से जाने को इजाजत माँगने आया ।

—"बाबूजी, आप कलकत्ता कब जायँगे ?"

—"क्यों, क्या बात है ?"

—"मुझे ले चलेंगे कलकत्ता ? मैंने उस बार जो कहा था ?"

—"अच्छा, तू इस वक्त कहाँ जायगा ? खा-पी तो ले, बाद में कही जाना।"

—"जी, मुझे जाने दे। झल्लूटोला में एक भूमिहार ब्राह्मण के यहाँ शादी है। शायद नाच का ठिकाना हो जाय। इसी कोशिश मे जा रहा हूँ। यहाँ से आठ कोस है। अभी से चलूँगा, तब कही शाम—शाम तक पहुँच पाऊँगा।"

धतुरिया को जाने देने की इजाजत देने को जी नही चाह रहा था। मैंने पूछा—"अगर तुझे थोडी-सी जमीन दूँ, तो रहेगा यहाँ ? खेती-बारी करना—रह जा।"

देखा, धतुरिया मटुकनाथ पडित को भा गया है। उसकी इच्छा, उसे अपनी पाठशाला मे दाखिल करने को थी। बोला—"आप इससे कहे हुजूर, दो साल मे मुग्धबोध खत्म करा दूँगा। यह रह जाय यही।"

जमीन की चर्चा पर धतुरिया बोला—"बाबूजी, आप मेरे बड़े भाई के समान है, मुझ पर आपकी बडी कृपा है ; लेकिन यह खेती भला मुझसे हो सकती है ? मेरा जरा भी जी नही लगेगा। नाच मे मुझे खुशी होती है, दूसरा काम अच्छा नही लगता।"

—"समय-समय पर नाचा भी करना। आखिर जमीन के साथ तुझे जंजीर से थोडे ही बाँध दिया जायगा ?"

धतुरिया खुश हो गया। बोला—"आपकी आज्ञा जैसी होगी, करूँगा। आप मुझे बड़े भले लगते है। झल्लूटोला से लौटूँ तो यही आऊँगा।"

मटुकनाथ ने कहा—"उसी समय तुम्हें पाठशाला मे भी भर्त्ती कर लूँगा। न हो, तो रात को आकर पढ़ा करना। मूरख रहना भी कोई काम है, कुछ व्याकरण, कुछ काव्य का ज्ञान जरूरी है।"

उसके बाद धतुरिया ने नृत्य-कला पर जाने क्या-क्या कहा, मैं ज्यादा समझ न सका। पूर्णियाँ के 'हो-हो' नाच की शैली से धरमपुर के उसी

नाच का कहाँ फर्क पडता है, उसने हाथ की कोई नई मुद्रा निकाली है..... आदि-आदि।

—"बाबूजी, बलिया जिले में छठ-त्योहार के समय आपने औरतों का नाच देखा है ? उस नाच से छोकडा नाच का एक बात में बड़ा सादृश्य है। आपके यहाँ कैसा नाच होता है ?"

कटनी के मेले मे पिछले साल मैंने जो माखनचोर नटुआ का नाच देखा था, उसके बारे में बताया। हँसकर धतुरिया ने कहा—"वह बेकार है बाबूजी, मुगेर का गँवई नाच है—गगोतों को फुसलाने का नाच। उसमे खास बात नही—सीधा है, बिलकुल आसान।"

मैंने कहा—"तू जानता है ? दिखा तो नाच कर।"

धतुरिया अपने फन में पक्का था। सचमुच ही वह 'माखनचोर नटुआ' का नाच बढिया नाच गया—वैसा ही लडकों-सा रोना, चुराए मक्खन को बॉटने की वही अदा—बिलकुल वही। इसे वह फब भी गया खूब, क्योंकि यह बालक था।"

धतुरिया चला गया। जाते समय बोला—"मुझ पर जब आपने इतनी दया ही दिखाई है, तो एक बार कलकत्ता ही क्यों नही ले चलते बाबूजी ? वहाँ नाच की कद्र है।"

धतुरिया से यही मेरी आखिरी मुलाकात थी।

दो महीने बाद कटोरिया स्टेशन के पास रेलवे लाइन पर एक बालक की लाश पाई गई—सबने पहचाना, वह लाश नटुआ बालक धतुरिया की थी। यह आत्महत्या थी या दुर्घटना, नही कह सकता। अगर आत्महत्या थी, तो किस दुख से उसने ऐसा किया ?

दो साल इस इलाके में रहते हुए जितने लोगो के संपर्क में मै आया, उन सब में धतुरिया की प्रकृति बिलकुल अलग थी। उसमें जो एक निर्लोभ, सदा चंचल, सदानन्द, निर्वैषयिक सच्चे कलाकार के मन का परिचय पाया था, वह इस जगली इलाके ही में क्यों, सभ्य इलाके के मनुष्यों मे भी सुलभ नहीं !

[पाँच]

और भी तीन साल निकल गए।

नाढा बैहार और लवटोलिया का सारा जंगल-महाल बन्दोबस्त के लिए दे दिया गया। पहले-सा जगल अब कही नही रहा। वर्षो मे प्रकृति ने एकांत निर्जन मे जिन कुजो की रचना की थी, कितने लता-वितान, कितनी स्वप्न-भूमि संजोई थी—मजदूरो के कठोर हाथों से सब गायब हो गए। जो पचास साल मे बन कर तैयार हुआ था—एक दिन मे वह नष्ट हो गया। अब कही ऐसा दूर विस्तृत प्रातर नही रह गया, जहाँ चाँदनी रात मे माया परियाँ उतरे, दयालु टाड़बारो हाथ उठाकर जगली भैंसो को मरने से बचाए!

नाढा बैहार का तो नाम ही उठ गया, लवटोलिया अब महज एक बस्ती रह गई। जिधर आँख जाती है, फूँस के छप्पर है—कसाल की छोनोवाले घर है—गदे, बदसूरत। घिचपिच घनी आबादी—टोले-टोले का विभाजन—खाली जगहों मे खेत। जरा-से खेत के चारों ओर काँटो का घेरा। धरती के मुक्तरूप को काट-काट कर टुकडो मे बाँट कर लोगों ने बर्बाद कर दिया।

एक ही जगह बच रही थी—सरस्वती-कुड की वन-भूमि।

नौकरी के रहते हुए, मालिक के स्वार्थ के नाते सारी जमीनों को रैयतो मे बाँट जरूर दिया, मगर युगलप्रसाद के हाथों से सँवारी सरस्वती-कुड की उस वन-भूमि को व्यवस्थित नही कर सका। बार-बार जाने कितने लोग कुड के किनारे की जमीन के लिए आए, ज्यादा सलामी देने को भी तैयार हुए, क्योकि एक तो वह जमीन ही काफी उपजाऊ थी, दूसरे पास मे पानी रहने से मकई आदि ज्यादा होने की गुजाइश थी; मगर मैं किसी भी तरह उस जमीन की नाप-जोख करने को राजी न हुआ।

मगर उसे और कितने दिनों तक बचा पाऊँगा। सदर के तकाजों के मारे नाक मे दम। क्या वजह है कि मै कुड के पास की जमीन में

देर लगा रहा हूँ ? यह-वह कारण बताकर अब तक तो उसे रक्खा ; पर अब उपाय नही रह गया था। मनुष्य के लोभ की हद नही, मै जानता हूँ कि दो भुट्टो और कट्ठा-पर चीना की फसल के लिए वैसी स्वप्न-भूमि को नष्ट करते उन्हें हिचक नही होगी। खासकर इधर के लोग तो पेड-पौधों की सुन्दरता को जानते ही नही, मनोरम भूमि की महिमा को देखने की आँखें ही नही हैं—वे तो खा-पीकर पशु की तरह जीना ही जानते है। और कोई देश होता, तो ऐसे स्थानों को सौन्दर्य-पिपासु प्रकृति-रसिक लोगो के लिए बचा कर रखता—जैसा कि कैलिफोर्निया मे योसेमाइ नैशनल पार्क रक्खा गया है। दक्खिन अफ्रीका मे जैसा कि क्रूगर नैशनल पार्क है—बेलजियन कागो में पार्क नैशनल अल्बर्ट है। हमारे जमीदार वह लैंडस्कोप नहीं समझने के, ये तो जानते है सलामी, मालगुजारी, अदा-इरशाल, हस्तबुद।

जन्मांधों के ऐसे देश में, नही जानता, युगलप्रसाद ने कैसे जन्म ले लिया—केवल उसी के नाते कुड की वन-भूमि को मै आज तक बचाता चला आया हूँ।

मगर और कब तक ?

खैर, अब मेरा भी काम समाप्त हो गया।

तीन साल से बंगाल नही गया, वहाँ के लिए कभी-कभी जी बडा मचल पड़ता। मानो सारा बंगाल ही मेरा घर हो—तरुणी कल्याणी बहुएँ जहाँ अपने हाथों साँझ की बाती जलाती हैं—यहाँ-जैसा उदास और दरिद्री जंगल नही, जिसे नारी के हाथों का स्पर्श ही नसीब नहीं।

क्यो तो मन मे आनन्द की बाढ़-सी आ गई, पता नहीं। चाँदनी रात थी—घोड़ा कसा और सरस्वती-कुड की ओर चल पडा। नाढ़ा बैहार और लवटोलिया का जंगल खत्म हो आया था, जंगल की शोभा और निर्जनता जो थोड़ी-सी बच रही थी, वह सरस्वती-कुड के ही किनारे। मुझे लगा, इस आकस्मिक आनन्द को उपभोग करने की वही एक जगह रही है, वही इसकी उपयुक्त पृष्ठभूमि है।

चाँदनी मे कुड का पानी झलमला रहा था, और केवल झलमला ही नही रहा था, बल्कि लहर-लहर पर चाँदनी मानो टूटी पड रही थी। निस्तब्ध पेड़ों की भीड कुड के तीन तरफ खडी, जगली लाल बत्तखों की काकली, जगली हरसिंगार की खुशबू—जेठ का महीना था ; पर हर-सिगार यहाँ बारहो महीने खिलते—

कुछ देर तक कुड के किनारे घोडे पर इधर-से-उधर घूमता रहा। पानी मे कमल खिले थे, किनारे की ओर वाटरक्रोफुट और युगलप्रसाद के लाए हुए स्पाइडर लिली की झाडियाँ फैली थी। कितने दिनों के बाद अपने घर जा रहा हूँ, इस वनवास से मुक्ति मिलेगी, वहाँ बंगाली स्त्री के हाथो का भोजन मिलेगा, कलकत्ता मे एकाध दिन थिएटर-बाइस्कोप देखूँगा, कितने दिनों के बाद बंधु-बाधवों से फिर भेंट होगी !

धीरे-धीरे उस अनुभूत आनन्द की बाढ़ मेरे मन के तटो को प्लावित करती हुई हिलोरे लेने लगी। अद्भुत योगायोग—इतने दिनो के बाद देश लौटना, सरस्वती-कुड का चाँदनी से चमकता हुआ पानी और फूलों की शोभा, जंगली हरसिगार की चाँदनी से धुली भीनी महक, शांत स्तब्धता, अच्छे घोड़े की कैटव चाल और हू-हू करती हुई हवा—सब मिलकर एक सपना ! सपना ! आनन्द का गाढा नशा। जैसे मैं यौवनोन्मत्त देवता होऊँ—बाधा-बधनहीन गति से समय की सीमा को पार कर रहा हूँ—यह सफर ही मानो मेरे अदृष्ट की विजयलिपि, मेरा सौभाग्य, मेरे प्रति किसी प्रसन्न देवता का आशीर्वाद हो !

शायद फिर लौट न सकूँ—वहाँ जाकर मर भी तो सकता हूँ। सर-स्वती-कुड विदा ! अलविदा किनारे की तरु पंक्तियो ! अलविदा चन्द्रा-लोकित वन ! कोलाहल मुखर कलकत्ता के राजपथ पर खडे-खड़े तुम लोगों की याद आयगी—जीवन की वीणा की हल्की झंकार की नाई—याद आयगी। युगलप्रसाद के लाए हुए पेड़ो की बात, किनारे के कमल और स्पाइडर लिली का यह वन, तुम्हा` इस जंगल की घनी डाल पर सूने मध्याह्न मे पोडकी की पुकार, अस्त मेघों की छाया से रँगी

हुई मैना काँटा की डाले—तुम्हारी नीली जलराशि के ऊपर के नील गगन मे उड़ती हुई सिल्ली और लाल बत्तखों की पंक्ति—किनारे के कीचड पर हिरनौटे के पाँव के निशान—सूनापन, निर्जनता ! अलविदा सरस्वती-कुड !

लौटते वक्त कुड से एक मील के फासले पर देखा कि जगल काट कर घर बसाए गए है। इसका नाम नया लवटोलिया पडा है—जैसा न्यू साउथ वेल्स या न्यू यार्क। जंगल की लकडियाँ काट कर (पास मे बड़ा जगल नही था, इसलिए लकडियाँ सरस्वती-कुड के ही जगल से लाई गई होगी।) नए परिवार ने घास की छौनी डाल कर कुछ छोटे-छोटे झोपडे बाँधे है। उसी की ओदी जमीन पर नारियल या सरसो के तेल की गर्दन टूटी बोतल, घुडकता हुआ एक काला-कलूटा बच्चा, सिहोडे की बारीक डालो से बनी टोकरी, मोटा चाँदी का अनत पहने यक्ष-जैसी काली हट्टी-कट्टी बहू, एकाध पीतल के लोटे और थालियाँ और कुछ हँसिए, खती, कुदाली—इन्ही चीजो से इनकी गिरस्ती चलती है। न केवल न्यू लवटोलिया मे, बल्कि इस्माइलपुर और नाढा बैहार मे तमाम न जाने कहाँ से उजड कर आए हुए लोग बस गए है, न तो उनके बाप-दादो का घर है, न उन्हे गॉव या घर की ममता है, न ही है अड़ोसी-पडोसी का नाता नेह—आज इस्माइलपुर के जगल मे तो कल मुगेर के चौर मे और परसो जयती पहाड की तराई में—जहाँ देखो, वही, तमाम उनके घर।

जानी-पहचानी-सी आवाज मिली। देखा, ऐसे ही एक गृहस्थ के घर बैठ कर राजू पाडेय धर्मतत्त्व की चर्चा कर रहा है। मै घोडे से उतरा। सबने खातिर से मुझे बिठाया। राजू से पूछने पर पता चला, वह इलाज के सिलसिले मे वहाँ गया था। फीस मे चार कट्ठा जौ और आठ पैसे मिले। इसी मे उसकी खुशी की सीमा न थी—बैठ कर धर्मतत्त्व की आलोचना मे व्यस्त हो गया था।

मुझसे बोला—"बैठिए बाबूजी, एक बात का निबटारा कर दीजिए

आप। अच्छा, धरती का कही अन्त है? मैंने तो कहा, जैसे आकाश का अन्त नही, वैसे ही धरती का भी अन्त नहीं। ठीक है न बाबूजी?"

मुझे क्या पता था कि टहलने के सिलसिले में ऐसे पेचीदे मसले का सामना भी करना पडेगा। यह तो खबर थी कि राजू का दिमाग बराबर ऐसे ही जटिल तत्त्वो मे उलझा रहता है और उन समस्याओं का हल करने मे वह अपने मौलिक चितन का परिचय बराबर दिया करता है, जैसे, इन्द्रधनुष दीमक की टीले से उगता है, नक्षत्र यम के अनुचर हैं, वे यम के आदेश से इस बात की छान-बीन करते है कि आदमियों की संख्या किस अनुपात में बढ रही है। आदि-आदि।

धरती के बारे मे अपनी जो जानकारी थी, मैंने बताई। राजू ने पूछा—"अच्छा, सूरज पूरब मे क्यों उगता है और पश्चिम मे क्यो डूबता है? सूरज किस सागर से उगता और किस सागर में डूबता है, यह आज तक कोई ठीक-ठीक क्यो नही बता सका है? किया है इसका निराकरण? राजू ने संस्कृत पढी थी, निराकरण शब्द के व्यवहार से गंगोते और उनके परिवार के लोग प्रशंसा-भरी मुग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे और यह भी सोचा कि अंग्रेजीदॉ बंगाली बाबू की वैदजी ने खूब काबू मे किया है! गए बेचारे बंगाली बाबू!"

मैंने कहा—"राजू, यह आँखो का भ्रम है। वास्तव में सूरज कही जाता नही, वह जहाँ-का-तहाँ रहता है।

राजू अवाक् मेरी तरफ ताकने लगा। गंगोते लोग व्यग से हा-हा करके हँस पडे। हाय गैलीलियो! इसी नास्तिक विचार विमूढ दुनिया मे तुम कैद किए गए थे?

अचरज का पहला आवेग कम हो जाने पर राजू ने पूछा—"सूरज नारायण पूरब के उदयगिरि में नही उगते और पच्छिम सागर मे नहीं डूबते?

मैंने कहा—"नही।"

—"अंग्रेजी किताब मे ऐसा लिखा है?"

—"हाँ।"

ज्ञान मनुष्य मे ओज लाता है। जिस शांत और निरीह राजू पांडेय के मुँह से कभी ऊँची आवाज नहीं सुनी थी, वह जोर से और दर्द के साथ बोला—"झूठ बात है बाबूजी। उदयगिरि की जिस गुफा से सूरज नारायण रोज उगा करते है, मुगेर के एक साधु उसे एक बार देख आए थे। बडी दूर चल कर जाना पड़ता है, पूरब की आखिरी सीमा पर वह पहाड़ है, गुफा के दरवाजे पर पत्थर के द्वार है, उसी मे उनका अभ्र रथ रहता है। हर किसी को उसके दर्शन थोडे ही नसीब होते है ? बडे-बड़े साधु-महथो को ही यह सौभाग्य मिलता है। वह साधु रथ के अभ्र की एक टुकड़ी माथ ले आया था—चकमक-चकमक, मेरे गुरुभाई कामताप्रसाद ने अपनी आँखो से देखा था।"

कहकर राजू ने एक बार गर्व के साथ गंगोतों की तरफ आँखें घुमाई।

उदयगिरि की गुफा से सूर्योदय का इतना बडा और ठोस प्रमाण दे देने के बाद मुझे उस दिन सुन्न घसीट जाना पडा।

———

सोलहवाँ परिच्छेद

[एक]

एक दिन मैंने युगलप्रसाद से कहा—"चलो महालिखारूप के पहाड़ पर कुछ नए पेड-पौधो की खोज-बीन करे।"

उत्साह के साथ उसने कहा—"उस पहाड पर एक खास तरह की लत्तड पाई जाती है, जो और कही नही मिलती। इधर के लोग उसे चीहड कहते है। चलिए, खोज देखे।"

रास्ता नाढा बैहार की नई बस्तियो के बीच से पड़ता था। इतने ही दिनों मे एक-एक सरदार के नाम पर टोलो के नाम रखे जा चुके—झल्लू टोला, रूपदास टोला, बेगम टोला। ओखली में नाज कूटे जाने की धपाधप आवाज, फूँस के छप्परों से उठते हुए धुएँ की कुडली—रास्ते के किनारे नंग-धड़ंग काले-काले बच्चो की धूल-बालू से खेल-कूद।

बैहार के उत्तर अभी भी घना जगल रह गया था, लेकिन लव-टोलिया में नाम को भी जगल न था। बैहार के जगल का तीन-चौथाई हिस्सा खत्म हो चुका था, केवल उत्तरी छोर पर हजार दो-एक बीघे बच रहे थे, जिनका बन्दोबस्त नही हो सका था। युगलप्रसाद को इसकी काफी कचोट थी।

उसने कहा—"इन गगोतों ने सब बर्बाद कर दिया बाबूजी! कम्बख्तों के घर-द्वार हई नही, खानाबदोश है—आज यहाँ, कल वहाँ। ऐसे सुन्दर जंगल को चाट गए!"

मै बोला—"उन बेचारों का कुसूर नही है युगल! जमीदार अपनी जमीन को यों कैसे छोड दे, सरकारी कर चुकाना पड़ता है, गाँठ से कब तक भरा करे? इन्हें तो जमींदार ने बसाया है, नका क्या दोष?"

—"मगर सरस्वती-कुड न दे हुजूर—बडे-बडे कष्ट झेलकर पेड़-पौधे वहाँ लगाए है—"

—"मेरे करने से क्या हो सकता है! इतने दिनो तक उसे बचा कर रख सका, यही गनीमत समझो। इधर रैयत, वहाँ की जमीन के लिए रोज जोर मार रही है।"

हमारे साथ दो-तीन प्यादे थे। हमारी बातो का उन्होने मतलब न समझा और मुझे उत्साह देने के लिए कहा—"आप जरा भी फिक्र न क हुजूर! रबी की फसल कट जाने दे, वहाँ की एक इच जमीन भी यो नही पडी रहेगी।"

महालिखारूप का पहाड नौ मील पर था। मेरे दफ्तर वाले कमरे से वह धुँधला-सा दीखा करता। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते दस बज गए।

कैसी सुनहली धूप और वैसा निखरा नीला आकाश था उस दिन! ऐसा नीला आसमान पहले कभी देखा था—जैसा आकाश कभी-कभी ऐसा नीला होता है! धूप की कैसी अनोखी छटा, नीला आसमान मानो शराब के नशे से मन को मतवाला किए देता हो। धूप कोमल पल्लवों पर पड कर और भी निर्मल दीखती। खोता उजड जाने से नाढा बैहार और लवटोलिया की सारी चिडियाँ कुछ तो सरस्वती-कुड वाले वन मे, कुछ यहाँ और मोहनपुरा के जगल मे जा पहुँची है—उनकी न रुकने वाली चहक!

घना जगल। ऐसे घने जगलो मे, मन मे एक अनोखी शाति और स्वच्छद स्वाधीनता का भाव भर आता है—कितने पेड, कितनी शाखाएँ, कैसे-कैसे फूल—यहाँ-वहाँ बिखरी चट्टाने—जी चाहे जहाँ बैठ रहो, सो जाओ, पियार के पेडो की घनी छाँह मे जीवन के अलस क्षणो को काट दो—यह विशाल अरण्य-भूमि तुम्हारी थकी हुई स्नायुओ को शाति देगी।

हम पहाड पर चढने लगे। बडे-बडे पेडों ने सूरज की रोशनी को अपने ऊपर ले लिया था। छोटे-छोटे झरने कल-कल करते हुए जंगल में

उतर रहे थे—हर्र के पेड, केलिकंदब के सगवान जैसे बडे-बड़े पत्तों मे हवा रुक रही थी और सनसनाहट हो रही थी।

मैंने कहा—"युगलप्रसाद, चीड फल के पेडों को ढूँढ निकालो।"

चीड के पेड और बहुत ऊपर जाने पर मिले। कमल-जैसे उसके पत्ते, मोटी काठ की-सी लता आँकी-बाँकी होकर दूसरे पेडो पर जा चढी थी। सेम-जैसे उसके फल, मगर सेम के दोनो छिलके कटकी चप्पल-जैसे बडे होते है—वैसे ही कडे और चौडे, भीतर मे गोल-गोल बीज। हमने लता-पत्ते की आग मे भून कर उन बीजो को खाकर देखा, आलू-जैसा स्वाद।

बडी दूर तक पहाड पर चढ गया। वह वहाँ मोहनपुरा जगल—दक्खिन मे अपना गाँव और वह वहाँ सरस्वती-कुड का जगल दिखाई दे रहा है। वह रहा नाढा बैहार का बाकी चौथाई जगल—वह दूर पर मोहनपुरा रिजर्व फारेस्ट की पूर्वी सीमा से सट कर कोमी नदी बह रही है—नीचे के समतल का दृश्य ठीक तसवीर जैसा दिखाई पड रहा है!

—"मोर! मोर हुजूर, यह देखिए!"

माथे के पास ही डाल पर बैठा एक बहुत बडा मोर। प्यादे के पास बंदूक थी। वह निशाना ठीक करने लगा। मैंने मना कर दिया।

युगलप्रसाद ने कहा—"इस पहाड पर कही कोई गुफा है बाबूजी, उसकी दीवारों पर चित्र बने है, पता नही कब के बने है चित्र, उसी गुफा को ढूँढ़ रहा हूँ।"

शायद गुफा मे पत्थरों की दीवार पर प्रागैतिहासिक युग के मनुष्य के बनाए चित्र हों। धरती के इतिहास के लाखों-लाख बरस की यवनिका क्षण-मात्र मे उठकर समय के बहाव में हमें जाने कहाँ पहुँचा देगी!

प्रागैतिहासिक युग की उस गुफा की तसवीरों को देखने के आग्रह से हम खाक छानते फिरे—वह गुफा मिल भी गई; मगर इतना घुप अँधेरा था उसके अन्दर कि घुसने का साहस ही न हुआ। घुस भी जाता, तो उस अँधेरे में देख क्या पाता। आज रहे, फिर कभी सरो-सामान

के साथ आया जायगा। आखिर अँधेरे में शंखचूड़ और चन्द्रबोड़ा जैसे विषधर साँपों के हाथों जान कौन गँवाए? ऐसी जगहों में इन साँपों की कमी नही।

मैंने युगल से कहा—"देखो, कुछ नए-नए किस्म के पेड़-पौधे इस जंगल में लगाओ। पहाड़ के जंगल को कोई कभी नहीं काटेगा। लवटोलिया गया और अब सरस्वती-कुड का भी भरोसा छोड दो—"

वह बोला—"बजा फरमाते है हुजूर—बात जँचती है; किन्तु आप तो आएँगे नही, सब-कुछ अकेले ही करना पडेगा।"

—"बीच-बीच मे मै देख जाया करूँगा। तुम लगाओ।"

महालिखारूप का पहाड कोई एक पहाड न था, एक पर्वतमाला कहिए, कही भी डेढ़ हजार फुट से ज्यादा ऊँची नही। हिमालय के नीचे की पर्वत-पक्ति की ही एक शाखा, यद्यपि तराई प्रदेश के जंगल और हिमालय यहाँ से सौ-डेढ-सौ मील पर थे। पहाड पर से नीचे की समतल भूमि को देखने से ऐसा लगता कि कभी प्राचीन युग का महासागर इस बालुकामय उच्च तट पर पछाड़े खाता था, गुफा मे रहने वाले मानव तब भविष्य के गर्भ मे सोए थे और तब महालिखारूप का यह पहाड़ उस सुप्राचीन महासागर की बालुकामय भूमि था।

युगलप्रसाद ने कोई आठ-दस प्रकार के ऐसे लता-पेड दिखाए, जो कि नीचे के जंगलों मे नही मिलते। पहाड़ के वन की प्रकृति ही और तरह की होती है—पेड-पौधे भी जुदा ढंग के होते है वहाँ के।

शाम होने को थी। जाने कैसे वनफूल की-सी खूब महक मिलने लगी—बेला बीतने के साथ-साथ वह गंध और गाढी होती गई। डालों पर पोंडकी, वनसुग्गे और हरेटी के कूजन।

बाघ का खतरा था, सो साथ के लोग नीचे उतरने के लिए उतावले हो उठे; वरना उतरती हुई संध्या की घनी छाँह मे निर्जन पहाड़ की वन-भूमि में जो स्निग्ध शोभा निखर आई, उसे छोड कर आने को जी नहीं चाह रहा था।

मुनेश्वरसिंह ने कहा—"हुजूर, यहाँ मोहनपुरा से भी बाघ का डर ज्यादा है। जो यहाँ लकडियाँ चुनने आते हैं, वे दोपहर के बाद ही उतर पड़ते हैं। जो आते हैं, वे जमात बाँध कर ही आते हैं—अकेले कोई आता भी नही। बाघ है, विषधर साँप है—जरा जंगल को देखिए, किस कदर घना है।

लाचार होकर हम उतरने लगे। केलिकदंब के बडे-बड़े पत्तो की ओट मे शुक्र और बृहस्पति झलमला रहा था!

[दो]

एक दिन देखा, एक नए गृहस्थ के घर के बरामदे पर स्कूल मास्टर गनोरी तिवारी सखुए के पत्ते पर सत्तू सान कर मजे मे चट किए जा रहा है।

—"अरे, हुजूर! अच्छे तो है आप?"

—"मजे मे हूँ। तुम कब आए? कहाँ रहे अब तक? ये लोग तुम्हारे कोई लगते है क्या?"

—"जी, ये लोग कुछ भी नही लगने। यहाँ से होकर गुजर रहा था, रात हो आई थी। ब्राह्मण है ये, इसी से यही रुक गया। जान-पहचान नहीं थी, अभी हुई है।"

मकान-मालिक ने आगे बढ़कर मुझे नमस्कार किया। बोला—"आइए, बैठिए हुजूर!"

—"बैठने का समय नही है। ठीक ही हूँ। जमीन लिए कितने दिन हुए?"

—"दो महीने हुए। अभी सारे खेतो को जोत भी नही सका हूँ।"

एक छोटी-सी बच्ची गनौरी तिवारी को तीन-चार मिर्च दे गई। वह उडद का सत्तू खा रहा था, नमक और मिर्च के साथ। मै समझ नही सका कि सत्तू का उतना बडा लौदा दुबले गनौरी तिवारी के किस पेट मे अँटेगा! गनौरी असली खानाबदोश है। जहाँ बैठा वह खा रहा

था, उसके पास ही मैले कपड़े की एक पोटली पड़ी थी, एक गिलाफ यानी बालापोश जैसा पतला ओढना। देखते ही मै भॉप गया—यह गनौरी तिवारी का है और ससार मे यही उसका सर्वस्व है। मैंने उससे कहा—"गनौरी, अभी तो फुर्सत नही, तुम फिर कचहरी मे आना।"

तीसरे पहर गनौरी आया।

मैंने पूछा—"कहॉ थे तुम ?"

—"मुगेर के गाँवो मे घूमता रहा हुजूर—बहुत-बहुत गॉव घूमे।"

—"घूम कर क्या करते रहे ?"

—"लडको को पढाया करता था पाठशाला खोल कर।"

—"चली नही कोई पाठशाला ?"

—"दो महीने से ज्यादा कोई न चली। शुल्क ही नहीं देते लड़के।"

—"ब्याह-शादी की या नही ? उम्र क्या हुई तुम्हारी ?"

—"अपना ही गुजारा नही चलता, ब्याह क्या करूँ हुजूर! उम्र चौंतीस-पैंतीस की हुई होगी।"

गनौरी-जैसे गरीब इधर कम ही है। मुझे याद आया, एक बार वह बिना न्योते के ही भात खाने के लिए मेरे यहॉ आ पहुँचा था, शुरू-शुरू मे जब मै यहॉ आया था। अब जाने कब से उसे भात नहीं नसीब हुआ है। गगोतों का अतिथि बन-बन कर उड़द का सत्तू खाता फिरता है।

मैंने कहा—"रात को यही भोजन करना। कंटू मिश्र पकाता है, उसके हाथ की रसोई खाने मे तुम्हें आपत्ति तो नहीं होगी ?"

गनौरी बहुत खुश हुआ। भरपेट हँस कर बोला—"कंटू तो अपनी ही जाति का है, पहले भी मै उसके हाथ का खा चुका हूँ—आपत्ति क्या होगी ?"

उसके बाद बोला—"जब आपने ब्याह की चर्चा उठाई ही है हुजूर, तो कह दूँ आपसे। पिछले साल सावन मे एक गॉव मे मैंने पाठशाला खोली। गॉव मे अपनी ही जाति के ब्राह्मण की एक घर था। उसी के

यहाँ रहा। उसकी लडकी से मेरी शादी की बात पक्की हो गई, यहाँ तक कि मुगेर से मै एक अच्छी-सी मिरजई भी खरीद लाया—मुहल्ले के लोग चिल्ल-पो करने लगे। कहा—"यह गरीब स्कूल मास्टर है, घर-द्वार का ठिकाना नही, इसे क्या लड़की ब्याहोगे। टूट गया ब्याह। मै वहाँ से चल भी दिया।"

—"लड़की को देखा था तुमने? अच्छी थी?"

—"देखता नहीं? बड़ी अच्छी थी देखने मे। मुझसे उसे ब्याहते भी क्यों? ठीक ही तो है, मुझे है क्या?"

समझा, ब्याह टूट जाने से गनौरी बड़ा दुखी हुआ है। लड़की उसे जॅच गई थी।

उससे देर तक बातें होती रही। उसकी बातो से ऐसा लगा, जिदगी ने उसे कुछ भी नही दिया, दो मुट्ठी दाने के लिए यहाँ से वहाँ सदा भटकाती रही उसे! वह भी उससे न जुट सका। गंगोतो के दरवाजे-दरवाजे घूम कर ही उसने आधी जिन्दगी गुजार दी।

बोला—"इसीलिए बहुत दिनों के बाद लवटोलिया आया हूँ। सुन रक्खा था, यहाँ बहुत सारी नई बस्तियाँ बस गई है। वह जंगल नही रहा। आया, अगर यहाँ पाठशाला चला सकूँ। नही चलेगी हुजूर?"

मैंने सोच लिया, एक पाठशाला खोल कर गनौरी को उसमे लगा दूँगा। बहुत-से बच्चे यहाँ आए हैं। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करना मेरा ही तो कर्त्तव्य है। खैर, देखूँ क्या कर सकता हूँ।

[तीन]

अनोखी चाँदनी रात। राजू पांडेय और युगलप्रसाद गप लड़ाने को पहुँचे। कचहरी से कुछ ही दूर पर एक नई बस्ती बसी थी, वहाँ का भी एक आदमी आया। चार ही दिन हुए है कि वे छपरा से यहाँ आए है।

वह आदमी अपनी रामकहानी सुना रहा था कि बीबी-बच्चे लेकर

कहाँ-कहाँ की खाक छानी, कितने चौर और जगल मे कितनी बार घर-बार बसाया। कही तीन साल, तो कही दस साल---एक जगह दस साल रहा था कोसी नदी के किनारे। कही कोई तरक्की न कर सका। अब यहाँ आया है, अपनी उन्नति की आशा मे।

इन यायावर गृहस्थो की जिन्दगी भी अजीब होती है! इनसे मैने बाते करके देखी है—इनके जीवन बिलकुल मुक्त और बधनहीन होते है---न तो इनका कोई समाज है, न कोई सस्कार ; अपने पुश्तैनी घर की ममता भी इनमे नही, खुले आसमान के नीचे अपनी दुनिया बसा कर ये जंगल, पहाडो के बीच की उपत्यका, नदियों के चौरों मे रहा करते हैं। आज यहाँ, तो कल वहाँ।

इनके प्रेम-विरह, जीवन-मृत्यु, मेरे लिए सभी नए और अजीब-से है, मगर सब से अजीब मालूम हुई इस आदमी की तरक्की की उम्मीद।

समझ नही सका कि इस बैहार मे महज दस-पाँच बीघे मे गेहूँ पैदा करके यह कौन-सी तरक्की की उम्मीद करता है!

उसकी उम्र पचास से ज्यादा हो चुकी थी। नाम था बलभद्र सेगाई। जात का कलवार। इस उम्र मे भी उसे उन्नति करने की उम्मीद रह गई थी!

मैने पूछा—"इसके पहले कहाँ थे बलभद्दर?"

—"मुगेर के एक दीयरे मे था हुजूर। दो साल रहा वहाँ। उसके बाद मकई की फसल मारी गई। वहाँ आगे उन्नति की कोई आशा न दीखी। हुजूर, संसार में अपनी उन्नति की कोशिश हर कोई करता है। अब देखूँ, हुजूर के आश्रय में—"

राजू पांडेय ने बताया—"जब मै यहाँ आया था, मेरे पास छै भैसें थीं---आज दस है। लवटोलिया उन्नति की जगह है—"

बलभद्र बोला—"मुझे भी एक जोड़ा भैस ले देना पांडेजी! अब की उपज हो, उस रुपए से भैस खरीदनी ही पड़ेगी—बगैर भैस के उन्नति नही होती।"

गनौरी इनकी बातें सुन रहा था। उसने भी कहा—"बात सही है। एकाध भैंस खरीदने की इच्छा अपनी भी है। जरा कही जम जाऊँ"—

चाँदनी में महालिखारूप के पेड़-पौधे और उसके भी पीछे धनझरी गिरिमाला धुँधली-सी झलक पडी थी। थोडी-बहुत सर्दी-सी थी, इसलिए आग जलाई गई थी। आग की एक तरफ बैठे थे राजू पांडे और युगलप्रसाद, दूसरी तरफ बलभद्र और तीन-चार नए रैयत।

इनकी वैषयिक उन्नति की बातचीत मेरे लिए कैसी अनोखी थी! उन्नति की इनकी धारणा कुछ बहुत ऊँची नही, छै भैंसो की जगह दस या बहुत जोर मारा तो बारह भैंसे—इस दुर्गम जगल और पहाडियों से घिरे इलाके मे भी मानव-मन की आशा-आकाक्षा क्या होती है, इसे जानने का सुअवसर पाकर यह चाँदनी रात ही मेरे लिए अपूर्व रहस्यमय हो उठी। और केवल चाँदनी रात ही क्यो, महालिखारूप का वह पहाड, दूर की वह धनझरी की पहाड़ियाँ, उनके ऊपर की वनपंक्ति, सब रहस्यमय लगीं।

केवल युगलप्रसाद इन सासारिक बातो से सम्बन्ध नही रखता। वह एक विशेष प्रकार का व्रात्य मन लेकर इस दुनिया में आया है—जमीन-जायदाद, गाय-भैंस-आलोचना न तो उसे पसन्द है, न ऐसी चर्चा मे वह सम्मिलित ही होता है।

उसने कहा—"सरस्वती-कुड के पूर्वी किनारे पर जो हंस-लताएँ लगाई थी, वे कैसी घनी हो उठी है, देखा है बाबूजी? किनारे-किनारे स्पाइडर लिली की बहार भी अब की खूब है। चाँदनी में चलेगे वहाँ घूमने?

मुझे तकलीफ होती, युगलप्रसाद के इतने शौक के उस जंगल को और कितने दिनों तक बचा पाऊँगा? पता नही, हंस-लता और जंगली हरसिंगार का मेला कहाँ गायब हो जायगा। उनकी जगह भुट्टे के पौधे सिर उठाए खड़े रहेगे, फूँस के घर, सटे-सटे छप्पर, घर के सामने खटिया, कीचड़ भरे आँगन में नाद मे मुँह गाड़े मवेशी सानी खाते रहेगे।

इतने में आया मटुकनाथ पंडित। आजकल उसकी पाठशाला में

प्रायः पन्द्रह छात्र कलाप और मुग्धबोध पढ़ रहे थे। हालत उसकी सुधर गई। इस बार फसल के दिनों मे यजमानों से गेहूँ और मकई इतनी मिली कि आँगन में उसे छोटी-सी मोटी बाँधनी पड़ी।

मटुकनाथ इस बात का जलता प्रमाण है कि अध्यवसायी की उन्नति होकर ही रहती है।

फिर वही उन्नति की बात आ पड़ी।

मगर उन्नति की बात आए बिना चारा भी क्या ? आँखों के आगे ही उदाहरण है कि मटुकनाथ ने चूँकि उन्नति की है, इसलिए आज-कल उसका आदर-सम्मान बढ़ गया है। कचहरी के जो अमले-प्यादे पगला समझकर उसे टाला करते थे, आँगन मे मोटी बाँधने के बाद से वही उसकी खातिर करते है। पाठशाला में छात्रों की सख्या भी दिन-प्रति-दिन बढ़ती जा रही है। और युगलप्रसाद या गनौरी तिवारी को कोई टके को भी नही पूछता ! नए रैयतों मे राजू पाडे ने भी अपनी शाख जमा ली है—जब देखिए, जडी-बूटी की पोटली लिए वह गृहस्थों के बाल-बच्चों की नब्ज देखता फिरता रहता है ; लेकिन राजू पांडे पैसे को नही चीन्हता, आदर पाकर गपशप से ही सन्तुष्ट हो जाता है।

[चार]

तीन-चार महीने के अन्दर-अन्दर महालिखारूप पहाड से लेकर लवटोलिया और नाढ़ा बैहार की सीमा तक रैयत बस गए। जमीन की बन्दोबस्ती होकर खेती तो पहले ही शुरू हो गई थी ; पर आबादी इतनी नहीं बढ़ी थी—इस साल दल-के-दल लोग आकर रातोंरात बस्तियाँ बसाने में लग गए।

तरह-तरह के लोग। जर्जर टट्टू की पीठ पर बिछौने, बर्तन, पीतल का घड़ा, लकड़ी का बोझा, देवता, चूल्हा तक लिए एक परिवार को आते देखा। दूसरा एक परिवार आया—भैंस की पीठ पर लदे बच्चे, बर्तन-भाँड़े, टूटी लालटेन, यहाँ तक कि चारपाई भी। किसी-किसी परिवार

की पति-पत्नी बॅहगी मे असबाब लादे, बच्चों को बिठाए बड़ी दूर से आए ।

आनेवालो मे सदाचारी मैथिल ब्राह्मण से लेकर गंगोता और दुसाध, समाज के सभी वर्ग के लोग थे । मैंने युगलप्रसाद से पूछा—"ये सारे लोग अब तक क्या बिना घर-बार ही के थे ? कहाॅ से आ रहे है इतने सारे लोग ?"

युगलप्रसाद मूड मे नही था । बोला—"इधर के लोग ही ऐसे है बाबूजी ! पता चला कि यहाॅ जमीन सस्ती मिल रही है—बस दल-के-दल लोग चले आ रहे है । अगर सहूलियत हुई तो हुई, न हुई तो डेरा-डडा समेट कर चल देगे ।"

—"अपने बपौती घर-द्वार का इन्हे मोह नही होता ?"

—"कतई नही । नए निकले चौर या जंगल बदोबस्त लेकर खेती-बारी से गुजारा करना ही इनका पेशा है । बसना आनुषंगिक बात है । जब तक उपज अच्छी होती रहेगी, मालगुजारी कम लगती रहेगी, तब तक ये रहेगे ।"

—"उसके बाद ?"

—"उसके बाद पता लगाएँगे कि नया चौर कहाॅ निकला है, या जंगल कहाॅ बन्दोबस्त हो रहा है—वही चल देगे ।"

[पाँच]

उस दिन ग्रांट साहब के बरगद के नीचे जमीन की नाप-जोख कराने गया था । अशर्फी टडेल जमीन नाप रहा था और मै घोडे पर से निगरानी कर रहा था । इतने मे देखा, रास्ते से कुता जा रही है ।

बहुत दिन से उसे देखा नही था । अशर्फी से मैने पूछा—"कुता आज कल कहाँ रहती है—देखता नही हूॅ उसे ।"

अशर्फी बोला—"आपने उसका किस्सा सुना नही है—बीच मे वह बहुत दिनों तक यहाॅ नही थी—"

—"सो क्या ?"

—"रासबिहारीसिंह उसे अपने घर ले गया था। कहा—'तुम मेरे जात-भाई की स्त्री हो, यही रहो'—"

—"फिर ?"

—"वहाँ रही कुछ दिन। शक्ल-सूरत देख रहे है उसकी—इतने दु.ख-कष्टो के बावजूद—रासबिहारीसिह ने उससे बहुत कुछ कहा, उस पर अत्याचार करने की भी कोशिश की—सो लगभग महीने भर से वह यही आ गई भाग कर। सुना, रासबिहारी ने उसे छुरा दिखाकर डराया। वह बोली—'चाहे मार ही डालो मुझे, जान दे दूँगी, मगर धरम नही दे सकती'।"

—"कहाँ रहती है ?"

—"झल्लू टोले के एक गंगोते के यहाँ पनाह ली है। गुहाल में एक छोटी-सी चलिया है, उसी में रहती है।"

—"गुजारा कैसे होता है ? उसके तो दो-तीन बाल-बच्चे भी हैं ?"

—"भीख माँगती है, खेतों के कटने पर फसल बीनती है, कटाई करती है। बड़ी अच्छी औरत है हुजूर कुता। थी तो बाईजी की बेटी, मगर भले घर की औरतों-जैसा सुभाव है—कोई बुरा काम वह कर नहीं सकती।"

नाप-जोख खत्म हो गई। इस जमीन को बलिया जिले के एक आदमी ने बन्दोबस्त में लिया था—कल से वह यहाँ अपना घर बनाएगा। ग्रांट साहब के बरगद की महिमा भी जाती रही !

महालिखारूप के पहाड़ पर खड़े पेड़ों पर धूप रंगीन हो आई। झुंड-के-झुंड सिल्ली सरस्वती-कुड की तरफ उड़ चले। साँझ होने में ज्यादा देर न थी।

एक बात मन में आई।

जो रवैया है, देखता हूँ, इस विशाल लवटोलिया और नाढ़ा बैहार में जरा भी जमीन कहीं नही रह जायगी। बाहर के अजाने लोगों ने आ-

आकर सारी जमीन ले ली ; लेकिन इसी भूमि मे जो सदा से रहे, मगर निहायत गरीब और अभागे हैं, क्या वे इसीलिए यहाँ की जमीन से वंचित रहेंगे, क्योंकि उनके पास सलामी देने को पैसे नही है ? जिन्हें मैं प्यार करता रहा हूँ, उनका इतना-सा उपकार तो जरूर ही करूँगा ।

अशर्फी से मैंने कहा—"अशर्फी, कल कुंता को तुम कचहरी मे बुला लाना ? जरूरत है । "

—"जरूर हुजूर, जब कहें । "

दूसरे दिन सबेरे नौ बजे अशर्फी उसे मेरे सामने ले आया ।

मैंने पूछा—"कैसी हो कुंता ?"

उसने दोनों हाथ बाँध कर मुझे प्रणाम किया । बोली—"अच्छी हूँ हुजूर । "

—"और तुम्हारे बच्चे ?"

—"हुजूर की दुआ से वे भी अच्छे हैं । "

—"कितना बड़ा हो गया तुम्हारा बड़ा लड़का ?"

—"आठवे साल मे पहुँचा है हुजूर । "

—"भैंस नहीं चरा सकता है ?"

—"उतने छोटे लडके को भैंस कौन चराने देगा हुजूर ?"

सचमुच ही कुंता अभी भी देखने में अच्छी थी । जीवन के दुःख कष्टों ने उसके चेहरे पर जैसी छाप छोड़ी थी—साहस और पवित्रता ने भी वैसे ही जय-चिह्न अंकित कर दिए थे ।

यह काशी की बाईजी की वही लड़की है—प्रेम-विह्वला कुंता ! प्रेम की उज्ज्वल बाती इस अभागिन के हाथो आज भी गौरव के साथ जल रही है—इसी से उसे इतना दुःख है, इतनी हीनता, इतना अपमान । कुंता ने प्रेम की मर्यादा रक्खी है ।

पूछा—"जमीन लोगी कुंता ?"

मानो वह समझ नहीं सकी कि वह जो सुन रही है, ठीक है । बोली—"जमीन हुजूर ?"

—"हाँ जमीन ? बन्दोबस्ती ।"

कुंता ने जरा देर तो कुछ सोचा । फिर बोली—"पहले तो अपनी ही जोत थी कितनी । शुरू-शुरू मे जब आई थी, देखा था मैंने । उसके बाद एक-एक करके सब-कुछ चला गया । अब क्या देकर जमीन मैं लूँगी हुजूर ?"

—"क्यो, सलामी के रुपए नही दे सकोगी ?"

—"कहाँ से दूँ ? रात को छिप-छिपाकर तो कटे खेतो से बिखरी बालें बीनती हूँ, दिन मे शायद कोई अपमान कर बैठे । एक टोकरी, आधी टोकरी उड़द लाती हूँ, वही बच्चो को खिलाती हूँ । हर रोज अपने लिए नही बचता—"

चुप होकर उसने आँखें झुका ली । दोनों आँखो से टप्-टप् आँसू बहने लगे ।

अशर्फी वहाँ से खिसक गया । जवान का कोमल कलेजा, अभी भी दूसरे का दु.ख ठीक-ठीक बर्दाश्त नही कर सकता ।

मैंने कहा—"मान लो, सलामी न लगे, तब ?"

उसने अचरज-भरी आँखो से मेरी तरफ देखा ।

अशर्फी जल्दी-जल्दी उसके पास आ पहुँचा । हाथ हिला-हिला कर बोला—"हुजूर तुम्हें यों ही जमीन देगे, यों ही । समझा ?"

अशर्फी से मैंने पूछा—"लेकिन जमीन दी भी जाय, तो वह खेती कैसे करेगी ?"

अशर्फी बोला—"वह सब हो जायगा । हुजूर—इसे हल-बैल सभी दे देंगे । इतने तो गंगोते है, घर पीछे एक-एक दिन भी हल दे देंगे, तो इसकी खेती हो जायगी । यह जिम्मा मेरा रहा हुजूर ।"

—"अच्छा अशर्फी, कितने बीघे मे कुंता का काम चल जायगा ?"

—"जब मेहरबानी करके देही रहे हैं हुजूर, तो दस बीघे तो दे दीजिए ।"

कुंता से पूछा—"तुम्हें बिना सलामी के दस बीघा जमीन अगर

दे दी जाय, तो खेती करके जमींदार की मालगुजारी तो अदा कर ही दिया करोगी ! पहले दो साल तुम्हारी मालगुजारी भी माफ रहेगी। तीसरे साल से देनी पड़ेगी।"

कुंता मानो हतबुद्धि-सी हो गई। मानो वह यही नही समझ रही हो कि हम यह ठीक कह रहे है या उससे मजाक कर रहे है।

कुछ-कुछ दिक्भ्रमित-सी होकर बोली—"जमीन। दस बीघे।" अशर्फी ने कहा—"हॉ-हाँ, हुजूर तुम्हें दस बीघा जमीन दे रहे है। दो साल की मालगुजारी माफ। तीसरे साल से देना। क्यो, राजी हो ?"

लाज-भरी ऑखों से उसने मुझे देखा। बोली—"हुजूर दयालु हैं।" बाद मे अचानक विह्वल होकर रो पड़ी।

मैंने इशारा किया। अशर्फी उसे बाहर ले गया।

सत्रहवाँ परिच्छेद

[एक]

शाम के बाद लवटोलिया की नई बस्तियाँ बड़ी अच्छी दिखाई देती। कुहरा था, इसलिए चाँदनी जरा धुँधली हो रही थी। दूर तक फैले हुए खेत, भिन्न-भिन्न बस्तियो मे दूर-दूर दो-चार जलती बत्तियाँ। अन्न के सहारे कहाँ-कहाँ से कितने लोग यहाँ पर आ गए—जंगल काट-काटकर गाँव बसाए, खेती शुरू की। सभी बस्तियों के मै नाम भी नही जानता, सब को चीन्हता भी नही। कुहरे से धुँधली हुई चाँदनी मे यहाँ-वहाँ बिखरी बस्तियाँ कैसी रहस्यमयी लग रही है। जो लोग इन बस्तियों में बसते है, उनका जीवन भी मेरे लिए इस धुँधली चाँदनी जैसा ही रहस्य-मय है। इनमें से किसी-किसी से मैंने बातें की है—जीवन के बारे में इनके दृष्टिकोण, इनके रहन-सहन के तौर-तरीके, सब मुझे अजीब-से लगते।

इनके खान-पान की ही बात ली जाय। अपने इलाके में साल में तीन फसल होती है—भादो मे मकई, पूस मे उडद और वैशाख मे गेहूँ। मकई बहुत ज्यादा नही होती, क्योंकि उसके लायक जमीन नही थी। उडद और गेहूँ खूब होते—उड़द बहुत होता, उसका आधा होता गेहूँ। सो लोगों का मुख्य खाद्य था उडद का सत्तू।

धान बिलकुल नही होता। धान के लिए जैसी जमीन होनी चाहिए, वैसी जमीन इलाके भर मे कही नही—कडारी और सरकारी खास महाल मे भी नही; लिहाजा यहाँ के लोगो को कभी-कभी ही भात नसीब होता—भात खाना यहाँ विलासिता मे गिना जाता है। खाने के शौकीन कुछ लोग गेहूँ और उडद बेच कर चावल खरीदा करते है; पर ऐसों की संख्या अँगुलियो पर ही गिनी जा सकती है।

फिर उनके मकानो की बात ले। गाँव के दस हजार बीघे के घेरे में जो अनगिन बस्तियाँ बस गई है—सब मे जो घर है, छौनी कसाल की, कसाल की टट्टियाँ, किसी-किसी ने उन पर मिट्टी पोत दी है, बहुतो ने वह भी नही पोती। बाँस इधर मिलते ही नही, इसलिए घर की खंभा-खूँटी ज्यादातर केंद और पियार की डालों की बनी है।

धर्म की तो चर्चा करना ही यहाँ फिजूल है। है तो ये हिन्दू, मगर नही जानता कि तैंतीस कोटि देवताओ के होते हुए —इन्होने हनुमानजी को ही कैसे चुन कर निकाल लिया है—जिस बस्ती को देखिए, हनुमानजी की ध्वजा जरूर है—इस ध्वजा की नियम से पूजा होती है—डडे मे सिन्दूर पोता जाता है। सीता-राम का नाम कभी-कभी ही सुनने मे आता है, उनके सेवक के गौरव ने उनके देवत्व को ढँक दिया है। विष्णु, शिव, दुर्गा, काली—इन देवी-देवताओ की पूजा का वैसा खास प्रचार नही—कुछ भी प्रचार है, इसमे भी मुझे संदेह है। कम-से-कम अपने इलाके मे तो मैंनें कभी नही देखा।

भूलता हूँ, एक शिव का भक्त मुझे जरूर मिला था। नाम है द्रोण महतो—गंगोता है। दस-बारह साल पहले किसी ने कचहरी की महावीरी ध्वजा के नीचे एक शिलाखंड लाकर रख दिया था—प्यादे समय-समय पर उसमे सेंदूर मलते है, कोई-कोई जल भी चढा देता है। लेकिन ज्यादा-तर वह अनादृत ही पडा है।

कचहरी से कुछ ही फासले पर एक नई बस्ती बनी है, द्रोण महतो ने वही अपना घर बनाया है। उम्र उसकी सत्तर से ज्यादा ही होगी, कम नहीं। पुराना आदमी है, इसीलिए नाम द्रोण है। आज का होता तो डोमन, लोधई, महाराज, ऐसा कुछ नाम होता। तब के माँ-बाप ऐसे बाबू कोटि के नाम रखने में शर्माते थे।

खैर; द्रोण एक बार कचहरी में आया। महावीरी ध्वजा के नीचे पडे उस पत्थर पर उसकी निगाह पड़ी। तब से वह बूढा रोज सुबह कलबलिया नदी मे नहाकर और वहाँ से एक लोटा पानी लाकर रोजाना

उस पत्थर पर ढाला करता। सात बार उसकी प्रदक्षिणा करके साष्टांग दडवत् करके तब अपने घर जाता।

मैंने द्रोण से एक दिन कहा भी था—"कलबलिया नदी तो एक कोस पर है। पास के कुड के पानी से भी तो काम चल सकता है—"

वह बोला—"महादेवजी बहती धार के पानी से प्रसन्न होते हैं बाबूजी! मेरा जन्म सार्थक है कि उन्हे रोज स्नान कराने का सौभाग्य मिला है।"

भक्त भी भगवान् को बनाते है। द्रोण महतो की पूजा की चर्चा लोगों मे फैली और धीरे-धीरे कुछ भक्त नर-नारियो का आना-जाना शुरू हो गया। इधर के जगलो मे एक तरह की खुशबू वाली घास होती है। उसके पत्ते या डठल को सूँघने से खुशबू आती है। घास जितनी ही सूखती है, खुशबू उतनी ही तेज होती है। न जाने किसने लाकर शिवजी के चारों तरफ वही घास लगा दी। एक दिन मटुकनाथ ने आकर मुझ से कहा—"बाबूजी, एक गगोता रोज यहाँ आकर शिवजी को जल चढ़ाया करता है। यह अच्छा है?"

मैंने कहा—"पाडेजी, उसी गगोता ने लोगों मे शिवजी का प्रचार किया है। आप भी तो यही रहे, कभी तो एक लोटा पानी ढालते आपको नही देखा मैंने।"

गुस्से से मटुकनाथ की बुद्धि चकरा गई। बोला—"असल मे वह शिवजी नही है बाबूजी। प्रतिष्ठा किए बिना ठाकुर पूजा के योग्य नही होते। यह तो महज एक पत्थर है।"

—"फिर कहते क्यो हो? कोई पत्थर पर पानी ढालता है, तो तुम्हे उज्र क्यो होता है?" तब से द्रोण महतो कचहरी के शिवजी का चार्टर्ड पुजारी बन गया।

कातिक की छठ यहाँ का बहुत बड़ा त्योहार है। टोले-टोले से हलदी से रगी साडियाँ पहनकर दल-की-दल औरते कलबलिया नदी में अर्घ्य देने जाती है। दिन-भर धूम-धाम रहती है। शाम को बस्ती के पास से

गुजरिए, तो पकवान की खुशबू मिलती है। काफी रात बीतने तक बच्चों के शोरोगुल, औरतो के गीत—जहाँ रात को नीलगायों के झुड दौडा करते थे, हायना की हँसी और बाघ की खाँसी (जानकारों को पता है कि बाघ ठीक आदमी की खाँसी जैसी आवाज करता है) सुनी जाती थी, वहाँ आज हास-मुखरित, गीत गुजित-उत्सवमय जनपद है।

छठ की साँझ को न्योते मे झल्लू-टोला गया। वही नही, कचहरी के सभी लोगों को पन्द्रह टोलो से छठ का न्योता मिला था।

पहले मै टोले के मुखिया झल्लू महतो के यहाँ गया।

देखा, उसके घर के एक ओर अभी भी थोडा-बहुत जगल है। आँगन मे उसने एक फटा शामियाना लगा रक्खा था, उसी के नीचे हमे आदर से बिठाया गया। मुहल्ले के लोग साफ-साफ धोती-मिरजई पहन कर एक तरह की घास की बनी चटाई पर बैठे थे। मैंने कहा—"खाना नही खा सकूँगा। अभी और भी बहुत जगह जाना है।"

झल्लू ने कहा—"जरा मुँह मीठा तो करना ही पडेगा। घर की औरतों का जी बडा छोटा हो जायगा। आपके चरणों की धूल पड़ेगी, इसलिए उन्होंने बडे जतन से पकवान बनाए हैं।"

अब कोई चारा न था। गोष्ठ बाबू मुहर्रिर, मै और राजू पाडे बैठ गए। सखुए के पत्ते पर आटे और गुड़ के कई ठेकुए आए—एक-एक इंच मोटे और ईट की तरह कड़े। फेक कर मारिए, तो आदमी मरे चाहे नही, जख्मी तो हो ही जाय। हर पकवान साँचे का बना था, सब पर लता-पत्रादि अंकित थे। साँचे मे बना कर तब उन्हे घी मे छाना गया था।

जिन्हे औरतों ने बड़े जतन से बनाया था, उन पकवानों का सदुपयोग मै नही कर सका। बडी-बड़ी कठिनाई से आधा खाया। न तो मीठा, न कोई स्वाद। समझ गया कि गंगोतिनें पकाना-वकाना कुछ भी नहीं जानतीं। लेकिन देखते-ही-देखते राजू पाडे चार-पाँच खा गया और शायद शरम के मारे हम लोगों के सामने वह दुबारा माँग भी नही सका।

वहाँ से लोधई टोला गया। वहाँ से पर्वत-टोला, भीमदास-टोला।

अशर्फी-टोला, लछमिनिया-टोला। हर टोले में गीत-नाच और हँसी-खुशी की धूम थी। रात-भर लोग जगेंगे। इस-उस घर मे खाते फिरेंगे और नाच-गान करते हुए ही तमाम रात कटेगी।

एक बात जानकर खुशी हुई। हर टोले की औरतो ने हम लोगों के लिए बडे जतन से पकवान पकाया। चूँकि मैनेजर बाबू आयँगे ; इसलिए बडे ही उत्साह और यत्न से सब ने अपनी-अपनी पाक-कला की कुशलता का परिचय देने की कोशिश की थी ; लेकिन मेरे लिए यह बड़े दु.ख का कारण रहा कि औरतो की सहृदयता का आभार मन मे मानते हुए भी उनकी पाक-कला की तारीफ मै नही कर सका। झल्लू-टोले से भी कही-कहीं गए-बीते पकवान मिले।

हर जगह यह देखा कि रगीन साड़ियाँ पहने ओट में खडी-खडी औरतें बड़ी ही कौतुकपूर्ण आँखों से हमें खाते हुए देखती रही। राज पाडे ने किसी का जी न दुखाया, पकवान खाने की सीमा पार करके धीरे-धीरे वह असीम की ओर बढने लगा। फल-स्वरूप मैने गिनना छोड दिया और इसलिए यह मै नही बता सकता कि उसने कितने खाए।

और राजू क्या, न्यौते पर आने वाले गंगोतो में से एक-एक ने बीस-बीस तीस-तीस वैसे ईंट-से कडे पकवानों की खबर ली। यदि अपनी आँखो से न देखें, तो सहज ही यकीन नहीं आ सकता कि आदमी इतना-इतना भी खा सकता है।

छनिया और सुरतिया के यहाँ भी गया।

मुझे देखते ही सुरतिया दौड़ी आई।

—"इतनी देर कर दी बाबूजी? माँ और मैंने मिलकर आपके लिए खास तरह से पकवान बनाए हैं और तब से राह देखती हुई यही सोच रही हूँ कि इतनी देर आखिर क्यों हो रही है। आइए, आइए!"

नकछेदी ने सबको आदर से बिठाया।

तुलसी को बड़े यत्न से आसन आदि लगाते देख कर मै मन-ही-मन हँसा। खा सकने की गुंजाइश ही अब कहाँ रह गई थी पेट में?

सुरतिया से कहा—"माँ से कहो, पकवान निकाल ले। इतना कौन खाएगा ?"

वह अचरज से मेरी तरफ देखकर बोली—"कहते क्या है बाबूजी, दो-ही चार तो है, इतना भी नही खाएँगे ? मैंने और सुरतिया ने तो पंद्रह-सोलह खाए है। आप खाएँगे, इसलिए माँ ने इसमे किशमिश मिलाया है, बाबूजी, भीमदास-टोले से बढ़िया आटा ले आए है—"

न खाने की कहकर मैंने अच्छा नही किया। साल-भर ये बच्चियाँ पकवान की शक्ल नही देख सकती। इनके लिए यह कितने कष्ट, कितनी आशाओं की चीज है। उन बच्चियो का मन रखने के लिए किसी-किसी तरह खा लिए दो।

सुरतिया को खुश करने के लिए कहा—"वाह, खूब बने है। आज कई जगह खाना पड़ा है, इसलिए ज्यादा खा नही सका। फिर कभी देखा जायगा।"

राजू पाँडे के हाथ मे एक पोटली। हर घर से उसने परोसा लिया। एक-एक ठेकुए के वजन के हिसाब से राजू की पोटली दस-बारह सेर से तो हर्गिज कम न होगी।

राजू बहुत खुश था। बोला—"यह ठेकुआ जल्दी खराब नही होता है बाबूजी !—दो-तीन दिन रसोई से छुट्टी मिल गई। यही खाकर काम चल जायगा।"

दूसरे दिन पीतल की एक थाली लिए कचहरी मे कुता आई। संकोच के साथ उसने थाली मेरे सामने रख दी। थाली कपडे के एक सफेद टुकड़े से ढँकी थी।

मैंने पूछा—"क्या है कुता ?"

—"छठ का पकवान है बाबूजी ! कल रात दो बार आ-आकर लौट गई।"

मैंने कहा—"कल बहुत रात बीते लौटा था, छठ के न्योते जो थे। अच्छा रख दो जरूर खाऊँगा।"

कपड़ा उघार कर देखा, थाली में कई तो ठेकुए थे, थोड़ी-सी चीनी थी, दो केले, एक टुकड़ा नारियल और एक नारंगी ।

मैंने कहा—"अच्छा, बहुत बढिया पकवान है यह तो ।"

कुता संकोच के साथ धीमे-धीमे बोली—"दया करके सब खाइएगा, बाबूजी ! आपके लिए बनाया है । यही दुःख रहा कि आपको गरम-गरम न खिला सकी ।"

—"कोई हर्ज नही—सब खा लूँगा मै । बहुत अच्छा है ।"

कुता प्रणाम करके चली गई ।

[दो]

एक दिन मुनेश्वरसिंह प्यादे ने आकर कहा—"हुजूर, जंगल में पेड़ के नीचे फटा हुआ कपड़ा बिछा कर एक आदमी सोया हुआ है, लोग उसे बस्ती में नही जाने देते—ढेले से मारते है । हुक्म दे, तो उसे यहाँ ले आऊँ ।

मुझे ताज्जुब हुआ । तीसरे पहर का समय, साँझ हो चली है, सर्दी ज्यादा नही है, फिर भी कातिक का महीना, रात को काफी ओस पड़ती है, भोर के समय काफी ठंढ होती है । ऐसे में एक आदमी जंगल मे पेड़ के नीचे क्यों सोया है, लोग उसे ढेले से मारते ही क्यों है—समझ नहीं सका ।

मै गया । देखा ग्रांट साहब के बरगद के पास (कोई बीस-तीस साल पहले ग्रांट साहब यहाँ नाप-जोख करने आए थे और यही तंबू डाला था—तब से बरगद का यही नाम पड़ गया) झाड़ियों में एक अर्जुन गाछ के नीचे मैला कपड़ा बिछाकर एक आदमी सोया हुआ है । अँधेरे मे ठीक से उसे देख नहीं सका, सो आवाज दी—"कौन है ? कहाँ घर है ? इधर आ जाओ—"

वह बाहर निकल आया—लगभग घुड़ककर निकला—धीरे-धीरे । पचास से ऊपर उम्र होगी, जर्जर चेहरा, मैला और फटा कपड़ा, मिरजई पहने ! झाड़ी मे से जब वह बाहर निकल रहा था, एक अजीब असहाय

भाव से शिकारी द्वारा भगाए गए पशु की तरह भयभीत निगाह से मुझे देख रहा था।

निकल आने पर देखा, उसके बाएँ हाथ और पाँव में बड़ा भारी जख्म है। इसीलिए बैठ जाने या सो रहने पर वह सहसा उठ नही सकता।

मुनेश्वरसिह बोला—"शायद घाव के कारण ही लोग इसे बस्ती मे नही घुसने देते। माँगने से पानी भी नही देते, दुरदुरा कर निकाल देते हैं।"

समझ गया कि सर्दी की रात मे उसने इस झाडी मे क्यो शरण ली है।

मैंने पूछा—"तुम्हारा नाम ? घर कहाँ है ?"

मुझे देखकर भय के मारे वह न जाने कैसा हो गया—आँखों मे रोग-कातर, भीत और बेबस दृष्टि। मेरे पीछे लाठी लिए खड़ा था मुनेश्वरसिह। उसने शायद यह समझा कि हम उसे इस झाड़ी मे से भी निकालने को आए हैं।

बोला—"मेरा नाम ? नामँ गिरधारीलाल है हुजूर, घर मेरा तिनटंगा है।" दूसरे ही क्षण एक अजीव आवाज मे—विनती, आरजू और विकार के रोगी की मिली-जुली आवाज मे बोला—"जरा पानी पीता—पानी"—

मैंने उसे पहचान लिया। उस बार पूस के मेले मे मैंने उसे ब्रह्मा महतो के तबू में देखा था—वही गिरधारीलाल। वही डरी-डरी निगाह, चेहरे में वही विनम्र भाव—

भगवान् क्या नम्र, डरपोक और गरीब को इतनी तकलीफ दिया करते है दुनिया में ? मैंने मुनेश्वरसिंह को कहा—"कचहरी से जाकर चार-पाँच आदमियों को एक चारपाई के साथ बुला लाओ।"

वह चला गया।

मैंने पूछा—"तुम्हें हुआ क्या है गिरधारीलाल ? मै तुम्हें पहचानता हूँ। तुमने मुझे नहीं पहचाना ? उस बार मेले में ब्रह्मा महतो के खेमे में भेंट हुई थी—याद नहीं है ? डरो मत—तुम्हें क्या हो गया है ?"

गिरधारीलाल जोर से रो पडा। हाथ-पॉव दिखाकर बोला—"कटकर घाव हो गया था हुजूर। बहुत उपाय किया, जिसने जो कहा, वही किया। घाव बढ़ता ही गया। अन्त मे सब ने कहा—'तुम्हे कोढ़ हो गया है।' इसी से चार-पॉच महीने से ऐसा ही कष्ट पा रहा हूँ। गॉव मे लोग घुसने नही देते। भीख पर किसी तरह गुजारा करता हूँ। रात को कही आश्रय नही मिलता—इसी से इस झाडी मे—"

—"इधर कहाँ जा रहे थे? यहाँ कैसे आए?"

इतने ही मे वह हाँफ उठा था। जरा दम लेकर बोला—"पूर्णियाँ जा रहा हूँ हुजूर—अस्पताल। नही तो घाव तो जाना नही चाहता।"

अचरज हुआ, जीने की कैसी लालसा होती है आदमी मे। जहॉ वह था, पूर्णियॉ वहॉ से चालीस मील से कम नही—सामने मोहनपुरा जैसा खतरनाक जंगल और ऐसा जख्म लेकर वह बीहड़ राह से पूर्णियाँ जा रहा है।

चारपाई आ गई। प्यादो के रहने के घर के पास उसे एक खाली कमरे मे ले जाकर उसे सुला दिया। प्यादो ने भी कोढ़ के नाम से जरा एतराज किया था। समझाने से वे समझ गए।

लगा कि गिरधारीलाल बडा भूखा है। कई दिनों से पेट भर खाना उसे नही मिला है। थोड़ा-सा गरम दूध पिलाने से वह जरा होश में आया।

साँझ को उसके कमरे में गया, तो वह बेखबर सो रहा था।

दूसरे दिन वहॉ के नामी वैद राजू पॉडे को बुलवाया। गंभीर होकर उसने बड़ी देर तक रोगी की नब्ज देखी। मैंने कहा—"देखो, तुमसे कुछ होगा भी या पूर्णियाँ भेजना पडेगा?"

राजू के अभिमान को चोट लगी। बोला—"आपके माँ-बाप के आशीर्वाद से सालो से यही काम करता आया हूँ। पन्द्रह दिन के अन्दर घाव ठीक हो जायगा।"

बाद मे मैंने समझा, उसे अस्पताल ही भेज देता, तो अच्छा था।

घाव के लिए नही, घाव का रंग तो राजू की जड़ी-बूटी से पाँच ही छै दिन में बदल गया। मुसीबत हुई सेवा की। कोई उसे छूना नहीं चाहता था। घाव मे दवा नही लगाना चाहता था, पानी पीने के बाद कोई लोटा माँजने को भी तैयार नही था।

ऊपर से हो आया उसे बुखार—जोरों का बुखार।

लाचार कुंता को बुलवाया। कहा—"बस्ती से किसी गंगोतिन को बुला दो, इसकी देख-रेख करे। पैसे मै दूँगा।"

कुंता ने बिना आगा-पीछा सोचे कहा—"मै सेवा करूँगी बाबूजी, पैसे आपको नहीं देने पडेंगे।"

कुंता राजपूत की स्त्री थी। वह गंगोता रोगी की सेवा कैसे करेगी? मैंने समझा, उसने मेरा आशय नही समझा।

बोला—"उसके जूठे बर्त्तन धोने है, खिलाना है। वह उठ तो नहीं सकता। यह सब तुम कैसे करोगी?"

कुंता बोली—"आपका हुक्म होगा, तो मै सब कुछ करूँगी। मै राज-पूत कहाँ हूँ बाबूजी, मेरी जात-बिरादरी वालों ने इतने दिनों मे मेरी खोज-पूछ भी की? आप जो भी कहेगे, मैं करूँगी। मेरी जात क्या।"

राजू की जड़ी-बूटी और कुंता की सेवा से गिरधारी महीने भर में चंगा हो गया। इसके लिए देने पर भी कुंता ने कुछ नही लिया। देखा, इस बीच गिरधारीलाल को वह बाबा कहकर पुकारने लगी है। बोली—"अहा, बाबा को कष्ट है, मै सेवा का पैसा क्या लूँगी। माथे के ऊपर धरमराज नहीं है?"

जीवन मे मैंने जो दो-एक अच्छे काम किए, उनमे से एक प्रधान काम था गिरधारीलाल को बिना सलामी लिए कुछ जमीन देकर लव-टोलिया में बसाना।

उसके झोंपड़े में एक दिन गया था।

अपने ही हाथों पाँचेक बीघा जमीन साफ करके उसने गेंहूँ बोया था। झोंपड़े के चारों तरफ जमीरी नीबू के पेड़ लगाए थे।

—"जमीरी नीबू के इतने पेडो का क्या करोगे ?"

—"हुजूर ये सरबती नीबू है। मै इसे बहुत पसन्द करता हूँ। चीनी-मिसरी नही जुटती, बूरा या गुड़ का शरबत बना कर इसी नीबू का रस मिलाने से बेहतरीन हो जाता है।"

देखा, आशा के आनन्द से उसकी दो निरीह आँखे चमक उठी।

—"अच्छी जात का है। पाव-पाव भर का एक-एक नीबू होगा। बड़े दिनों से साध थी, जमीन-जगह कभी होगी, तो सरबती नीबू के पेड़ लगाऊँगा। दूसरे के यहाँ नीबू के लिए बहुत बार अपमानित होना पड़ा है। वह दु:ख अब न रहेगा।"

अट्ठारहवाँ परिच्छेद

[एक]

यहाँ से चल देने का समय आ गया। एक बार भानुमती से मिलने की बड़ी इच्छा हुई। धनझरी शैलमाला एक सुन्दर सपने की तरह मेरे मन मे बैठ गई है....उसके वन...उसकी चाँदनी रातें ....

साथ लिया युगलप्रसाद को।

वह तहसीलदार सज्जनसिंह वाले घोड़े पर चला—अपने मौजे की हद पार होते-न-होते बोला—"हुजूर, यह घोडा नहीं चलने का। जंगल के रास्ते मे इसने रहल चाल पकडी नही कि ठोकर खाकर गिरेगा। मेरा भी पैर टूटेगा। मै दूसरा घोड़ा ले आऊँ।"

मैने भरोसा दिया। सज्जनसिंह खासा घुड़सवार है। जाने कितनी बार मुकद्दमे की पैरवी मे इसी घोडे पर वह पूर्णियाँ गया। पूर्णियाँ का रास्ता कैसा बीहड है, तुमसे छिपा नही।

हम कारो नदी पार हुए।

उसके बाद जंगल—देखने लायक, अनोखा, घना और निर्जन जंगल। यह पहले ही कह चुका हूँ, इस जंगल मे माथे के ऊपर डालों की आपसी टकराहट नही—सखुआ, केद, पलाश, महुआ और बेर के पेड़—चट्टानों वाली रंगीन भूमि—ऊबड़-खाबड। मिट्टी पर कही-कही जंगली हाथी के पैर के निशान। आदमी का नाम-निशान नही।

लवटोलिया के गंदे और घने मुहल्लों, जुते हुए खेतो से बाहर निकल कर जान-में-जान आई। ऐसे जंगल इधर और कहीं नही है।

रास्ते में पड़ने वाले बुरूडी और कुलपाल गाँव को बारह बजे से पहले ही हम पार कर गए। पतला जंगल उन्हीं के साथ पीछे छूट गया—

सामने बड़े पेडो वाला सघन वन। कातिक के आखिरी दिन, हवा मे खुनकी—गरमी नाम को भी नही।

दूर पर धनझरी की पहाड़ियाँ साफ दीखने लगी।

साँझ को बीडी-पत्ते का जगल इजारा लेने वाले की कचहरी में पहुँचा।

वह शाहाबाद का रहने वाला मुसलमान था। नाम था अब्दुल वाहिद। बड़ी आवभगत की उसने। बोला—"अच्छा ही हुआ कि साँझ होते-होते पहुँच गए। जंगल मे बाघ का बड़ा डर है।"

निस्तब्ध रात्रि।

पेडो मे हवा की सनसनाहट।

बाघ की बात सुनकर कचहरी के बरामदे में बैठने का साहस भी न हुआ।

खिड़की खोल कर कमरे में बातें करने लगा। अचानक जंगल में से किसी जंतु की आवाज आई। मैंने युगल से पूछा—"क्या है?"

युगल बोला—"जी कुछ नही, भेड़िया है।"

गहरी रात को जगल मे हायना की हँसी सुनाई पड़ी—ऐसी हँसी कि सहसा सुनकर मारे डर के छाती का लहू जम जाय, ठीक जैसे दमे के रोगी की हँसी हो—बीच-बीच में गुम, फिर हँसी।

दूसरे दिन सबेरे रवाना हुआ। नौ बजे के करीब दोबरू पन्ना की राजधानी पहुँच गया। मेरे इस अप्रत्याशित आगमन से भानुमती की खुशी का ठिकाना न रहा। हँसी होठो और आँखों में दबाए नही दब रही थी, छिटकी पड़ रही थी।

—"कल भी आपकी बात सोच रही थी मै। इतने दिनों से आए क्यों नही?"

भानुमती जरा लम्बी लग रही थी—दुबली भी; मगर मुखमंडल वैसा ही लावण्य-भरा, बनावट वैसी ही सुन्दर।

—"झरने में ही नहाएँगे न? तेल महुए का लाऊँ या सरसों का?

इस बार बरसात मे झरने मे कितना अच्छा पानी आया है, चलिए देखिए। ''

मैं एक बात और भी गौर से देख रहा था—भानुमती रहती बडी साफ-सुथरी है, इस बात मे दूसरी सथाल स्त्रियों से उसकी तुलना ही नही हो सकती। वेश-भूषा और प्रसाधन का सहज सौन्दर्य और रुचि-बोध ही उसके अभिजातवंश की लडकी होने का परिचय दे देता है।

मिट्टी के जिस घर के बरामदे मे मैं बैठा था, उसके आँगन के चारो तरफ आसान और अर्जुन के बड़े-बड़े पेड़ थे। तोतों का झुड आसान पेड़ पर कलरव कर रहा था। हेमत का आरंभ था, समय ज्यादा हो जाने पर भी हवा में नमी थी। सामने आधे मील से भी कम फासले पर धनझरी की पहाड़ियाँ, माँग की तरह उसमे से उतरती हुई पगडंडी— एक तरफ बहुत दूर पर नीले मेघ-सी दीखती हुई गया की पर्वत-पंक्तियाँ।

काश, मैं बीडी के पत्ते का जंगल खरीद कर इस शान्त जन-विरल प्रदेश की छाया-सघन उपत्यका के किसी पहाडी झरने के किनारे झोंपड़ा बनाकर रहता होता! लवटोलिया तो गया, लेकिन भानुमती के देश के इस जंगल को कोई नष्ट नही करेगा। इधर की माटी में कंकड़ और पायो-राइट ज्यादा है, फसल वैसी नहीं होती—फसल होती तो कभी-न-कभी यह भी जगल नष्ट हो जाता। हाँ, ताँबे की खान निकल पड़े, तो और बात है।.....

ताँबे के कारखाने की चिमनी, ट्राली की लाइन, कुलियों के घरों की कतार, इंजन से झड़े कोयले की राख का ढेर—दूकान, चाय की दूकान, सस्ता सिनेमा—'जवानी की हवा', 'शेर-शमशेर', 'प्यार का फंदा' (मैटिनी मे तीन आने, पहले से जगह दखल कर ले)—देशी शराब की दूकान—दरजी की दूकान। होम्यो फारमेसी (गरीब रोगियो का मुफ्त इलाज किया जाता है)। आदर्श और पवित्र हिन्दू होटल।

तीन का भोंपू बजा।

भानुमती इंजन से झड़े कोयले की टोकरी माथे पर लिए हुए बेचने चली—'लो, कोयला लो, चार पैसे टोकरी.....'

तेल लेकर भानुमती आ पहुँची। घर के सभी लोगो ने नमस्कार करके मुझे घेर लिया। भानुमती का छोटा चचा नौजवान जगरू एक डाल छीलता हुआ आया और हँस कर मेरी तरफ देखने लगा। इस जगरू को मै बहुत चाहता था। राजकुमार जैसा चेहरा, रंग का काला, मगर कैसा रूप! इस घर मे जगरू और भानुमती, इन दो को देखने से सदेह नही रह जाता कि वन्य जातियों मे ये अभिजात वश के है।

पूछा—"क्यो जगरू, शिकार का क्या हाल है?"

हँसकर उसने कहा—"आप फिक्र न करे, आज ही आपको खिला दूँगा। कहिए, क्या खाएँगे, साही, हरियल या वनमुर्गा?"

मै नहा कर आया। बाल झाड़ने के लिए भानुमती ने वही आईना (जो मैने पूर्णिया से ला दिया था) और लकडी की एक कंघी लाकर दी।

भोजन के बाद आराम कर रहा था। बेला झुक आई थी। भानुमती ने आकर कहा—"पहाड पर नही चलेगे? आप तो पहाड़ पसन्द करते है।"

युगलप्रसाद सो रहा था। उसके जग जाने के बाद हम पहाड़ के लिए निकले। साथ मे भानुमती, भानुमती की चचेरी बहन—जगरू के मँझले भाई की लड़की—बारह साल की, और युगलप्रसाद।

आध मील चलकर पहाड के पास पहुँचे।

धनझरी के नीचे जगल का दृश्य ऐसा अनोखा है कि यहाँ जरा देर तक रुककर देखने की इच्छा होती। जिधर भी देखता, उधर ही बडे-बडे पेड़, लता, कँकरीला झरने का कुड, जहाँ-तहाँ बिखरे हुए छोटे-बड़े शिलाखंड। जंगल और पहाड की ओट से आसमान कैसा शुरू हो गया है! सामने कँकरीली लाल मिट्टी की राह जंगल से होती हुई पहाड़ के ऊपर चली गई है—कैसी सूखी सख्त मिट्टी, न ओदी, न सीलवाली। झरने मे भी पानी नही।

घने जंगल को चीर कर पहाड़ पर चढते ही जाने किस चीज की मधुर गंध से मन-प्राण मत्त हो उठे, गध बड़ी परिचित-सी थी, पहले समझ नही सका, बाद मे जब चारों तरफ निगाह फैलाई, तो देखा सप्तपर्ण के फूलो से लदे पेड़ो की भरमार—खुशबू उसी की थी।

और केवल दो-चार पेड नही, सप्तपर्ण का पूरा जंगल था। और थे केलि-कदंब, कदब नही, केलि-कदब की जात ही और होती है। साग-वान के पत्तो से बड़े-बड़े पत्ते। आँकी-बाँकी खूबसूरत डालियाँ।

हेमंत के अपराह्न की शीतल बयार मे, फूलो से लदे सप्तपर्ण के वन मे खडे होकर स्वस्थ किशोरी भानुमती की ओर देखकर जी मे आया, मूर्तिमती वनदेवी के सग-लाभ से मै धन्य हो गया हूँ। वह राजकुमारी तो है ही, यह जंगल, यह पहाड, वह मिट्टी और कारो नदी की तलहटी, इधर धनझरी और उधर नवादा की पहाडियाँ—ये सारे इलाके कभी जिस राजवंश के कब्जे में थे, यह उसी राजवंश की लडकी है। वह राज-वंश आज नए युग की आब-हवा, भिन्न सभ्यता के संघात से विपन्न, गरीब और प्रभावहीन हो गया है, इसी से भानुमती को हम संथाल की लड़की-सी देखते है। उसे देखते ही भारत के इतिहास के अलिखित करुण अध्याय मेरी आँखों के आगे थिरक उठते है।

आज का यह अपराह्न मेरे जीवन के दूसरे अनेक सुन्दर अपराह्नों से जड़ित होकर स्मृतियो के समारोह मे उज्ज्वल हो उठा—सपने-जैसा ही मधुर, सपने-जैसा ही अवास्तविक।

भानुमती बोली—"और ऊपर नही जाएँगे ?"

—"फूल की कैसी मीठी महक है। जरा देर यहाँ बैठोगी नही ? सूरज डूब रहा है—देख लूँ—"

मुस्काती हुई भानुमती बोली—"आपकी जो मर्जी ! बैठने को कहते है, बैठती हूँ ; लेकिन बाबा की कब्र पर फूल नही चढाएँगे ? आपने ही तो सिखा दिया था, मै रोज यहाँ फूल चढ़ाने आती हूँ। अभी तो यहाँ फूलों की भरमार है।"

आगे भिद्दी नदी उत्तरवाहिनी होकर पहाड़ के नीचे की तरफ घूम गई है। नवादा की ओर जो पहाड़ियाँ धुँधली दीख रही थी, उन्ही के पीछे सूरज डूब गया। सूरज के डूबते ही पहाड़ी हवा और भी ठंढी हो गई। सप्तपर्ण की सुवास और भी गाढ़ी हो गई, और भी गहरी छाया उतरी वनस्थली में, नीचे की उपत्यका मे, कारो नदी के पार की पहाड़ियों पर।

भानुमती ने जूडे में एक गुच्छा फूल खोंस लिया। बोली—"बैठूँ कि यहाँ से चलेंगे बाबूजी ?"

फिर ऊपर चढने लगा। सब के हाथो मे फूलों से भरी सप्तपर्ण की एक-एक डाल। एकबारगी ऊपर चढ गया। बरगद का वही पुराना पेड, पेड के नीचे राज-समाधि। चारो तरफ बिखरे पडे शिलाखंड। भानुमती और उसकी बहन ने राजा दोबरू पन्ना की कब्र पर फूल बिखेरे, मैंने और युगलप्रसाद ने भी बिखेरे।

बच्ची तो है ही भानुमती—भोली बालिका-सी ही बेहद खुश हो गई। नन्ही नादान-जैसी ही बोली—"यहाँ जरा रुक जाऊँ बाबूजी, क्यों? अच्छा लग रहा है। है न ?"

मै सोच रहा था—बस, यही आखिरी है। यहाँ फिर कभी नहीं आऊँगा। यह समाधि, यह जगल—इन्हे फिर नही देख सकूँगा। यहाँ के सप्तपर्णों से, भानुमती से यही हमारी सदा के लिए विदाई है। छै साल का वनवास काट कर कलकत्ता जाना है, लेकिन जाने के दिन ज्यो-ज्यों समीप आ रहे है, मै इन्हें और भी कसकर क्यों पकडता जा रहा हूँ?

इच्छा हुई कि भानुमती से यह कह दूँ। देखूँ कि मेरे जाने की बात पर वह क्या कहती है ; मगर इस भोली वन-बाला को प्यार और आदर की बात कह कर होगा भी क्या ?

साँझ होते-होते एक और भी नई खुशबू मिली। आस-पास बहुत-से हरसिंगार के पेड थे। साँझ होते-होते हरसिंगार की गाढ़ी खुशबू ने साँझ की हवा को और भी मधुर कर दिया। सप्तपर्ण के पेड़ और नीचे है।

इसी बीच पेडो पर जुगनू जलने लगे। हवा कैसी तेज, मीठी, मनोरम। साँझ के समय यह हवा सेवन की जाय, तो आयु बढने मे क्या सन्देह ? उतरने को जी नही चाह रहा था, लेकिन जानवरों का भय था, फिर साथ मे थी भानुमती। युगलप्रसाद शायद इस फिक्र मे लगा था कि यहाँ से कौन-कौन-से नए पेड ले जाकर वहाँ रोपे जायें। मैंने देखा उसकी नजर और कही नही, नई लताओ, नए पौधो, फूल और अच्छे पत्तो पर गडी थी। युगलप्रसाद को पागल ही कहिए, इसी तरह का पागल।

सुनते है, फारस से चनार के पेड़ मँगवा कर नूरजहाँ ने काश्मीर मे लगवाए थे। आज नूरजहाँ तो नही रही, पर सारा काश्मीर चनार के पेड से भर गया है। युगलप्रसाद मर जायगा, मगर सरस्वती-कुड मे सौ साल के बाद भी हेमंत मे खिले हुए स्पाइडर लिली के फूल अपनी खुशबू बिखेरते रहेगे, या किसी-न-किसी झाड़ी मे वन्य हस-लता के हसनुमा फूल डोलते रहेंगे—चाहे कोई यह न भी कहे कि युगलप्रसाद ने ही उन फूलों को लाकर नाढा बैहार मे लगाया था !

भानुमती बोली—"बाएँ वह जो है, वह उसी टांडबारो का पेड है। पहचानते है ?"

मै जंगली भैसो के दयालु देवता टांडबारो के पेड को अँधेरे मे पहचान नही सका।

बड़ी दूर तक उतर आया। सप्तपर्ण के पेड आ गए। कैसी मन को नशे से भर देने वाली खुशबू !

भानुमती से कहा—"जरा बैठ लूँ।"

अंधकार-भरी वन-वीथि से उतरते-उतरते मैने सोचा—लवटोलिया, गया, नाढा और फुलकिया बैहार गया, लेकिन महालिखारूप का पहाड़ रहा, रही भानुमती की यह धनझरी पहाड़ी ! देश में शायद ऐसा भी एक समय आए, जब मनुष्यों को जंगल देखना नसीब न हो—जहाँ नजर जायगी—खेत ही खेत होंगे, जूट और कपडे की कलो की चिमनियाँ होंगी।

तब लोग इन निर्जन वन-प्रदेशो मे आएँगे—जैसे लोग तीर्थो मे जाया करते है। उन अनागत दिनो के लोगो के लिए ये सारे वन अक्षुण्ण रहे।

[दो]

रात को जगरू पन्ना और उसके दादा के मुँह से उन लोगो की बहुतेरी बाते सुनी। महाजन का कर्ज अभी तक चुकाया नही जा सका है, रुपये उधार लेकर दो भैसे खरीदनी पड़ी, बिना इसके काम नही चल रहा था ; गया का एक मारबाडी घी खरीद कर ले जाया करता था, पिछले तीन-चार महीने से उसका भी कही पता नही। आध मन के करीब घी तैयार है, कोई लेने वाला ही नही।

भानुमती आकर एक तरफ बैठ गई। युगलप्रसाद चाय का बहुत आदी है। मुझे पता था कि वह अपने साथ चाय-चीनी ले आया है। यह भी जान रहा था कि संकोच से वह गरम पानी की बात कह नही पा रहा है। मैने कहा—"भानुमती, चाय के लिए थोडा-सा पानी गरम हो सकेगा ?"

राजकुमारी भानुमती ने चाय कभी नही पी। चाय पीने का इधर रिवाज भी नही। उसे बता दिया गया। वह गरम करके पानी ले आई। उसकी बहन कुछ पत्थर के कटोरे ले आई। भानुमती से चाय पीने का आग्रह किया। उसने नही पी। जगरू ने एक कटोरा पीकर थोडी-सी और माँगी।

चाय पीकर और सब तो उठ गए, भानुमती बैठी रह गई। पूछा—"यहाँ कितने रोज डेरा रहेगा बाबूजी ? अबकी बहुत दिनो बाद आए है। कल तो हर्गिज नही जाने दूँगी। कल चलिए, आपको झाटी झरना दिखा लाऊँ। वहाँ और भी घनघोर जंगल है। जंगली हाथी बहुत है। वन-मयूर भी बहुत है। सुन्दर जगह है—दुनिया मे वैसी दूसरी जगह नहीं।

बडी इच्छा हुई यह जानने की कि भानुमती की दुनिया कितनी बडी है। पूछा—"कभी कोई शहर देखा है ?"

—"जी नही।"

—"दो-एक शहर के नाम तो बताओ।"

—"गया, मुगेर, पटना।"

—"कलकत्ता का नाम नही सुना?"

—"जी, सुना है।"

—"जानती हो, किधर है?"

—"क्या जानूँ बाबूजी।"

—"हम लोग जहाँ रहते है, उस देश का नाम जानती हो?"

—"हम गया जिले मे रहते हैं।"

—"भारतवर्ष का नाम सुना है?"

सिर हिलाकर उसने बताया—"नही सुना है। चकमकी-टोला को छोडकर गई भी नही कही। भारत किधर है?"

जरा देर बाद बोली—"बूढे बाबा एक भैंस लाए थे, वह इस बेला तीन सेर और उस बेला तीन सेर दूध देती थी। उस समय हमारी हालत इससे अच्छी थी। उस वक्त आप आए होते, तो आपको खोआ खिलाती। बाबा अपने हाथों से खोआ बनाते थे—क्या ही मीठा खोआ! अब तो उतना दूध ही नही होता, तो खोआ कहाँ हो। उस समय हम लोगो का आदर भी खूब था।

उसके बाद उसने हाथ को चारो तरफ घुमाकर गर्व के साथ कहा—"जानते है बाबूजी, इस तमाम देश मे अपना ही राज्य था! सारी दुनिया में। जंगल मे आप जो गोंड़ और संथाल देखते हैं, ये सब हमारी जात के नही है। हम है राजगोड। वे सब हमारी प्रजा है, हमे वे अपना राजा मानते हैं।"

उसकी बात पर हँसी भी आई, दुख भी हुआ। कर्ज के रहते हुए महाजन जिसकी भैंसें दोनों शाम खोल ले जाया करते है, वह भी राजवश का नाज करने से बाज नही आता।

मैने कहा—"मुझे पता है, तुम्हारा राजवंश कितना बड़ा है"—

भानुमती बोली—" उसके बाद की सुनिए, हमारी उस भैंस को बाघ ले गया, जो भैंस बूढ़े बाबा ले आए थे।"

—" सो कैसे ? "

—" बूढे बाबा चराने ले गए थे। खुद एक गाछ के नीचे बैठे थे। धर दबोचा बाघ ने।"

पूछा—" तुमने कभी बाघ देखा है ? "

अचरज के भाव मे अपनी काली भँवो को ऊपर करती हुई भानुमती ने कहा—" मैंने बाघ नही देखा ! जाडे में कभी आइए चकमकी-टोला—आँगन से बाघ गाय-बछरू पकड़ ले जाता है।"

यह कहकर उसने आवाज दी—" निछनी-निछनी, सुन तो।"

उसके आने पर बोली—" जरा बता तो दे बाबूजी को, पिछले साल जाड़े मे बाघ अपने आँगन मे क्या तमाशा करता था। जगरू ने फदा डाला था एक दिन। फँसा नही।"

फिर अचानक बोली—" अच्छा एक चिट्ठी पढ देगे ? कही से कोई चिट्ठी आई थी। पढ़े कौन ? पड़ी है। " जा तो निछनी, चिट्ठी ले आ। जगरू चाचा को भी बुलाती आना।"

निछनी को चिट्ठी न मिली। वह खुद गई। खोज-ढूँढ कर ले आई और मुझे दी।

पूछा—" कब आई है यह ? "

भानुमती बोली—" छै-सात महीने हुए होंगे आए। आपके आने की इन्तजार में रख दिया था इसे। हम तो पढना जानते नही। अरी निछनी, जगरू चाचा को बुला ला। सब को बुला ले, चिट्ठी पढ़ी जायगी।"

छै-सात महीने पहले की चिट्ठी को मै युगलप्रसाद के चूल्हे के उजाले में पढ़ने बैठा। सुनने के लिए घर-भर के लोग मुझे घेर कर बैटे। राजा दोबरू के नाम थी—कैथी अक्षरों में लिखी हुई। पटना के किसी महाजन ने राजा से पूछा था कि बीड़ी के पत्ते का जंगल इधर है या नहीं। है तो उसकी बन्दोवस्ती कैसे होती है।

चिट्ठी से इनका कोई ताल्लुक नही था—इनके अख्तियार मे बीड़ी के पत्ते का जगल ही नहीं। राजा दोबरू नाम के ही राजा थे—वह खत लिखने वाला अगर यह जानता होता कि चकमकी-टोला मे अपने घर के अतिरिक्त उसके पास गज-भर भी जमीन नही है, तो टिकट खर्च करके यह खत हर्गिज नही लिखता।

बरामदे मे उस तरफ युगलप्रसाद रसोई बना रहा था। चूल्हे की आँच से बरामदे पर थोडा-सा उजाला फैला था। और इधर थोडी दूर तक चाँदनी पडी थी, यद्यपि आज बदी तृतीया थी। जरा देर हुई कि धन-झरी पहाड की ओट मे से चाँद निकला। सामने कुछ दूर पर आधे चाँद की शक्ल की पर्वतश्रेणी.. . चकमकी-टोला के बच्चो का शोर-गुल सुनाई पड़ रहा था। यहाँ बिताई गई यह रात कितनी भली लग रही थी! बलभद्दर ने उस दिन जो उन्नति करने की बात कही थी, सो याद हो आई।

आखिर मनुष्य क्या चाहता है, उन्नति, या आनन्द? उन्नति करके होगा क्या, अगर उसमे आनन्द न हो? मै ऐसे बहुतो की बात जानता हूँ, जिन्होने जिन्दगी मे उन्नति तो की, मगर आनन्द से हाथ धो बैठे। जरूरत से ज्यादा भोग से मनोवृत्ति की धार घिस-घिस कर भोथरी हो गई—अब किसी बात मे आनन्द नही मिलता, उनका जीवन एकांगी, नीरस और अर्थहीन हो गया है। मन के अन्दर रस का प्रवेश ही नही हो पाता।

यही अगर रह पाता मै! भानुमती से ब्याह करता। इस माटी के घर मे चांदनी वाले बरामदे पर भोली वन-बाला खाना पकाती हुई ऐसी ही बच्चों की-सी बातें करती और मै बैठा-बैठा सुनता। और सुना करता काफी रात गए वन मे भेड़िए की आवाज, वन-कुक्कुट की पुकार, जंगली हाथी की चिंघाड़, हायना की हँसी। भानुमती है तो काली; पर ऐसी तन्दुरुस्त लड़की बंगाल में नही मिलती। और इसका यह तेज, सरल मन! दया है, ममता है, स्नेह है—इसके अनेक प्रमाण मै पा चुका हूँ।...

सोचते हुए भी अच्छा लगता। कितना सुन्दर सपना! उन्नति करके भी क्या होगा? उन्नति करे जाकर बलभद्दर सेंगात। रासबिहारीसिंह उन्नति करे।

युगलप्रसाद ने पूछा—"रसोई तैयार हो गई, चौका लगाऊँ?" भानुमती के यहाँ आतिथ्य मे कोई कोर-कसर नही होती। इधर खास कुछ मिलता नही, फिर भी जगरू कही से बैंगन और आलू ले आया था। उड़द की दाल, चिड़िया का मास, घर का शुद्ध घी, दूध। युगल-प्रसाद की बनाई रसोई भी खूब बनती।

आज जगरू, जगरू के दादा, निछनी—सब मेरे चौके मे खायँगे। मैंने उन्हे खाने को कहा है; इसलिए कहा है कि ऐसी रसोई उन्हें नसीब नही। मैंने कहा—"तुम लोग भी एक ही साथ बैठ जाओ एक तरफ। युगलप्रसाद को परसने में भी सहूलियत होगी। आज साथ ही खाया जाय।"

मगर वे तैयार नही हुए। जब तक हम लोग खा नही लेते, वे नही खाएँगे।

दूसरे दिन आते वक्त भानुमती गजब कर बैठी। अचानक मेरा हाथ थाम कर बोली—"आज आपको नहीं जाने दूँगी बाबूजी—"

मैं अवाक् हो उसके मुँह की ओर देखता रह गया। दुःख हुआ। उसके आग्रह से सुबह नही चल सका—दोपहर के भोजन के बाद विदा हुआ।

फिर दोनों तरफ छाया-सघन वन-वीथी। राह के किनारे कही जैसे राजकुमारी भानुमती खड़ी हो, बालिका नही, युवती भानुमती—उसे मैंने कभी नही देखा। उसकी नजर उसके प्रेमी के आगमन-पथ की ओर बिछी है।—शायद वह पहाड के उस पार शिकार को गया है—आने ही वाला है अब। मैंने मन-ही-मन तरुणी को आशीर्वाद दिया। धनझरी पहाड़ के जुगनू जले निस्तब्ध प्राचीन सप्तपर्ण के वन और अपूरब दूर-च्छन्दा साँझ की ओट मे वन-बाला का गोपन अभिसार सार्थक हो।

अपने स्थान पर लौट आया और हफ्ते भर में सब से विदाई लेकर लवटोलिया से चल दिया।

आते समय राजू पांडे, गनौरी, युगलप्रसाद, अशर्फी टडेल आदि पालकी को चारो तरफ से घेर कर लवटोलिया की सीमा पर बसी नई बस्ती, महाराज-टोला तक साथ-साथ आए। मटुकनाथ ने संस्कृत का श्लोक पढकर मुझे आशीर्वाद दिया। राजू ने कहा—"हुजूर आपके चले जाने से लवटोलिया उदास हो जायगा।"

'उदास' शब्द का व्यवहार और उसके अर्थ की व्यापकता यहाँ बहुत ज्यादा है, प्रसंगवश यह कह दूँ। मान लीजिए भुनी मकई खाने में अच्छी न लगी, तो लोग कहेंगे—भुँजा उदास लगता है। मै नही कह सकता, मेरे लिए यह 'उदास' किस अर्थ में व्यवहृत हुआ।

मैं जब विदा होने लगा, तब एक औरत रोई थी। वह सुबह से ही कचहरी के अहाते में आकर खड़ी रही—जब मेरी पालकी चलने लगी, तब मैंने देखा, वह जोरों से रो रही है। वह थी कुंता!

कुता को जमीन देकर मैंने बसाया, यह मेरे मैनेजरी जीवन का एक सत्कार्य था। एक उस मंची के लिए मै कुछ नही कर सका। न जाने कौन उस अभागिन को भगा ले गया! आज वह होती, तो मै बिना सलामी लिए उसे जमीन देता।

नाढ़ा बैहार मे नकछेदी के घर पर जो नजर पड़ी, तो उसकी बात याद हो आई। सुरतिया बाहर कुछ कर रही थी। मेरी पालकी पर नज़र पड़ते ही वह चीख उठी—"बाबूजी, बाबूजी—जरा रुकिए!"

वह पालकी के पास दौड़ी आई। पीछे-पीछे आई छनिया।

—"कहाँ जा रहे है बाबूजी?"

—"भागलपुर। तेरे बाबूजी कहाँ है?"

—"गेहूँ लाने गए है झल्लू-टोला। आप लौटेगे कब?"

—"मै अब नही लौटूँगा।"

—"हुँ., झूठी बात!"

नाढ़ा बैहार पार हो गया, तो पालकी से गर्दन निकाल कर एक बार उलट कर देखा।

बहुतेरी बस्तियाँ, लोगो की बातचीत, बच्चों की हँसी-किलकारी, चीख-पुकार, गाय-भैस, फसल के गोले। छै-सात साल मे घने जगल को काट कर यह हँसता हुआ, हरा-भरा जनपद मैंने ही बसाया है। सब कल यही कह रहे थे—"आपके काम को देख कर हम लोग भी दंग हो गए है बाबूजी, नाढा और लवटोलिया क्या था और हो क्या गया!"

मै भी यही सोचता चला—"नाढ़ा लवटोलिया क्या था और क्या हो गया!"

दिगंत में खोए हुए महालिखारूप पहाड़ और मोहनपुरा जंगल को मैंने दूर से नमस्कार किया।—

'हे वन के आदिम देवताओ, मुझे क्षमा करना। विदा!'

[तीन]

उसके बाद बहुत दिन बीत गए—पन्द्रह-सोलह साल!

बादाम के पेड के नीचे बैठकर यही सब सोच रहा था।

बेला डूब चली थी।

भूले हुए-से अतीत का जो नाढा बैहार और लवटोलिया का वन-प्रांतर मेरे ही हाथो नष्ट हुआ था, सरस्वती-कुड का वह अपूर्व जंगल, उनकी स्मृतियो के सपने-से आते और मन को उदास कर देते। साथ ही जी मे होता—कैसी है कुता, कितनी बडी हो गई सुरतिया, मटुकनाथ की पाठशाला अभी भी है कि नही, भानुमती अपने पहाड़ियो से घिरे जंगल में क्या कर रही है, राखाल बाबू की स्त्री, ध्रुवा, गिरधारीलाल—किसे पता है, इतने दिनों में कौन किस हालत मे है!

और बीच-बीच मे याद आती मंची की बात। अनुतप्ता मंची फिर अपने पति के पास लौट आई क्या, या आसाम के चाय बगान में आज भी चाय की पत्तियाँ ही तोड़ रही है!

जाने कब से इनकी कोई खोज-खबर नहीं!